योग प्रयोग अयोग

साध्वी डॉ. मुक्ति प्रभा

योग प्रयोग अयोग

योग प्रयोग अयोग

(विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध प्रबंध के आधार पर)

डॉ. साध्वी मुक्तिप्रभा

एम. ए. पी-एच. डी.

प्रकाशक

उमरावमल चोरड़िया, जयपुर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

योग प्रयोग अयोग

योग प्रयोग अयोग : **प्रकाशन वर्ष** : १९९३ वि. सं. २०५०, **प्रकाशक** : प्राकृत भारती अकादमी एवं उमरावमल चोरड़िया **अध्यक्ष** : अ. भा. श्वे. स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स (राजस्थान संभाग) १३, तख्ते शाही रोड, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर : **फोन** : ५६१९४३ : ५६३७०४ **प्राप्ति स्थान** : जैन पुस्तक मन्दिर, भारती भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर : **मुद्रण व्यवस्था** : प्रेमचन्द जैन, प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुञ्ज, आगरा-२ **लागत मात्र मूल्य** : एक सौ रुपये मात्र।

प्रेमचन्द जैन द्वारा प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,
१/११, साहित्य कुञ्ज महात्मा गाँधी मार्ग, आगरा-२ में मुद्रित

श्रुताचार्य विदुषी डा. मुक्ति प्रभाजी

अर्पण

ओ महायोगी, परम प्रयोगी, सदा अयोगी,

आदिश्वर !

योगों में विराम ! प्रयोगों के परिणाम ! अयोगों में अविराम

आपको शतकोटि प्रणाम !

प्रभु ! आप,

अयोगी हो पर योग के सिद्धिमय सेतु हो,

जन जन के अन्तःकरण के कल्याणमय केतु हो !

पूज्य हो पूजा के पुण्यमय प्रकरण हो

योग-प्रयोग-अयोग रूप अनुभूति के अवतरण हो।

प्रभु !

तेरा ही तुझको अर्पण करती हूँ।

मेरे शुभ योग-अयोग के भावों का,

तेरे पुण्यमय प्रयोगों के स्रावों का,

चरणों में समर्पण करती हूँ।

— तेरी मुक्तिप्रभा

प्रकाशकीय

योग शब्द का साधना के क्षेत्र में प्रचलित अर्थ है—साधना की विशिष्ट पद्धति जिससे आत्मा का उत्कर्ष हो और परम ध्येय की प्राप्ति हो।

जैन दर्शन में "योग" शब्द एक अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ आत्मा से कर्मों के आबद्ध होने को योग कहा है।

इस अर्थ भेद के कारण यह भ्रान्ति उत्पन्न होती रही है कि जैनों का योग से विरोध है। किन्तु वास्तव में तो जैन दर्शन एक साधना बहुल दर्शन है और उसमें योग-साधना का महत्त्व प्रत्येक बिन्दु पर है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में साध्वी श्री मुक्ति प्रभाजी ने योग-साधना से संबंधित जैन वांगमय में से यथा सम्भव सम्पूर्ण सामग्री संकलित कर उसका सैद्धान्तिक, प्रायोगिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से विश्लेषण किया है। साथ ही इसमें आधुनिक वैज्ञानिक खोज से प्राप्त सूचनाओं का भी सुन्दर समन्वय किया है।

प्राकृत भारती योग-साधना विषयक ग्रन्थों की श्रृंखला में हेम चन्द्राचार्य के योगशास्त्र के अंग्रेजी अनुवाद के पश्चात् यह महत्त्वपूर्ण शोध ग्रन्थ अपने पाठकों के समक्ष पुष्प 84 के रूप में प्रस्तुत कर रही है। आशा है पाठकों, विशेषकर साधना में रुचि रखने वाले को यह चिन्तन-मनन को प्रेरित करेगी।

साध्वी जी ने वर्ष 1981 में डॉ. बी. बी. रायनाडे के निदेर्शन में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन को शोध ग्रन्थ की प्रस्तुति की थी।

हम साध्वी श्री मुक्ति प्रभाजी के प्रति आभार प्रकट करते हैं कि उन्होंने प्रकाशन का अवसर प्राकृत भारती को प्रदान किया।

उमरावमल चोरड़िया	**म. विनय सागर**	**देवेन्द्र राज मेहता**
अध्यक्ष	निदेशक	सचिव
अ. भा. श्वे. स्था. जैन कॉन्फ्रेन्स	प्राकृत भारती अकादमी	प्राकृत भारती अकादमी
(राजस्थान)	(जयपुर)	(जयपुर)

आशीर्वचन

भारतीय संस्कृति में योग का अत्यधिक महत्त्व रहा है। अतीत काल से ही भारत से मूर्धन्य मनीषिगण योग पर चिन्तन, मनन और विश्लेषण करते रहे हैं, क्योंकि योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। मानव-जीवन में शरीर और आत्मा इन दोनों की प्रधानता है। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। पौष्टिक और पथ्यकारी पदार्थों के सेवन से तथा उचित व्यायाम आदि से शरीर पुष्ट और विकसित होता है, किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है। योग से काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकृतियाँ नष्ट होती हैं। आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत हैं वे योग से अनावृत होती हैं और आत्मा की ज्योति जगमगाने लगती है।

आत्मा-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। उसका सही अर्थ क्या है? उसकी क्या परम्परा है? उसके संबंध में चिन्तक क्या चिन्तन करते हैं? और उनका किस प्रकार योगदान रहा है? आदि प्रश्नों पर यहाँ पर विचार किया जा रहा है।

योग शब्द "युज्" धातु और "घञ्" प्रत्यय मिलने से बनता है। "युज्" धातु दो हैं, जिनमें से एक का अर्थ है–संयोजित करना, जोड़ना और दूसरी का अर्थ है मन की स्थिरता, समाधि। प्रश्न यह है कि भारतीय योग दर्शन में इन दोनों अर्थों में से किसे अपनाया गया है? उत्तर में निवेदन है कि कितने ही विज्ञों ने "योग" का जोड़ने के अर्थ में प्रयोग किया है तो कितने ही विज्ञों ने समाधि के अर्थ में। आचार्य पतंजलि ने "चित्तवृत्ति के निरोध को योग" कहा है। आचार्य हरिभद्र ने जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ संयोग होता है, उसे योग कहा है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी योग की वही परिभाषा की है। बौद्ध चिन्तकों ने योग का अर्थ समाधि किया है।

योग के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। साधना में चित्त का एकाग्र होना या स्थिरचित्त होना यह योग का बाह्य रूप है। बहंभाव, ममत्वभाव आदि मनोविकारों का न होना–योग का आभ्यन्तर रूप है। कोई प्रयत्न से चित्त को एकाग्र भी कर ले पर अहभाव और ममभाव प्रभृत्ति मनोविकारों का परित्याग नहीं करता है तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। यह केवल व्यावहारिक योग साधना है, किन्तु पारमार्थिक *या भावयोग साधना नहीं है। अहंकार और ममकार से रहित समत्वभाव की साधना* को ही गीताकार ने सच्चा योग कहा है।

वैदिक परम्परा का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य रूप से हुआ है। ऋग्वेद में योग शब्द का व्यवहार अनेक स्थलों पर हुआ है। किन्तु वहाँ पर योग का अर्थ ध्यान और समाधि नहीं है, पर योग का अर्थ जोड़ना, मिलाना और संयोग करना है। उपनिषदों में भी जो उपनिषद् बहुत ही प्राचीन हैं, उनमें भी आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरकालीन कठोपनिषद, श्वेताश्वतर उपनिषद आदि में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने योग का खासा अच्छा निरूपण किया है।

योगवासिष्ठ ने भी योग पर विस्तार से चर्चा की है। ब्रह्मसूत्र में भी योग पर खण्डन और मण्डन की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। किन्तु महर्षि पतंजलि ने योग पर जितना व्यवस्थित रूप से लिखा उतना व्यवस्थित रूप से अन्य वैदिक विद्वान नहीं लिख सके। वह बहुत ही स्पष्ट तथा सरल है, निष्पक्षभाव से लिखा हुआ है। प्रारम्भ से अन्त तक की साधना का एक साथ संकलन आकलन है। पातजल योग सूत्र की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं—

प्रथम, वह ग्रन्थ बहुत ही संक्षेप में लिखा गया है। दूसरी विशेषता, विषय की पूर्ण स्पष्टता है और तीसरी विशेषता, अनुभव की प्रधानता है। प्रस्तुत ग्रन्थ चार पाद में विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि है, द्वितीय का नाम साधन है, तृतीय का नाम विभूति है और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद में मुख्य रूप से योग का स्वरूप, उसके साधन तथा चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रिया योग, योग के अंग, उनका फल, और हेय, हेतु, हान और हानोपाय इन चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का विश्लेषण है। चतुर्थ पाद में परिणामवाद की स्थापना, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का चित्रण है।

भागवत पुराण में भी योग पर विस्तार से लिखा गया है। तांत्रिक सम्प्रदाय वालों ने भी योग को तन्त्र में स्थान दिया है। अनेक तन्त्र ग्रन्थों में योग का विश्लेषण उपलब्ध होता है। महानिर्वाणतन्त्र और षट्चक्र निष्पण में योग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मध्यकाल में तो योग पर जन-मानस का अत्यधिक आकर्षण बढ़ा जिसके फलस्वरूप योग का एक पृथक सम्प्रदाय बना जो हठयोग के नाम से विश्रुत है। जिसमें आसन, मुद्रा, प्राणायाम प्रभृति योग के बाह्य अंगों पर विशेष बल दिया गया। हठयोग, प्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्ड-संहिता, गोरक्षा-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योग तारावली, बिन्दुयोग, योग-बीज, योग-कल्पद्रुम आदि मुख्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में

आसन, बन्ध, मुद्रा षट्कर्म कुम्भक, पूरक, रेचक आदि बाह्य अंगों का विस्तार से विश्लेषण किया है। घेरण्ड संहिता में तो आसनों की संख्या अत्यधिक बढ गई है।

गीर्वाण गिरा में ही नहीं अपितु प्रान्तीय भाषाओं में भी योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। मराठी भाषा में गीता पर ज्ञानदेव रचित ज्ञानेश्वरी टीका में योग का सुन्दर वर्णन है। कबीर का बीजक ग्रन्थ योग का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

बौद्ध परम्परा में योग के लिए समाधि और ध्यान शब्द का प्रयोग मिलता है। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग को अत्यधिक महत्व दिया है। बोधित्व प्राप्त करने के पूर्व श्वासोच्छ्वास निरोध की साधना प्रारंभ की थी। किन्तु समाधि प्राप्त न होने से उसका परित्याग कर अष्टांगिक मार्ग को अपनाया। अष्टांगिक मार्ग में समाधि के ऊपर विशेष बल दिया गया है। समाधि या निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्व दिया है। तथागत बुद्ध ने कहा– "भिक्षो ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःखप्रद है। जो दुःखप्रद है वह अनात्मक है। जो अनात्मक है वह मेरा नहीं। वह मैं नहीं हूँ। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए।"

जैन आगम साहित्य में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु योग शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्परा में हुआ है, उस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ योग शब्द का प्रयोग मन, वचन, काया की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। वैदिक और बौद्ध परम्परा में जिस अर्थ को योग शब्द व्यक्त करता है, उस अर्थ को जैन परम्परा में तप और ध्यान व्यक्त करते हैं।

ध्यान का अर्थ – मन, वचन और काया के योगों को आत्म चिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में तन, मन और वचन को स्थिर करना होता है। केवल सांस लेने की छूट रहती है, सांस के अतिरिक्त सभी शारीरिक क्रियाओं को रोकना अनिवार्य है। सर्वप्रथम शरीर की विभिन्न क्रियाओं को रोका जाता है। वचन को नियन्त्रित किया जाता है, और उसके पश्चात् मन को आत्म-स्वरूप में एकाग्र किया जाता है। प्रस्तुत साधना को हम द्रव्य-साधना और भाव-साधना कह सकते हैं। तन और वचन की साधना द्रव्य साधना और मन की साधना भाव साधना है।

जैन परम्परा में हठयोग को स्थान नहीं दिया गया है और न प्राणायाम को आवश्यक माना है। हठयोग के द्वारा जो नियंत्रण किया जाता है, उससे स्थायी लाभ नहीं होता, न आत्म-शुद्धि होती है और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। स्थानांग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य में ध्यान लक्षण और उनके

प्रभेदों पर प्रकाश डाला है। आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में ध्यान पर विशद् विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में ध्यान पर चिन्तन किया है। किन्तु उनका चिन्तन आगम से पृथक नहीं है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने "ध्यानशतक" की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन ध्यान पद्धति के मर्मज्ञ ज्ञाता थे, उन्होंने ध्यान की गहराई में जाकर जो अनुभव का अमृत प्राप्त किया उसे इस ग्रन्थ में उद्धृत किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन-योग पद्धति में नूतन परिवर्तन किया, उन्होंने योग बिन्दु, योगदृष्टि – समुच्चय, योगविंशिका, योगशतक और षोडशक प्रभृति अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों में जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेषण करके ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु पातंजल योगसूत्र में वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन योग साधना की तुलना की है और उसमें रहे हुए साम्य को बताने का प्रयास किया है।

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थों की निम्न विशेषताएँ हैं :

1. कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन योग का अनधिकारी है।
2. योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है, उस पर चिन्तन किया है ?
3. योग्यता के आधार पर साधकों का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।
4. योग साधना के भेद प्रभेदों और साधन का वर्णन है।

योगबिन्दु में योग के अधिकारी के अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति से चार विभाग किए और योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पांच प्रकार बताये। योगदृष्टि समुच्चय में ओधदृष्टि और योगदृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रन्थ में योग के अधिकारियों को तीन विभागों में विभक्त किया है। प्रथम भेद में प्रारम्भिक अवस्था से विकास की अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्म मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा – ये आठ विभाग किए हैं। ये आठ विभाग पातंजल योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जन चित्त दोषपरिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणों को प्रकट करने के आधार पर किए गए हैं। योग शतक में योग के निश्चय और व्यवहार–ये दो भेद किए गए हैं। योगविशिका में

धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओं को योग कहा है और योग की स्थान, ऊर्जा, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन ये पाँच भूमिकाएँ बतायी हैं ।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं– आचार्य हेमचन्द्र जिन्होंने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया है। इस ग्रन्थ में पातंजल योग सूत्र के अष्टांग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक जीवन की आचार साधना को जैन आगम-साहित्य के प्रकाश में व्यक्त किया है । इसमें आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी वर्णन किया है और मन की विक्षुप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन इन चार दशाओं का भी वर्णन किया है जो आचार्य की अपनी मौलिक देन है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का नाम आता है। ज्ञानार्णव उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। सर्ग 29 से 42 तक में प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप और भेदों का वर्णन किया है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों पर परकाय-प्रवेश आदि के फल पर चिन्तन करने के पश्चात् प्राणायाम को मोक्ष रूप साध्यसिद्धि के लिए अनावश्यक और अनर्थकारी बताया है।

उसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजय जी का नाम आता है, वे सत्योपासक थे। उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार बत्तीसी, पातंजल योग सूत्र वृत्ति, योगविंशिकाटीका, योग दृष्टिनी सज्झाय आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । अध्यात्मसार ग्रंथ के योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में गीता और पातंजल योगसूत्र का उपयोग करके भी जैन परम्परा में विश्रुत ध्यान के अवविध भेदों का समन्वयात्मक वर्णन किया है । अध्यात्मोपनिषद् में शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के संबंध में चिन्तन करते हुए योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के महत्वपूर्ण उद्धरण देकर जैनदर्शन के साथ तुलना की है । योगावतार बत्तीसी में पातंजल योग सूत्र में जो योग-साधना का वर्णन है, उसका जैन दृष्टि से विवेचन किया है और हरिभद्र के योग विंशिका और षोडशक पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर उसके रहस्यों को उद्घाटित किया है, जैनदर्शन की दृष्टि से पातंजल योगसूत्र पर भी एक लघुवृत्ति लिखी है । इस तरह यशोविजयजी के ग्रन्थों में मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता व समन्वयक दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है ।

परम विदुषी साध्वीरत्न महासती श्री मुक्ति प्रभाजी म. का "शोध प्रबन्ध" योग– प्रयोग – अयोग मेरे सामने है। प्रस्तुत ग्रंथ रत्न उन्होंने पी एच. डी. उपाधि के लिए *तैयार किया है। इस में शोधार्थी महासती जी की प्रबल प्रतिभा के संदर्शन होते हैं।* उन्होंने प्रमाणपुरस्सर सभी पहलुओं पर विस्तार से चिन्तन किया है। उनका प्रस्तुत

चिन्तन आगम और आगमेत्तर साहित्य पर अवलम्बित है, तो साथ ही आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में भी उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ में जो चिन्तन का नवनीत प्रस्तुत किया है, वह प्रबुद्ध पाठकों के लिए बहुत ही उपयोगी है। महासतीजी ने अनेक प्रमाणों एवं प्रयोगों के आधार पर आध्यात्मिक ऊर्जा के रूप में योग का विशद प्रतिपादन किया है। वहीं पर शरीर-विज्ञान की दृष्टि से योग के प्रयोगों पर विज्ञान सम्मत तथा अनुभव गम्य विवेचन भी प्रस्तुत किया है। योग से शरीर में रासायनिक परिवर्तन एवं लेश्या आदि भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण महासती जी की गहरी अनुसंधान दृष्टि का परिचय देता है।

मनोयोग के विविध पहलुओं पर सूक्ष्म चिन्तन करते हुए तनाव मुक्ति के प्रासंगिक विषय पर महासती जी के अनुभूत प्रयोग तथा तनाव रहित स्थिति की प्राप्ति का सुन्दर स्वरूप भी प्रतिपादित किया है।

मुझे विश्वास है कि महासती जी का यह चिन्तन, चिन्तन के लिए ही नहीं है अपितु जीवन के लिए भी ग्राह्य है। हमें किस प्रकार मन, वचन, काया के योगों का निरुधन करना चाहिए और किस प्रकार साधना के पथ पर सुदृढ़ कदम बढ़ाने चाहिए इसका सुन्दर विश्लेषण हुआ है।

हमें सात्विक गौरव है कि हमारे संघ में ऐसी परम् विदुषी साध्वी, जिनका तलस्पर्शी आगमो का अध्ययन है और साथ ही अन्य धर्मदर्शनों एवं आधुनिक मनोविज्ञान का भी अध्ययन है, और जिन्होंने अध्ययन के बल पर ही नहीं अपितु अनुभूति के बल पर प्रस्तुत ग्रंथ का लेखन किया है। आधुनिक भौतिकवाद के युग में मानव इधर-उधर भटक रहा है, भौतिकवाद की चकाचौंध में वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो चुका है, ऐसी विकट वेला में प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाश-स्तम्भ की तरह उपयोगी सिद्ध होगा ? यह ग्रंथ भारती भण्डार में श्री की अभिवृद्धि करेगा। इसी मंगल मनीषा के साथ हार्दिक आशीर्वाद।

— आचार्य देवेन्द्र मुनि

शान्ति सदन (जैन स्थानक)
भीलवाड़ा।

प्रस्तुति

सक्रियता से निष्क्रियता, गतिशीलता से स्थिरता, अनित्यता से नित्यता और योग से अयोग की भेद रेखा है प्रयोग। जीवन से सम्बन्धित कोई भी घटना में घटित हो जाना पर्याप्त नहीं है किन्तु घटित घटना से जुड़ जाने पर पृथक् कैसे होना महत्त्व रखता है। घटित घटना से जुड़ जाना योग है और घटना से पृथक् हो जाना अयोग है किन्तु रूपान्तरण का माध्यम है प्रयोग।

योग

शरीर, मन और वाणी का परस्पर समन्वय परमाणुओं की एक अद्‌भुत संरचना है। दृश्यमान शरीर स्थूल है। स्थूल शरीर से वाणी सूक्ष्म है और वाणी से मन सूक्ष्म है।

प्रयोग

जड़-चैतन्य का अभेदिकरण भेदविज्ञान प्रयोग से होता है जैसे—दूध में घी विद्यमान है। किन्तु जैसे दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी का प्रयोगात्मक रूप से निर्माण होता है वैसे ही शरीर में आत्मा विद्यमान है ; प्रयोगात्मक रूप से ही दोनों का पृथक्करण होता है।

अयोग

पृथक्करण दो स्वरूप में विद्यमान है—अनुभूति और प्राप्ति। देह होने पर भी देहातीत दशा अनुभूतिपरक है और देहातीत सिद्धावस्था प्राप्तिपरक है।

इस प्रकार योग सर्व सामान्य किसी भी दृष्टि विशेष का माध्यम या परिचायक नहीं है किन्तु रूपांतरण की प्रयोगात्मक प्रक्रिया है। जिस साधक ने योग को प्रयोग की कसौटी पर कसा है उसके लिए योग अयोग की प्राप्ति का परम उपाय, मुक्ति की उपलब्धि का महत्त्वपूर्ण साधन और आत्मा से परमात्मा बनने का अपूर्व आनन्द रूप धाम है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के मुख्य दो उद्देश्य हैं—प्रथम आगम और साहित्य का अध्ययन कर निज अनुभूति से उसका अनुसंधान पाना तथा उपलब्ध अनुशीलन से योग विधि का प्रयोग दर्शाना।

द्वितीय उद्देश्य है—वर्तमान युग में प्रचलित भ्रम का निवारण कि जैनों के पास योग नहीं है। किन्तु जैन साहित्य के विशाल वाङ्मय में दृष्टिपात करते ही वर्तमानकालीन इस प्रचलित मान्यता की अछूती भूमि का स्पर्श होता है कि आगम साहित्य से लेकर अठारहवीं शताब्दि तक के समग्र जैन साहित्य में विविध योग साधना का स्वरूप उपलब्ध है। हाँ, इतना अवश्य है कि जैनों की योगविधि अत्यधिक गूढ़, रहस्यात्मक और मार्मिक रही है। साथ-साथ गुरु गर्भित होने से अनेक प्रक्रियाओं का अभाव हो गया है। तथापि जड़-चैतन्य का विवेक, ज्ञान, ध्यान, संयम और समाधि से प्राप्त चित्त की एकाग्रता, एकाग्रता से वृत्तिओं का निरोध और मन, वचन, काया के परिवर्तन का प्रायोगिक विश्लेषण प्राप्त होता है।

साहित्य सम्बन्धी योग विषयक में तात्त्विक और अतात्त्विक उपाय, ज्ञान-दर्शन और चारित्र का सम्यक बोध और अधिकार प्रक्रियात्मक रूप से पाया जाता है। अनेक साहित्यों में ग्रन्थिभेद की गूढ़ात्मकता स्पष्ट नज़र आती है जिससे साधक यौगिक रूपान्तरण करने में समर्थ हो सकता है। इतिहास साक्षी है कि योग अनादि है तथापि मानवीय धरातल पर अवतरित योगियों का जन्म जहाँ से प्राप्त होता है वहाँ से योग का प्रारम्भ मान लो तो जैन दर्शन में योग ऋषभदेव भगवान् से माना गया है। भगवान् ऋषभदेव जैन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर हैं। कालगणना के अनुसार वे असंख्य वर्ष पूर्व थे। अतः जैन दर्शन के अनुसार वे आद्ययोगी हैं और उन्हीं से परम्परागत योग मार्ग का प्रवर्तन हुआ है।

जैनों के अंतिम तीर्थंकर परमात्मा महावीर के तत्त्वावधान में योग प्रक्रिया को दर्शाने का माध्यम आचाराग सूत्र आदि आगम में प्राप्त होता है। जैसे—स्वयं परमात्मा का ध्यान तत्सम्बन्धी विविध आसन, आहार, निद्रा आदि प्रयोगों के दिग्दर्शन के लिए आचारांग प्रमाण है।

आचारांग सूत्र की भांति सूत्रकृतांग, स्थानांग, भगवती सूत्र आदि में भी प्रकीर्णक रूप में भावना, आसन, ध्यान, व्रत, नियम, संवर-समाधि आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। उत्तराध्यन सूत्र के २८वें अध्ययन में मुक्तिमार्ग का संक्षिप्त किन्तु सुव्यवस्थित शोधन प्रक्रिया का प्रतिपादन किया गया है। इसी सूत्र के २९, ३० एवं ३२वें अध्याय में इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, मन-स्थिरता और मन-सम्बन्धी विविधताओं के परिणाम आदि का विशिष्ट स्वरूप नियोजित है।

आगम साहित्य के अतिरिक्त निर्युक्ति साहित्य में भी साधना की प्रक्रियाओं के विपुल स्वरूप का दर्शन होता है। आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन में भी यौगिक प्रक्रियाओं का सुनियोजित रूप और आत्म-दर्शन का विशिष्ट सुप्रयोग वर्णित

है। निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी का रचना काल विक्रम की चौथी पांचवीं शताब्दी माना जाता है। इन्हीं भद्रबाहुस्वामी ने बारह वर्षीय महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जैन इतिहास में ऐसे अनेक साधकों की "सर्वसंवरयोगसाधना" नामक साधकों का उल्लेख भी प्राप्त होता है।

सूत्रकृतांग निर्युक्ति में समाधि का निरूपण, स्थानांगवृत्ति में ध्यान सम्बन्धी विवेचन, बृहत्कल्पनिर्युक्ति, वृहत्कल्पभाष्य, व्यवहार निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, आदि में श्रमण- श्रमणियों का योग प्रक्रियात्मक आचार प्रणाली का विस्तृत विवरण मिलता है। इन आगमों में वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पांच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि जो योग के मुख्य अंग हैं, उनको श्रमण-साधना का प्राण माना है।

द्वितीय विभाग में यौगिक उपलब्धि से वीर्य, लेश्या, बन्ध, ब्रह्मचर्य और वृत्तियों का निरोध क्रम रूप उपाय की अनुभूति का आनन्द प्रस्तुत किया गया है।

जैन दर्शन के आद्य साहित्य योगी कुंदकुंदाचार्य (विक्रम की प्रथम शताब्दी) रचित अष्ट पाहुड़, नियमसार, समयसार, प्रवचनसार इत्यादि ग्रन्थों में पारिमार्जित स्वरूप में योग प्रक्रियाओं का तात्त्विक बोध प्राप्त होता है। वीर्य, लेश्या, बन्ध आदि का मार्गदर्शन कराने वाला तात्त्विक, साहित्यिक और सैद्धान्तिक योग प्रक्रियाओं का **श्रेय तत्त्वार्थ सूत्र का निर्माता उमास्वाति [वि. सं. २-३ शताब्दी]** को मिला। तत्त्वार्थ सूत्र **पर टीका, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक आदि का निर्माण हुआ है जिसमें योग का विषय पर्याप्त मात्रा में परिलक्षित होता है।**

इस द्वितीय विभाग में अष्टांग योग का जो प्रतिपादन हुआ है वह जैन पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती सभी साहित्यों से वेष्टित है। क्योंकि पांच महाव्रत—यम, ३२ (बत्तीस) योग संग्रह—नियम, कायाक्लेश—आसन, भाव प्राणायाम्-प्राणायाम, प्रतिसंलीनता-प्रत्याहार, धारणा, ध्यान कायोत्सर्ग-समाधि स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं।

तृतीय विभाग में योग के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। साधना की फल-श्रुति सम्यक्ज्ञान है, बीज फलित होने के लिए उपयुक्त भूमि आवश्यक है, वैसे ही सद्प्रवृत्ति को फलित होने के लिए सम्यक्ज्ञान की आवश्यकता अनिवार्य है। संवर योग ही उर्वराभूमि है, कर्म-आवरणों से मुक्त होने के लिए शुद्धोपयोग के बीज वपन करने होंगे।

भक्ति में शक्ति है समर्पण के भाव पैदा करने की और कर्मों के बन्धनों को तोड़ने की फलतः कर्मयोग से साधक योगी हो सकता है और बन्धनों से मुक्त होकर अयोगी भी हो सकता है।

साधु जीवन आचार संहिता का प्राण है। अतः आज्ञायोग में प्रायश्चित और पश्चात्ताप आदि रूप में पाप वृत्तियों के ह्रास हेतु आदेश निर्देश आदि विशुद्ध अनुष्ठानों का निर्देश प्राप्त होता है।

भाव आवश्यक में स्थित योगी व्यवहार से परे होकर अध्यात्म में लीन रहता है। अध्यात्म योगी धारणा ध्यान और कायोत्सर्ग जो आवश्यक योग है, उसी में संलग्न रहता है। फलतः साधक समभाव में स्थिर, वीतराग भाव में लीन होता हुआ गुरुवर्यों के वंदन आदि प्रवृत्ति में प्रवर्तमान होता है। दोषों की आलोचना करके ममत्व से मुक्त और आहारादि की आसक्ति से अनासक्त हो जाता है।

इस प्रबन्ध के चतुर्थ विभाग में योग का विकास क्रम और पंचम विभाग में योग के भेद-प्रभेद की समस्या और समाधान दिया गया है। विक्रम की चौथी, पांचवीं शताब्दी में विरचित पूज्यपाद स्वामी ने आत्मा का विलासक्रम विशेष रूप से दर्शाया है। छठी शताब्दी के जिनभद्रगणी के ध्यान शतक में ध्यान एकाग्रता से होने वाले लाभ और हानि का स्वतन्त्र चिन्तन परिलक्षित होता है।

विक्रम की आठवीं शताब्दी से जैन योग में हृदयस्पर्शी, मार्मिक, तात्त्विक तथा क्रान्तिकारी साहित्य का जन्म हुआ। उन साहित्यों के सर्जन में सर्वोपरि स्थान है हरिभद्रसूरि का। उन्होंने आगमिक परम्परा की वर्णन शैली में काल के प्रभावानुसार एवं लोकरुचि के अनुरूप अपने साहित्य में एक नया मोड़ लिया। उन्होंने नूतन परिभाषाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके जैन योग साहित्य में अभिनव युग का निर्माण किया। उनकी शतमुखी प्रतिभा का स्रोत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ और पंचम विभाग में प्रवहमान हुआ है।

आचार्यश्री के योगविषयक ग्रंथों में योग बिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगशतक, योगविंशिका और षोडशक आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। आचार्यश्री ने परम्परागत जो आध्यात्मिक विकास क्रम है उसी का योग रूप में वर्णन किया है, पर उसमें उन्होंने जो शैली रखी है वह अभी तक उपलब्ध योगविषयक साहित्य में किसी भी ग्रन्थ में परिलक्षित नहीं होती है। उनके ग्रंथों में अनेक स्थान पर अनेक[१] दर्शनों के योगियों का नाम निर्देश पाया जाता है तथा अनेक[२] अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख पाया जाता है।

---

१. गोपेन्द्र–योगबिन्दु श्लोक २००
कालातीत–योगबिन्दु श्लोक ३००

२. पंतजली, भदन्तभास्कर, बन्धु भगवदन्तवादी–योगदृष्टिसमुच्चय–श्लोक १ टीका

जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है – अध्यात्म योग। अध्यात्म योग की अवधि जैसे-जैसे विशुद्ध होती जाती है, भावना योग भावित होता जाता है, भावना जब अनुभव और साक्षात्कार का रूप धारण करती है तो ध्यानयोग का प्रारम्भ हो जाता है।

ध्यानयोग की जागृति समत्वयोग और वृत्ति संक्षययोग को सफल करने में समर्थ है।

महापुराण में योग का विश्लेषण अनेक स्थान पर पाया जाता है जिसका श्रेय नवीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन को मिला है।

ग्यारहवीं शताब्दी में तत्वानुशासन जैसे महान योग और ध्यान सम्बन्धी ग्रंथ का निर्माण करने वाले आचार्य रामसेन हुए हैं। उन्होंने ध्यान द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग सिद्ध किया है। इसी समय के शुभचन्द्राचार्य ने ज्ञानार्णव में योगमार्ग का निरूपण किया है, इस ग्रन्थ में काल का प्रभाव स्थान-स्थान पर दृश्यमान होता है जैसे जैन-योग को अष्टांग योग, हठयोग, तन्त्रयोग आदि से समानता कहाँ और कैसे है, सिद्ध किया है। आगम रूप धर्मध्यान को पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार आयाम में वर्गीकृत करके दर्शाया है। इस वर्गीकरण पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव अधिक रहा हो ऐसा परिलक्षित होता है।

इसी ग्यारहवीं शताब्दी में सोमदेव सूरीकृत योगसार ग्रंथ की महान उपलब्धि जैन शासन को प्राप्त हुई है। यशस्तिलक चम्पू के अनेक कल्पों में योगविषयक चर्चा प्राप्त होती है। अतः ग्यारहवीं शताब्दी में ध्यान से पूर्व धारणा पद्धति का स्वरूप किस रूप से सिद्ध किया जा सकता है, इस विषय का प्रतिपादन किया है।

योग विषय ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र का स्थान हरिभद्रसूरी की तरह सर्वत्र प्रसिद्ध है। बारहवीं शताब्दी में उन्होंने योगशास्त्र ग्रंथ का निर्माण करके जैन दर्शन में योग को सम्पूर्ण साधना पद्धति में प्रयोगात्मक किया है अतः योग का मार्ग योगशास्त्र से विविध रूप में प्राप्त हो सकता है। हेमचन्द्राचार्य स्वयं महान योगी थे वे घंटों तक कुंभक में प्रवचन देते थे। कुछ ही मिनट में ग्रन्थों का निर्माण करते थे ; ये ध्यान का प्रभाव है।

चक्रस्थान पर कमल, मातृका और मन्त्र का ध्यान इनका प्रमुख विषय रहा है।

तेरहवीं शताब्दी में अध्यात्मयोगी पं. आशाधर ने अध्यात्म रहस्य ग्रंथ की रचना की है। इसमें ग्रन्थकार ने आध्यात्मिक रहस्यों का सुव्यवस्थित रूप से उद्घाटन किया है।

मुनि सुन्दरसूरी कृत अध्यात्म कल्पद्रुम पन्द्रहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है जिसमें आत्मा सम्बन्धी व्यावहारिक और आचरणीय अनेक अनुष्ठान का दिग्दर्शन कराया है।

अठारहवीं शताब्दी में विनयविजयजी ने और उपाध्याय यशोविजयजी ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की है। उन्होंने योगविषयक अनेक ग्रन्थों की रचना करके योग मार्ग का विविध रूपता से पथ प्रदर्शित किया है।

अध्यात्म उपनिषद् ग्रन्थ में आपने शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के सम्बन्ध में बहुमुखी चर्चा, वार्ता, विचारणा प्रस्तुत करके जैन दर्शन का तात्त्विक योग प्रतिपादित किया है।

योगावतार बत्तीसी में आपने मुख्यतया पातञ्जल योग सूत्र में वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी ने हरिभद्रसूरी जी कृत योगविंशिका एवं षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उसमें अन्तर्निहित गूढ़तत्त्वों का उद्घाटन किया है। उन्होंने पातञ्जल योगसूत्र पर जैन सिद्धान्त के अनुसार जो कलम उठाई है वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। वृत्ति अल्पकाय होने पर भी उसमें उन्होंने अनेक स्थानों पर सांख्य विचारधारा का जैन विचारधारा के साथ साम्य भी दर्शाया है और अनेक स्थानों पर युक्ति एवं तर्क के साथ प्रतिपादन भी किया है।

शारीरिक समस्याएँ, मानसिक तनाव और वैचारिक भिन्नता के युग में यौगिक अनुभव प्राप्त करना विशेष आवश्यक है। तनावग्रस्त मानव सुख, शान्ति और आनन्द की उपलब्धि तो चाहता है किन्तु ज्ञानवत् आचरण का अभाव होने से मंजिल से पतित होना स्वाभाविक है। प्राकृतिक और अर्जित शक्ति को उजागर करने के लिए योग का अनुभव साधक के लिए स्थायी उपाय है। ऐसा सोचकर योग विषयक ग्रंथों का गहराई से परिशीलन किया और जैन योग के जिज्ञासु समस्त साधना पद्धति का सहज ही ज्ञान प्राप्त करें इसी हेतु से शोध प्रबन्ध का निर्माण हुआ।

गुरुकृपा और दृढ़ श्रद्धा से क्या नहीं हो सकता है ? इसी भावना से मैंने शोध प्रबन्ध का कार्य सन् १९७५ में प्रारम्भ किया। गंभीर विषय, साध्वी जीवन, ग्रंथों का अभाव, पुस्तकालयों में पैदल जाना इत्यादि अनेक कठिनाइयों के उपरांत भी यह प्रबन्ध पूर्ण हो सका यह निश्चय ही गुरुकृपा का प्रतिफल है।

योग याने जुड़ जाना मेरी चेतना भी जुड़ गई राष्ट्र संत, जैन जगत के भूषण १००८ आचार्य प्रवर आनन्द ऋषि जी म.सा. की पुण्यमयी प्रेरणा से। जन-जन के हृदयेश्वर ! राजयोगी की अन्तःकरणपूर्वक भावना ने मुझे परम योगी आदिनाथ के साथ जोड़कर अयोग के अनुशीलन के प्रति आकर्षित किया। आज आत्म-आनन्द

शताब्दी वर्ष में प्रेरणा को साकार रूप मिले यह भी आचार्यप्रवर के अनुग्रह की साक्षात् परिणति है ।

मेरे अचेतन मन के रहस्यों को अनावृत्त कर नये सन्दर्भों को सदा प्रस्तुत करने वाले मेरे गुरुयुगल आत्मार्थी श्री मोहन ऋषि जी म. सा. प्रवर्तक श्री विनय ऋषि जी म स. , परम वत्सला मातृस्वरूपा गुरुमाता शासन चन्द्रिका श्री उज्ज्वल कुमारी जी म. स. को प्रणाम करती हूँ। साथ ही रत्नों में एक रत्नसम पू. माणिक कुंवर जी म. स. तथा प्रज्ञाशील प्रभाकुंवर जी म.स. के चरणों में भाव-पुष्प अर्पण करती हूँ जो इस परिणति के मूल स्रोत रहे हैं। इन विभूतियों द्वारा मेरी अनुभूति को अभिव्यक्ति मिली। निराकार चेतना में योग साकार हुआ, योग का प्रयोग से अनुबन्ध हुआ, अयोग के अनुशीलन का सम्बन्ध हुआ ।

मेरे धन्यवाद के पात्र सदा सर्वदा सहयोगिनी साध्वीरत्ना श्री दिव्यप्रभा जी एवं अनुपमा जी, तथा बोम्बे कांदावाडी, कांदीवली आदि श्री संघ गीरीशभाई, किशोरभाई कोठारी, प्रताप भाई मेहता आदि की सहृदय आभारी हूँ।

साधना ही जिनका जीवन था ऐसे विरक्त साधक संसारी पिता चन्दुलाल भाई और माता सुशीलादेवी की ज्योति से मेरी साधना की ज्योति प्रज्ज्वलित हुई और मेरा साधना पंथ प्रशस्त बना ।

शोध प्रबन्ध की सम्पन्नता (१९८१) में पूर्ण हो चुकी थी किन्तु अनुयोग प्रवर्तक मुनिश्री कन्हैयालाल जी "कमल" का अनुयोग का महाशोध कार्य प्रारम्भ होने से अनेक संघों का—व्यक्तियों का और विद्वदगणों का अति आग्रह होने पर भी प्रकाशन हेतु मैं विरक्त रही। किन्तु फिर भी युग की मांग ने आज पुनः प्रकाशन हेतु कदम उठाया अतः मैं रोक ना पाई। "जैन दर्शन में योगः एक समालोचनात्मक अध्ययन" नामक मेरा शोध प्रबन्ध ७३९ पृ. का महाविस्तृत रूप होने से उसे "योग प्रयोग अयोग" नामक २५७ पृ. में समाविष्ठ करने का मैंने साहस किया है। हो सके इतना विषय को न्याय दिया है तदपि ----परमात्मा की कृपा से प्रस्तुत ग्रंथ में किसी भी प्रकार की त्रुटि रही हो तो श्रुतदेव से क्षमा चाहती हूँ।

आज याद भरी प्रीत में विश्राम के धाम को प्रणाम कर कलम को विराम देती हूँ और मंगल कामना करती हूँ कि परमयोगी आदिश्वर की अयोग साधना, आचार्य की प्रयोग प्रेरणा और परम गुरुवरों की योग चेतना रूप पुण्यबल आप सभी के अयोग मार्ग का विमोचन एवं संयोजन करे ।

– साध्वी मुक्तिप्रभा

साध्वी मुक्तिप्रभा के पी-एच. डी. शोध प्रबन्ध का परीक्षक प्रतिवेदन

जैन परम्परा में योग [जैन दर्शन में योग : एक समालोचनात्मक अध्ययन] पर साध्वी मुक्तिप्रभा द्वारा लिखित वस्तुतः उत्कृष्ट शोधप्रबन्ध के अवलोकन से मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई है। यह कृति प्रायः संस्कृत; प्राकृत भाषाओं और मूल-ग्रन्थों से परवर्ती काल के जनभाषामय जैन साहित्य में प्राप्त जैन योग के प्रामाणिक मूलग्रन्थों पर आधारित है। योग के अभ्यास और सिद्धान्त की व्यवस्थित व्याख्या के रूप में प्रस्तुत शोधकृति एक अत्यधिक साहसिक कार्य और अद्भुत परिश्रम की परिणति है, जिसको अप्रकम्प्य आस्था और पूर्ण समर्पित भावना के साथ लेखिका ने सम्पन्न किया है। इस बृहदाकार ग्रन्थ के पृष्ठ आध्यात्मिकता की सुगन्ध से ओतप्रोत हैं। यह कृति प्रतिपद स्वयं की दृष्टि और योग्य शोध निर्देशक डॉ. रायनाडे के अनुसार निष्पादित साध्वी मुक्तिप्रभा के गहन अध्यात्मपरिष्कृत चिन्तन को अभिव्यक्त करती है। दार्शनिक लेखन के रूप में विचारणीय यह कृति अत्यधिक उच्च कोटि की है और प्रकाशित होने पर यह कृति प्रत्येक दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थालय में आदरणीय स्थान के योग्य होगी। मैं इस शोधकृति से इतना अधिक प्रभावित हुआ हूँ कि इसके अंग्रेजी में अनुवाद तथा हिन्दी और अंग्रेजी दोनों रूपों में प्रकाशन अतिशीघ्र करने हेतु अनुशंसा करता हूँ। भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के क्षेत्र में यह महान् अवदान है और केवल भारत में ही नहीं, पश्चिम में भी प्रख्यापन के योग्य है। दुर्बोध विषय की ऐसी निर्व्याज, यथार्थ और वैदुष्यमय व्याख्या विरल ही प्राप्त होती है।

अवबोध की गहनता के अभाव से रहित यह शोधकृति विवरणों की दृष्टि से व्यापक है। जैन योग के गुह्य सिद्धान्तों और रहस्यमय अभ्यासानुभव में दीक्षित हुए बिना कोई व्यक्ति ऐसे अद्भुत प्रबन्ध का प्रणयन नहीं कर सकता। वैदिक परम्परा के योग के साथ तुलनाएँ अत्यधिक उचित और उपकारक हैं। वे दोनों परम्पराओं में योग के उन्मुक्त मानस से किये गये ग्रहण से अवच्छिन्न हैं। साध्वी मुक्तिप्रभा ने अपनी विचारधारा को कहीं भी जैन योगानुशासन के धार्मिक रूढ़ि से उत्प्रेरित मूल्यांकन में प्रवाहित होने नहीं दिया है। उन्होंने भारतीय योग को अधिक आयत फलक पर चित्रित करते हुए उसकी परिधि का बृंहण किया है। यह शोधकृति इस आशय से एक मौलिक ग्रन्थ है कि उनके द्वारा अधीन और परामृष्ट वाङ्मय के बारे में प्रस्तुत व्याख्या जैनयोग के मूल्यांकन के लिये प्रत्यग्र दृष्टिकोण को उद्घाटित करती है। अध्येय विषय का उनके द्वारा किया गया मूल्यांकन आलोचनात्मक है। उनकी विश्लेषणशक्ति

सुतीक्ष्ण है और निर्णय का आशय परिपुष्ट। उनकी शोधकृति पाठक में उत्पन्न करती है एक अभिनव अवधान - वह अवधान जो जैन रहस्यवादी और दिव्य पुरुषों की युगयुगीन समृद्ध सांस्कृतिक सम्पदा से सम्बद्ध है। साध्वी मुक्तिप्रभा ने जैन योग की निधियों को अनावृत करते हुए भारतीय योग की अवधारणा को परिबृंहित किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थसूची और सन्दर्भात्मक विवरण उनके वैदुष्य को स्पष्टतया प्रख्यापित करते हैं। प्रतिपाद्य विषय की साहित्यिक प्रस्तुति भारतीय विश्वविद्यालयों की शोध कृतियों के स्तर के अत्यधिक अनुरूप है। साध्वी मुक्तिप्रभा हिन्दी में यथार्थता और सामर्थ्य के साथ लेखन करती हैं।

साध्वी मुक्तिप्रभा को विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन की पी-एच.डी. उपाधि प्रदान करने का जो सौभाग्य मिला है वह विक्रम विश्वविद्यालय के लिए गौरव का विषय है। मेरा विश्वास है कि विषय के अनुरूप विक्रम विश्वविद्यालय इसका मूल्यांकन विशेष रूप से कर सकता है। इस कार्य के लिये विषय के समीक्षकों द्वारा जैन यौगिक सिद्धान्त और साधना से सम्बन्धित जैन अध्ययन के क्षेत्र में एक अग्रणी साहसिक कृत्य के रूप में प्रशंसा की जायेगी।

कुल सचिव
11-8-82

Ph. D. REPORT OF SADHVI MUKTIPRABHA

Title of Thesis जैन दर्शन में : एक समालोचनात्मक अध्ययन

Report

साध्वी मुक्ति प्रभा द्वारा पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत **जैन दर्शन में योग : एक समालोचनात्मक अध्ययन** नामक शोध प्रबन्ध एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ७३९ पृष्ठों का यह वृहत ग्रन्थ जैन योग के विविध पक्षों का विस्तार पूर्वक अध्ययन करता है। यह शोध ग्रन्थ बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में योग का अर्थ, उसका विकास, उसकी प्राप्ति के परम उपाय आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में विभिन्न दृष्टियों से योग का विश्लेषण किया गया है। तीसरे अध्याय में योग और वीर्य, योग और समाधि, योग और ब्रह्मचर्य, योग और बन्ध, अनुष्ठान आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में जैन योग का स्वरूप विश्लेषण करते हुए विदुषी लेखिका ने संवरयोग, आवश्यक योग, ज्ञान योग, कर्मयोग, भक्तियोग, आज्ञायोग आदि का विश्लेषण तथा विधिवत निरुपण किया है। आत्मा का विकास क्रम शीर्षक पांचवे अध्याय में लेखिका ने बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप आदि का मार्मिक विश्लेषण तथा अध्ययन किया है। छठे अध्याय में गुणस्थान के अर्थ तथा विभिन्न गुणस्थानों का विस्तारपूर्वक आधिकारिक विवेचन हुआ है। सातवें अध्याय में योग, भावना योग, ध्यान योग आदि का गंभीर तथा विशद विवेचन किया गया है। आठवें, नवें तथा दसवें अध्यायों में योग दृष्टियों से अयोग दर्शन, योगविंशिका में योग स्वरूप तथा उपाध्याय यशोविजय जी की दृष्टि से जैन योग का महत्व का क्रमशः वैदुष्यपूर्ण तथा विस्तृत अध्ययन प्राप्त होता है। ग्यारहवें अध्याय में विविध जैन योग शक्तियों की विशेषता में जय योग, मंत्र योग, कुंडलिनी योग, षट चक्र, गुरूकृपा आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। बारहवां अध्याय जैन योग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर विस्तार से प्रकाश डालता है अन्त में एक विस्तृत ग्रन्थ सूची एवं महत्वपूर्ण चित्र दिये गये हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि साध्वी लेखिका ने जैन योग से सम्बन्धित विपुल साहित्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है। योग के स्वरूप, उसके उद्देश्य आदि के विषय में लेखिका की दृष्टि सूक्ष्म तथा गंभीर है। लेखन की शैली तथा स्तर पर्याप्त संतोषजनक है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित पी-एच. डी. उपाधि से सम्बन्धित नियमों का संपूर्ण रूप से पूरा करता है।

अतः **मैं** संस्तुति करता हूँ कि **साध्वी मुक्ति प्रभा** को पी-एच. डी. उपाधि प्रदान की जाय।

मेरी दृष्टि से लेखिका की मौखिक परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

Examiner

19.11.81

(विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा प्रदत्त परीक्षक प्रतिवेदन क्रमांक 2)

अनुक्रम

प्रथम विभाग

१. योग की रासायनिक प्रक्रिया प्रयोग और परिवर्तन के रूप में १-६३

अध्याय पृष्ठांक

१. **आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग** १-१५
त्रिसंयोगात्मक योग-प्रयोग, जड़ चेतन अभेद योग एवं भेदविज्ञान प्रयोग, शाब्दिक अर्थ में योग का प्रयोग, चित्त निरोध का उपाय, चित्त की अवस्थाएँ, संप्रज्ञात असंप्रज्ञात समिति– गुप्ति योग ।

२. **प्राप्तिक्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण** १७-३२
परिवर्तन की प्रक्रिया मनोयोग का प्रयोग, परिवर्तन की प्रक्रिया– वचनयोग का प्रयोग, परिवर्तन की प्रक्रिया काय योग का प्रयोग, शरीर ज्ञान, सुषुम्ना से चक्रों का उद्घाटन, आसन जय, इन्द्रिय जय, प्राणवायु जय, नाड़ीतन्त्र ।

३. **साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग** ३३-४८
सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र, योगबिन्दु–अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि, देशविरति, सर्वविरति, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक, योगविशिका, योगशास्त्र और जैन दर्शन का साम्य, प्रमाण का लक्षण एवं जैन विचारधारणा, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप, औदयिक भाव, क्षायोपशमिक भाव, पारिणामिक भाव ।

४. **साहित्य के मुख्य दो पहलू–व्याकरण और इतिहास, योग संयोग में** ४९-६३
व्याकरण की दृष्टि से योग समाधि और संयोग, साध्य साधन में अर्थघटन, पर्याय की दृष्टि से योग, विकास और आविर्भाव की दृष्टि से योग, ऐतिहासिक दृष्टि से योग का विश्लेषण ।

द्वितीय विभाग

२. यौगिक उपलब्धि से सम्बन्ध और परिणाम

६५-११६

अध्याय पृष्ठांक

१. **शरीर और आत्मा की शक्ति का परिणमन रूप—वीर्य** ६५-७४
योग और वीर्य, वीर्य का शब्दार्थ, वीर्य की व्युत्पत्ति, लब्धि वीर्य, उपयोग वीर्य, वीर्य के प्रकार—सलेश्य वीर्य, द्रव्य वीर्य, भाववीर्य, अध्यात्म वीर्य, बालवीर्य, पंडित वीर्य, कर्मवीर्य, अकर्मवीर्य, निक्षेप वीर्य, वीर्य उत्तेजना, बाह्य उत्तेजना का वीर्य पर प्रभाव, योग और वीर्य से प्राप्त लाभ।

२. **लेश्या से रासायनिक बदलते रूप** ७५-८८
योग और लेश्या, लेश्या शब्दार्थ, लेश्या की परिभाषा, शुभाशुभ भावनाएँ, शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, स्पर्श और गतियोग, शीत और उष्ण स्पर्श, रंगों का स्पर्श, शुभ लेश्या, अशुभ लेश्या, योग और लेश्या से प्राप्त लाभ।

३. **तनाव का मूल केन्द्र बन्ध हेतु का स्वरूप** ८९-९१
योग और बन्ध, बन्ध याने क्या ?, बन्ध व्युत्पत्ति, बंध की परिभाषा, बन्ध हेतु का स्वरूप, बन्ध के प्रकार। योग और बन्ध से प्राप्त हानि।

४. **काम-वासना की मुक्ति का परम उपाय—ब्रह्मचर्य** ९३-९४
योग और ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य शब्दार्थ किसे कहते हैं। ब्रह्मचर्य का महत्त्व, योग और ब्रह्मचर्य से प्राप्त लाभ।

५. **शुभ योग का अंतिम बिन्दु-निष्पत्ति और फलश्रुति** ९५-१०१
योग और समाधि, समाधि शब्दार्थ, समाधि की परिभाषा, समाधि के प्रकार, सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि, परम समाधि, योग और समाधि से लाभ।

६. **वृत्तियों के निरोध का सृजन उपाय और अनुभूति रूप आनन्द** १०३-११६
बाह्य और आंतरिक भावना, यम, नियम, आसन कामोत्सर्ग, कायोत्सर्ग का कालमान, पद्मासन, पद्मासन से लाभ, प्राणायाम, प्राणायाम का लक्षण और भेद, प्राण और विज्ञान, प्राणायाम के प्रकार, प्राणायाम से लाभ, प्रत्याहार, प्रतिसंलीनता के भेद, धारणा, ध्यान, समाधि।

तृतीय विभाग

३. योग ऊर्जा और स्वरूप दर्शन

११७-१५७

अध्याय पृष्ठांक

१. **साधना की फलश्रुति जड़-चैतन्य का विवेक ज्ञान** **११७-१२४**
ज्ञान योग—ज्ञानयोग का स्वरूप, ज्ञान की कसौटी, ज्ञान के भेद, ज्ञान योग का फल।

२. **साधना की चरमावस्था प्रीति, अनुराग, भाव-भक्ति** **१२५-१३२**
भक्तियोग, भक्ति शब्दार्थ, भक्ति के पर्यायवाची शब्द, भक्ति और ज्ञान, भक्तियोग का महत्त्व, भक्ति योग का परिणाम, अरिहंत भक्ति से बोधिलाभ की प्राप्ति, भक्ति की अचिन्त्य शक्ति, भक्ति के प्रकार।

३. **प्रवृत्ति का परिणमन बन्ध हेतु का कारण** **१३३-१४०**
कर्मयोग, कर्म का अर्थ, कर्म बन्ध के हेतु, कर्म के हेतु-भाव और द्रव्य, कर्म के हेतु-आश्रव, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, क्रिया और ध्यान, क्रिया का अभाव, कर्मयोग और ज्ञानयोग से होने वाली स्थितियाँ, क्रिया-योग का स्वरूप।

४. **साधना का केन्द्रबिन्दु आश्रव निरोध—संवर** **१४१-१४६**
संवर योग, संवर शब्दार्थ, संवर की परिभाषा, संवर साधना और प्रक्रिया, संवर के कारण।

५. **आचार संविधा का प्राण विधानों में** **१४७-१५२**
आज्ञायोग, आज्ञायोग क्या है ? आज्ञायोग की चिन्तन विधि, आज्ञायोग ही धर्म है, जिनाज्ञा ज्ञेय स्वरूप में विरोधी पाँच हेतु, विधि सेवन से लाभ, अविधि के सेवन से महा अकल्याण।

६. **तनाव मुक्ति का परम उपाय आंतरिक दोषों की आवश्यक आलोचना** **१५३-१५७**
आवश्यक योग, आवश्यक किसे कहते हैं ?, आवश्यक के पर्याय, सामायिक योग, चतुर्विंशतिस्तवयोग, वंदनयोग, प्रतिक्रमण योग, कायोत्सर्ग योग, कायोत्सर्ग से प्राप्त लाभ, प्रत्याख्यान आवश्यक।

चतुर्थ विभाग

४. दृष्टियोग का आदि बिन्दु तनाव और चरम बिन्दु मुक्ति

१५९-१८४

अध्याय पृष्ठांक

१. **दृष्टियोग से अयोग दर्शन** १५९-१६६

इच्छा योग, शास्त्र योग, सामर्थ्य योग, अयोज्यकरण, केवली समुद्घात, शैलेशीकरण, दृष्टियोग, ओघदृष्टि एवं योगदृष्टि।

२. **दृष्टिओं के विकासक्रम में उत्तरोत्तर संवर्धन** १६७-१८४

मित्रा दृष्टि, योग बीज का प्राप्तिकाल, वंचक विधि, वंचकत्रय का स्वरूप, तारादृष्टि, बलादृष्टि, दीप्रा दृष्टि, धर्म के प्रति प्रीति, तत्त्व श्रवण, समापत्ति, वेद्यसंवेद्यपद, अवेद्यसंवेद्यपद, स्थिरादृष्टि, कान्ता-दृष्टि, प्रभादृष्टि– आलंबन योग, परादृष्टि, योगी महात्माओं के प्रकार।

पंचम विभाग

५. प्रयोग एक योग अनेक समस्या और समाधान की फलश्रुति में

१८५-२५७

१. **जड़ बन्धनों से मुक्त होने का परम उपाय–अध्यात्म** १८५-१९३

अध्यात्म योग, अध्यात्म शब्दार्थ, व्युत्पत्ति एवं परिभाषा, अध्यात्म योग का स्वरूप, अध्यात्म योग के भेद।

२. **बहिर्मुख से अन्तर्मुख चेतना की जागृति का सम्पर्क सूत्र–भावना**

१९४-२०६

भावनायोग, भावव्युत्पत्यर्य, भावशब्दार्थ एवं परिभाषा। समभावना मैत्री भावना, प्रमोद भावना, नमस्कार मन्त्र और प्रमोद भावना, भाव नमस्कार और प्रमोद भावना, प्रमोद भावना और योगबीज, कारूण्य भावना, भावना की उपलब्धि-प्रयोग और परिणाम से, माध्यस्थ भावना, जिनकल्प भावना, जिनकल्प भावना के प्रकार। संवेग भावना, संवेग भावना के प्रकार, पदार्थों का अनित्यता, अनित्य भावना का चिन्तन। निर्वेद भावना, पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ।

३. **ध्यान वृत्ति शोधन–एक सफल प्रयोग** २०७-२३६

ध्यानयोग, ध्यान शब्दार्थ, भावना, अनुप्रेक्षा, चिन्ता, चित्त के भेद, ध्यान की परिभाषा, ध्यान का महत्त्व, ध्यान के प्रकार, आर्तध्यान, आर्तध्यान के कारण, आर्तध्यान के लक्षण, आर्तध्यान के स्वामी, आर्तध्यान में लेश्या, आर्तध्यान का फल। रौद्रध्यान, रौद्रध्यान के कारण, रौद्रध्यान के स्वामी तथा लक्षण, रौद्रध्यान में लेश्या। धर्मध्यान, धर्मध्यान का स्वरूप, ध्यान भावना, दर्शन भावना, ध्यान का स्थान, ध्यान का काल, ध्यान का आसन, ध्यान का स्वामित्व, धर्म ध्यान की सामग्री, ध्यान का आलंबन, ध्यान का विषय, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय, धर्मध्यान के अधिकारी, ध्याता के ९ प्रकार, धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा, धर्मध्यान की लेश्या, धर्मध्यान के बाह्य और अन्तरंग चिह्न, धर्मध्यान का फल, ध्येय तत्त्व, सालंबन ध्यान, निरालंबन ध्यान। शुक्ल ध्यान, शुक्ल ध्यान का लक्षण, शुक्ल ध्यान के प्रकार, पृथकत्व- वितर्क-सविचार, एकत्व-वितर्क-अविचार, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती- ध्यान, समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती, ध्यातव्य द्वार, शुक्ल ध्यान के ध्याता, शुक्ल ध्यान की लेश्या, शुक्ल ध्यान का फल, शुक्ल ध्यान के अधिकारी, केवली और ध्यान, अयोगी और ध्यान।

४. **आंतरिक शोधन समत्व की प्रयोगात्मक विधि से** २३७-२४१

समत्त्व योग, समता शब्दार्थ, समत्त्व योग का लक्षण।

५. **वृत्तियों के प्रभाव से आवेगों और शारीरिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन** २४२-२५७

वृत्ति संक्षय योग, वृत्तियों का प्रभाव आवेगों से, ग्रंथियों से वृत्ति संक्षय, ग्रंथिभेद, जपयोग और मन्त्र योग का शरीर, इन्द्रिय वृत्ति और मन पर प्रभाव, मन्त्र से वृत्ति संक्षय, कुंडलिनी योग।

सहायक ग्रन्थों की सूची २५८-२६८

योग	प्रयोग	अयोग
मन योग	एकाग्रता	मनोनिग्रह
वचन योग	मौन	निर्विकल्पदशा
काय योग	कायोत्सर्ग	देहातीत अवस्था

प्रथम विभाग

(१) योग की रासायनिक प्रक्रिया प्रयोग और परिवर्तन के रूप में

अध्याय १. आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

अध्याय २. प्राप्ति क्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

अध्याय ३. साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

अध्याय ४. साहित्य के मुख्य दो पहलू : व्याकरण और इतिहास योग संयोग में ।

१

आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

प्रथम चरण (पृष्ठ १ से १५ तक)

१. **जड़-चैतन्य का मिलन योग के प्रयोग में**
२. **ध्यान संयम और समाधि से चित्त की एकाग्रता**
३. **स्थिरीकरण का उपाय और परिणाम**
४. **आश्रव द्वार कर्म बन्धन का हेतु**
५. **चित्त की एकाग्रता से वृत्तियों का निरोध।**

१. आगमिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

त्रिसंयोगात्मक योग-प्रयोग

तिविहे जोए पण्णत्ते तं जहा—मणजोए वइजोए कायजोए[१] ।

जैनागमों में योग शब्द का प्रयोग प्रायः मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दरअसल देखा जाए तो हमारी हर प्रवृत्ति मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया रूप में ही विद्यमान होती है। संसार में साधारणतया ऐसा कोई भी मानव नहीं जिसको आंशिक रूप में जानने की जिज्ञासा, मानने की वृत्ति और करने की प्रवृत्ति में रुचि न हो। इन रुचियों का सम्बन्ध मन से जुड़ा हुआ है, अतः मन एक योग है जो शरीर में रासायनिक रूप में पैदा होता है और व्यक्त-अव्यक्त वाणी के रूप में अभिव्यक्त होता है। मन और वाणी का माध्यम शरीर है जो क्रियमान रूप में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मन, वचन, काया का त्रिसंयोगात्मक स्वरूप ही योग कहा जाता है। जब तक योग प्रायोगात्मक कसौटी पर कसा नहीं जाता तब तक कर्म बन्धन में हेतुभूत होने से आस्रव कहलाता है।

जैनागमों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग[२] ये आश्रव के पाँच द्वार बताये हैं और इन्हीं पाँचों द्वारों से जीव कर्मबन्ध का व्यापक रूप से व्यापार करता रहता है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि इन्द्रियजन्य विषयों का आकर्षण मन, वचन और कायजन्य योग से होता है तथा क्रोध, मान, माया और लोभजन्य उद्वेग कषाय से होता है। अतः इससे फलित होता है कि कर्मबन्ध का कारण योग और कषाय ही[३] प्रमुख रूप से है। इस प्रकार योग और कषाय दोनों आश्रव कर्मबन्ध के हेतु हैं। यह आश्रव शुभ होता है तो शुभयोग और अशुभ होता है तो अशुभयोग। इस प्रकार योग शुभ और अशुभ दो स्वरूपों में संसार में परिलक्षित होता है।

जड़, चेतन, अभेद-योग एवं भेदविज्ञान प्रयोग

जैनागमों का प्रथम आगम आचारांग सूत्र है। इसके प्रथम सूत्र में ही योग से अयोग तक पहुँचने की सम्पूर्ण प्रक्रिया हमें प्राप्त होती है। जैसे—"**अत्थि मे आया**

---

१. स्थानांग सूत्र स्था. ३
२. समवायांग सम. ५
३. समवायांग सम. ५

उववाइए णत्थि में आया उववाइए के अहं आसि, के वा इओ चुते इह पेच्चा भविस्सामि" ।[४]

"के अहं आसी" मैं कौन था, यह पद आत्म सम्बन्धी जिज्ञासा की जागृति का सूचक है। साथ-साथ में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म भी इसी सूत्र में सिद्ध करके बताया गया है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की फलश्रुति ही योग है। यह आत्मा योग से संसार में परिभ्रमण करता है और उपयोग द्वारा परिभ्रमण से मुक्त होता है। अतः यहाँ आत्मा की त्रैकालिक सत्ता सिद्ध हो जाती है। **"जो आगओ ------ अणुसंचरइ सोहं"** पद से जो संसार में परिभ्रमण करता है वही मैं हूँ। ऐसा प्रतिपादन हो जाता है। आत्मा है ऐसी अनुभूति प्रतीत होने पर प्रश्न होता है "मैं हूँ" किन्तु परिभ्रमण करने वाला क्यों ? भ्रमण का हेतु क्या ? इस शंका का समाधान तृतीय सूत्र में प्राप्त होता है। **"से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी"?**[५]

इसी सूत्र से शुभ और अशुभ योग का प्रारम्भ होता है। इसी सूत्र से योग की प्राप्ति, योग के उपाय और योग से अयोग की साधना का प्रयोग प्रारम्भ होता है। जैसे–आत्मा, लोक, कर्म और क्रिया–

१. प्रवृत्ति करना क्रिया है,
२. प्रवृत्ति से जुड़ना (बन्धना) कर्म है,
३. कर्म को बांधना लोक-संसार है ;
४. क्रिया, कर्म, और लोक, तीनों को भोगने वाला आत्मा है।

इस प्रकार इस सूत्र से जड़ और चैतन्य का विवेक ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मा चैतन्य है तथा लोक, कर्म और क्रिया जड़ है। कर्म और क्रिया करने का माध्यम लोक अर्थात् शरीर है। अतः सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर का संयोग ही मन, वाणी और कर्म की क्रिया रूप योग है।

जबसे यह आत्मा इस संसार में है तब से सशरीरी आत्मा यौगिक प्रक्रिया में प्रवर्तमान है। अतः आगम में जो कुछ भी सशरीरी आत्मा के विषय में चर्चा है सभी योग से सम्बंधित ही है।

योग का सामान्य अर्थ जोड़ना होता है। यहाँ मन, वचन, कर्म और क्रिया रूप योग से आत्मा और शरीर का संयोग होता है। आत्मा अकेली है कोई भी क्रियात्मक रूप

---

४. आचा. अ. १. उ. १. सू. ३

५. आचा. अ. १. उ. १. सू. ३

नहीं ले सकती । शरीर अकेला है, वह भी कुछ नहीं कर सकता । करने के लिए **कम्मावादी-किरियावादी** पद का रहस्यात्मक रूप से उद्घाटन हुआ है । कर्म से क्रिया और क्रिया से कर्म अनवरत जुड़ा हुआ है और वही संसार है ।

चिति संज्ञा धातु से चैतन्य शब्द बनता है, चैतन्य आत्मा का गुण है । गुण से गुणी जुदा नहीं होता, चैतन्य से आत्मा जुदा नहीं होता । जो जुदा होता है वह पर्याय होता है, पर्याय परिवर्तनशील है, अनित्य है, अशाश्वत है, नाशवान है, अध्रुव है, जड़ है । अतः जहाँ चैतन्य है, वहाँ आत्मा है, जहाँ चैतन्य नहीं, वहाँ जड़ है । इसे शरीर या पुद्गल भी कहते हैं ।

इस प्रकार यह संसार दो तत्वों की उपज है जड़ और चैतन्य ; आत्मा और शरीर, जीव और पुद्गल । दोनों तत्वों को अभिन्न कराने वाला संयोग योग है और दोनों तत्वों को भिन्न कराने वाला प्रयोग उपयोग है । योग का सम्बन्ध शरीर से है और उपयोग का सम्बन्ध आत्मा से है । उप का अर्थ है ज्ञेय और योग का अर्थ है जोड़ना अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जोड़ना उपयोग है, यही आत्मा का लक्षण है ।

कर्म तत्व द्वारा आत्मा उपयोग में आवरण आता है, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श द्वारा विषय रूप योग जागृत होता है यही शरीर का लक्षण है । इस प्रकार आत्मा और शरीर योग और उपयोग लक्षण से जुड़े हुए हैं । इसी हेतु सशरीरी आत्मा इस लोक में सर्वत्र घूमता है और मुक्त आत्मा सिद्ध होता है ।

योग और उपयोग इस लक्षण द्वारा दो स्थितियाँ स्पष्ट रूप से हमारे सामने उभर कर आती हैं – (१) बाह्य स्थिति, (२) अध्यात्म स्थिति । मन, वचन, काय रूप योग से हम बाह्य स्थिति से जुड़ते हैं और उपयोग से हम अध्यात्म स्थिति से जुड़ते हैं । हम जब बाह्य से जुड़ते हैं तब दूसरे से जुड़ते हैं, पर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, पर में अपनेपन के दर्शन करते हैं । यह पर जो है वही है हमारा शरीर । दूसरे से परे होकर स्व दर्शन है वह आत्मा है । शरीर दृश्य है आत्मा अदृश्य । केवल शरीर है तो परिभ्रमण का कारण नहीं बनता । केवल आत्मा है तो भी परिभ्रमण का प्रश्न नहीं उठता, दोनों हैं किन्तु कोई सम्बन्ध नहीं है तो भी परिभ्रमण का प्रश्न नहीं उठता, प्रश्न उठता है आत्मा को शरीर प्रभावित करता है और शरीर को आत्मा प्रभावित करता है ऐसे क्रियात्मक अवसर पर ।

हमारी प्रसन्नता, हमारा आनन्द, हमारी शक्तियाँ, हमारी विकृतियाँ, हमारी बाधाएँ, हमारी स्खलनाएँ, हमारी यौगिक प्रक्रियाएँ इत्यादि की अभिव्यक्ति का माध्यम हमारा शरीर है और अनुभूति का माध्यम हमारी आत्मा है । इस प्रकार आत्मा कर्मों का

कर्ता और कर्मों का भोक्ता माना जाता है। जिस घटना के साथ हम जुड़ जाते हैं, वही घटना हमारे लिए सुख और दु:ख का हेतु बनती है। सर्व सामान्य प्रत्येक प्राणी में सुख और दु:ख, संयोग और वियोग, प्रिय और अप्रिय परिस्थिति का प्रवाह धूप और छांव की तरह आता जाता रहता है।

जो भी परिस्थिति प्रवर्तमान होती है वह योग के माध्यम से घटती है और कर्म पुद्गलों के समूह रूप से कषाय भाव में आकर बंध जाती है। इस निमित्त से अमूर्त आत्मा मूर्त रूप को धारण करता है। इस प्रकार आत्मा न केवल मूर्त है और न केवल अमूर्त है किन्तु दोनों का मिला-जुला अमूर्त के साथ मूर्त का जुड़ा हुआ स्थान है। मन, वचन और कायिक परिस्थिति के परिवर्तन से ही परिणाम का लेखा-जोखा किया जा सकता है।

आचारांग इस विषय पर खेद व्यक्त करता है कि साधक के द्वारा मन-वचन-काय की यौगिक क्रिया सुलझी हुई नहीं है। एतदर्थ अनेक यौनियों में जन्म और मृत्यु का अनुभव वह करता रहता है।[६]

वर्तमान जीवन की रक्षा के प्रयोजन से, प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाने के प्रयोजन से, भावी जन्म की उधेड़-बुन के प्रयोजन से, वर्तमान में मरणभय के प्रयोजन से तथा परम शान्ति पाने और दु:ख को दूर करने के प्रयोजन से, मन, वचन और कायिक क्रिया का प्रयोग किया जाता है।[७] ऐसे प्रयोग से तथा हिंसात्मक क्रियाओं की विपरीतता से हित और अहित का बोध नहीं रहता। अत: मानव अनेक जीवों की हिंसा करता है, अनेक जीवों को अपना गुलाम बनाता है, अनेक जीवों पर अपना शासन जमाता है, अनेक जीवों को ताड़न, तर्जन और पीड़ा पहुँचाता है। ऐसी विपरीत क्रियाओं का मापदंड है—हिंसा और अनुकूल क्रियाओं का मापदंड है—अहिंसा।

इस प्रकार मन, वचन और काय की क्रियाओं का उचित और अनुचित प्रभाव दूसरों पर पड़ता भी है और नहीं भी पड़ता, किन्तु अपने आप पर तो उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। वे क्रियाएँ मानव का अंग बन जाती हैं, इसे ही कर्म कहा जाता है। जिससे जीव सुख और दु:ख का अनुभव करता है। हिंसा व्यक्तित्व को विकृत करती है, ऊर्ध्वगामी ऊर्जा का ध्वंश करती है, और जन्म-मरण का संवर्धन करती है। फलत: स्व और पर के दु:खात्मक जीवन का हेतु बनती है तथा विस्तृत चेतना को सिकोड़ कर

---

६. **अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे --------- विरुवरूवे फासे पडिसंवेदयति।**
आचा. अ. १, उ. १ सु. ६

७. आचा. अ. १, उ. १, सु. ७

उसका ह्रास करती है। अहिंसा व्यक्तित्व को विकसित करती है, ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मार्ग प्रशस्त करती है तथा परित् संसारी होने का प्रयास करती है। फलतः स्व और पर के सुखात्मक जीवन का हेतु बनती है। इसी अहिंसा से सिकुड़ी हुई चेतना पुनः व्यापक बनती है और विशुद्धतम होती जाती है। इस प्रकार मन, वचन और काय रूप क्रियायोग का प्रभाव मानव पर पड़ता है और मानव का प्रभाव क्रियायोग पर पड़ता है।

हिंसात्मक क्रिया निषेधात्मक होने पर भी अपने आप में सबल होने से व्यापक रूप में फैली हुई है। अहिंसात्मक क्रिया विध्यात्मक होने पर भी ममत्व के कारण विनष्ट होती जा रही है। इस प्रकार क्रिया से कर्म, कर्म से संसार और संसार को भोगने वाली आत्मा। आत्मा अक्रिय है तो कर्मबन्ध नहीं है, कर्मबन्ध नहीं है तो संसार नहीं है, इस प्रकार योग प्रयोग से अयोग तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया केवल आचारांग के प्रथम अध्याय में निहित है। इस प्रकार साधक के लिए जड़ और चैतन्य का अभेद योग भेदविज्ञान के प्रयोग से अयोग तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का शोधन करने में समर्थ है।

शाब्दिक अर्थ में योग का प्रयोग

योग का प्रयोग शाब्दिक अर्थ में देखा जाय तो संयम, समाधि, ध्यान आदि विशेष रूप में प्रयुक्त हुआ है जैसे –

सूत्रकृतांग सूत्र में "जोगवं"[८] शब्द संयम अर्थ में
सूत्रकृतांग टीका में "जोगवं" शब्द समाधि अर्थ में
सूत्रकृतांग सूत्र में "झाण जोंग[९] समाहट्टु" ध्यान अर्थ में
स्थानांग सूत्र में "जोगवाही" शब्द समाधिस्थ अनासक्त योगी के अर्थ में तथा
उत्तराध्ययन सूत्र में "समाहि[१०]पडिसंधए" शब्द समाधिस्थ अर्थ में

उत्तराध्ययन सूत्र में "जोए वह माणस्स" शब्द संयम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भगवती सूत्र में ध्यान शब्द का अर्थ –अपने योगों (मन, वचन, काय) को किसी एक शुभ आलंबन में केन्द्रित करना कहा है। एक आलम्बन में केन्द्रित होने का अभिप्राय यह है कि साधक ध्यान में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रह सकता है।[११]

---

८. सूत्रकृतांग-१/२, उ. १/११

९. सूत्रकृतांग-१/८/२६

१०. उत्तराध्ययन सूत्र-२७/२

११. जहन्नेणं एकं समय उक्कोसेण अन्तोमुहुत्तं। भ. सू. श. २५, उ. ७, पृ. २५४

यहाँ सूत्रकृतांग, स्थानांग, उत्तराध्ययन आदि आगम में जोग शब्द का प्रयोग संयम और समाधि अर्थ में हुआ है यही योग का प्रयोग है[12] जैसे–

मन-संयम-समाधि अर्थात् मन से वृत्तियों का निरोध

वाणी-संयम-समाधि अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त विकल्पों का निरोध

काय-संयम-समाधि अर्थात् कायिक चेष्टा का निरोध–कायोत्सर्ग।

आकृति नं. १

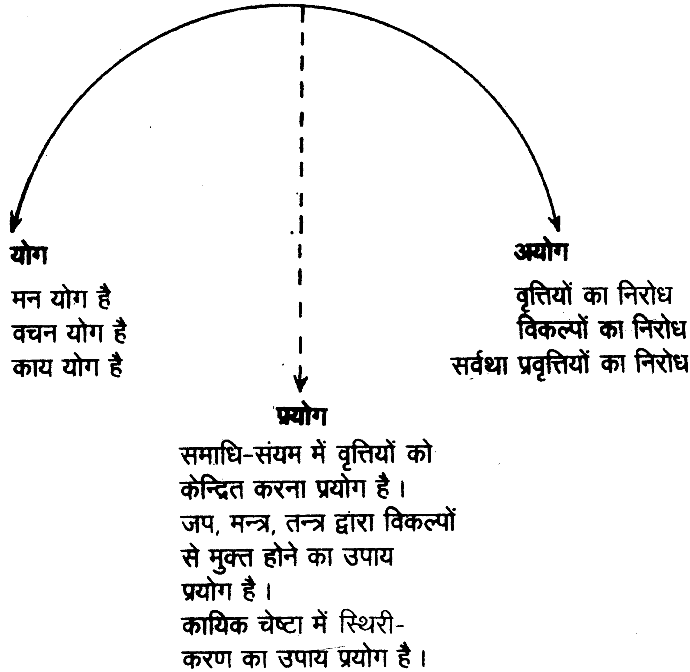

जैन परम्परा में योगों का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान पर समिति-गुप्ति का विधान किया गया है। इसे सहज योग भी कहते हैं। श्रमण साधना की प्रत्येक प्रवृत्ति–जैसे–

आने-जाने की प्रवृत्ति–गतियोग (केवल चलना)

बैठने-सोने की प्रवृत्ति–स्थिति योग (केवल स्थिरता बैठने-सोने में)

खाने-पीने की प्रवृत्ति–आहार योग[13] (केवल खाना)

---

१२. स्थानांग सूत्र अ. ४., १., समवायांग सूत्र-४. भगवती सू. श. २५, ३, ७-उत्तराध्ययन सू. ३०, ३५

१३. जयं चरे, जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए। जयं भुजंतो भासन्तो पावकम्मं न बन्धई॥ (दशौकालिक अ. ४, गा. ७)

इत्यादि जो भी क्रियाएँ हैं उन समस्त क्रियाओं में योग का प्रयोगात्मक स्थान है। जैसे चलते समय विकल्प रहित चंलना, विकल्प रहित बैठना, विकल्प रहित खाना आदि।

योग को अनेक प्रवृत्तियों से हटाकर किसी एक प्रक्रिया में केन्द्रित करने से मन स्थिर हो जाता है और साधक की साधना निर्बाध रूप से वर्तमान होती रहती है। एकाग्रता के अभाव में प्रत्येक साधना असाध्य होती है। जैनागमों में ऐसी साधना द्रव्य साधना कही जाती है और जब मन उसी शुभ चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब वह भाव साधना कही जाती है। जैसे भाव आवश्यक आदि प्रक्रिया भावसाधना है।

इस प्रकार जैनागमों में योग शब्द-संयम, समाधि, ध्यान, संवर, तपं इत्यादि रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि मन, वचन और काया का व्यापार ही इन सारी प्रवृत्ति में विद्यमान है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति शुभयोग में परिणमन होती है तब संवरयोगी संयम, समाधि, ध्यान और कायोत्सर्ग जैसी आराधना में आसीन रहता है।

चित्त निरोध का उपाय

एक बार गणधर गौतम के मन में जिज्ञासा हुई कि मन योग तो है किन्तु ऐसा कौनसा माध्यम है जिससे चित्त का निरोध हो सके? अभिव्यक्त जिज्ञासा के प्रत्युत्तर में परमात्मा ने कहा–**"एगग्ग-मण संनिवेसणयाए णं चित्त निरोहं करेइ"**–वत्स मनयोग है लेकिन किसी एक आलंबन पर स्थिर करने (रूप प्रयोग) से चित्त का निरोध अवश्य हो सकता है।[१४]

मन को एकाग्रता में स्थापित करने के तीन उपाय श्रेष्ठ हैं–

१. एक ही पुद्गल में दृष्टि को निविष्ट कर देना[१५]
२. मन को एक ही शुभ अवलम्बन में स्थिर करना,
३. चित्त में विकल्पों का न उठना।

चित्त में प्रतिपल विकल्पों का आवागमन छाया रहता है। मन को एकाग्र करने से विकल्पों का जाल शान्त होता है। विकल्पों का न उठना ही निर्विकल्प दशा मानी जाती

---

१४. एगग्ग मण संनिवेसणयाए णं चित्त निरोह करेइ।–उत्तराध्ययन सूत्र २९/२६

१५. एकपोग्गल निविट्ठ दिट्ठिति – अंतकृत-गजसुकुमार **मुनि वर्णन**

है। निर्विकल्प दशा में चित्त वृत्तियों का निरोध होता है और इसी को शुभयोग या शुद्धयोग कहा जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र का "चित्त-निरोहं" शब्द ही पातंजल योग दर्शन में चित्त वृत्ति निरोध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

उत्तराध्ययन सूत्र के इस "चित्त निंरोह" शब्द से साधक चित्त की एकाग्र दशा को प्राप्त करता है। इस दशा में शुभयोग के उत्कर्ष से बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है, अशुभ योग का संवरण होता है और कर्मबन्धन शिथिल होते हैं। इस प्रकार जीवन के विकास क्रम में प्रकर्ष की प्राप्ति का आधारस्तम्भ आस्रव का निरोध संवर रूप योग है।

इसी अध्याय के तिरेपनवें सूत्र में तो परमात्मा ने यौगिक प्रयोग से अयौगिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि–योग से ही योग की विशुद्धि होती है।[१६] मन, वचन और कायिक प्रयत्न की सत्यता से योग को विशुद्ध किया जाता है। योग की निरुद्धता से मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति होती हैं। जैसे–

मनोगुप्ति से साधक एकाग्रता को प्राप्त करता है। एकाग्रता से प्रायः तीन लाभ होते हैं–

१. अशुभ विकल्प से मुक्ति
२. समभाव की पुष्टि और
३. विशुद्ध संयम की वृद्धि।

वचनगुप्ति से साधक निर्विचार भाव को प्राप्त करता है।

निर्विचार भाव से भी प्रायः तीन लाभ होते हैं –

१. अशुभ वचन से निवृत्ति और शुभ वचन में प्रवृत्ति
२. प्रायः मौन की आराधना और
३. अज्झण्ण-जोग-ज्झाण-जुत्तो-अर्थात् अध्यात्मयोग के साधनभूत ध्यान से युक्त।

कायगुप्ति से जीव आस्रव का निरोध और संवर की प्राप्ति करता है।

संवर की प्रवृत्ति से प्रायः तीन लाभ होते हैं–

१. अशुभकायिक प्रवृत्तियों का निरोध
२. शुभकायिक चेष्टा में प्रवृत्ति या काय में प्रवृत्तमान और
३. पापों के आवागमन का निरोध।[१७]

---

१६. जोग-सच्चेणं जोगं विसोहेइ – उत्त. २९/५३

१७. उत्तरा. अ. २९, गा. ५४-५६

मन, वचन और काया के योग से प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति कर्म निर्जरा का हेतु रूप होती है। आगम में इस प्रकार के शुभ योग को समाधारणा कहते हैं। समाधारणा का मौलिक अर्थ समाधि होता है। इस प्रकार मन समाधारणा, वचन समाधारणा और काय समाधारणा का परिणाम विविध स्वरूप में मिलता है जैसे–

मन समाधारणा की चार श्रुतियाँ हैं–

१. चित्त की एकाग्रता,
२. तात्त्विक बोध,
३. सम्यक्दर्शन की विशुद्धि, और
४. मिथ्यात्व का क्षय

सम्यक् मनन, चिन्तन और समाधि भाव में स्थिर रहना मनसमाधारणा है।[20]

वाणी को सतत स्वाध्याय में संलग्न रखना वचन समाधारणा है। वचन समाधारणा की तीन श्रुतियाँ हैं–

१. दर्शन पर्यवों की विशुद्धि,
२. सुलभबोधि की प्राप्ति, और
३. दुर्लभबोधि की निर्जरा।

काया को संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में प्रवृत्तमान रखना काय समाधारणा है। काय समाधारणा की भी चार श्रुतियाँ हैं जैसे–

१. चारित्र पर्यायों की क्रमशः विशुद्धता से यथाख्यान चारित्र की प्राप्ति
२. वेदनीयादि अघाती कर्मों का क्षय
३. सिद्ध, बुद्ध मुक्तावस्था और
४. समस्त दुःखों का अंत[21]

इस प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के मनोयोग, वचनयोग और काययोग रूप शुभयोग अर्थात् त्रिगुप्ति एवं समाधारणा चित्तवृत्ति निरोध लक्षण से कुछ विशेष विलक्षणता के रूप में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि चित्त वृत्ति निरोध में महर्षि पतंजलि ने तीन बातों को स्पष्ट किया है–

१. चित्त, २. वृत्तियों, और ३. निरोध।

सांख्ययोग-मत के अनुसार सम्पूर्ण जगत् सत्वरजस्तमोरूप त्रिगुणात्मक है। इन

---

२०. बृहद्वृत्ति पत्र ५९२

२१. उत्तरा. २९/५६ से ५८

सत्त्वादि गुणों से चित्त की तरतमता में परिवर्तन होता रहता है। जैन दर्शन के अनुसार चित्त की अवस्थाएँ अनेक हैं[१८] किन्तु भाष्यकार ने उसे पाँच विभागों में विभक्त किया हैं।

चित्त की अवस्थाएँ

१. क्षिप्त २. मूढ़ ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध[१९]

क्षिप्त : १. इस अवस्था में रजोगुण की प्रधानता
२. चित्त की चंचलता और
३. विषय भोग की तीव्रता विशेष होती है।

मूढ : १. इस अवस्था में तमोगुण की प्रधानता
२. विवेक बुद्धि की अल्पता और
३. हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि ज्ञान का अभाव।

विक्षिप्त : १. इस अवस्था में सत्त्वगुण की प्रधानता और रजोगुण की गौणता
२. मन की स्थिरता, मन की चंचलता और मन की मिश्र अवस्था और
३. बहिर्मुखता, अंतर्मुखता की न्यूनाधिकता।

चित्त की ये तीनों अवस्थाएं जैन दर्शन में अशुभ योग के रूप में परिलक्षित होती हैं। जैसे आश्रव योग से संवर रूप समाधि उपादेय नहीं है वैसे ही ये तीनों अवस्थाएँ योग के लिए अनुपयोगी होने से उपादेय नहीं हैं।

चित्त की और भी दो अवस्थाएँ हैं–

१. एकाग्र और
२. निरुद्ध।

भाष्यकार ने इन दो अवस्थाओं को ही समाधि रूप में स्वीकार किया है। जिस समय चित्त बाह्य वृत्तिओं से परे होकर किसी एक विषय में स्थिर होता है उस अवस्था विशेष को एकाग्र कहा जाता है। इस अवस्था में भी अचेतन मन में कुछ सात्त्विक वृत्तियाँ स्फुरायमान होती रहती हैं। वे सभी आंतरिक वृत्तियाँ और तज्जन्य संस्कार जिस अवस्था में लय हो जाते हैं उस अवस्था विशेष को चित्त की निरुद्धावस्था मानी जाती है। अतः यहाँ स्पष्ट है कि एकाग्र अवस्था में बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है और निरुद्धावस्था में आंतरिक वृत्तियों का निरोध होता है।

---

१८. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे-आचा./अ. ३/उ-२/सू. ११८
१९. भोजवृत्ति ११२ योगभाष्य

उपर्युक्त पाँचों अवस्थाओं में प्रथम दो अवस्था अशुभ योग होने से समाधि के लिए सर्वथा हेय हैं। तीसरी अवस्था को योग की प्रारम्भावस्था कहा जा सकता है और अन्त की दो अवस्था सर्वथा उपादेय हैं। इस प्रकार–

कोष्ठक नं. १

योग दर्शन	जैन दर्शन	अवस्था	प्राधान्य असमाधि
१. क्षिप्त	मन-वचन-काय-आश्रव योग	बहिर्मुखता	भौतिक विषयों का प्राधान्य असमाधि
२. मूढ़			
३. विक्षिप्त	मन-वचन-काय-शुभाशुभयोग	अंतर्मुखता का प्रारम्भ	चित्तगत क्लेशों का अभाव-समाधि का प्रारम्भ
४. एकाग्र	मन-वचन-कायगुप्ति-शुद्धयोग	अंतर्मुखी	निरोधाभिमुख-समाधि की प्राप्ति
५. निरुद्ध	मन-वचन-काय सर्वथा गुप्ति अयोग	सर्वथा अंतर्मुखी	सर्वथा निरोध-समाधि का फल मोक्ष

सत्य के उत्कर्ष से चित्त की एकाग्रता का जो परिणाम पाया जाता है उससे स्वात्मा की अनुभूति, परमार्थभूत ध्येय वस्तु का साक्षात्कार, क्लेशों का नाश, कर्मबन्धनों का अभाव और निरोध की ओर अभिमुखता प्राप्त होती है। इसे ही योगदर्शन में संप्रज्ञात-योग कहते हैं। इस योग में मन की स्थिरता बनाये रखने के लिए आलंबन की आवश्यकता रहती है अतः संप्रज्ञात समाधि को सालंबन समाधि भी कहते हैं। जैन दर्शन में ये सालंबन समाधि ''मणसमितियोगेण''[२२] शब्द से स्पष्ट होती है। आगम में मनः समिति सं-सम्यक्, इति-प्रवृत्ति अर्थात् मन की सत्प्रवृत्ति से शुभयोग रूप एकाग्रता और अनुप्रेक्षा होती रहती है। अतः समिति योग से भावित साधक अन्तरात्मा की कोटि का होता है।

संप्रज्ञात असंप्रज्ञात समिति-गुप्तियोग

चित्त की सम्पूर्ण वृत्तिओं का सर्वथा निरोध असंप्रज्ञात-योग है। इस योग में साधक, साधन और साध्य तीनों अभिन्न हो जाते हैं। यहाँ आलंबन की आवश्यकता नहीं होती। अतः असंप्रज्ञाल समाधि को निरालंबन समाधि कहते हैं। जैन दर्शन में इस निरालंबन समाधि को मनोगुप्ति के रूप में ग्रहण किया गया है।

२२. प्रश्न व्याकरण । संवरद्वार ।

योगश्चितवृत्ति निरोधः इस सूत्र में **क्लेशान्क्षिणोति स एव योगः** कहकर सूत्रकार को वृत्ति निरोध से क्लेशादिकों का नाश करने वाला निरोध ही अभीष्ट है। अतः स्पष्ट है कि चितगतक्लेशादिरूप वृत्तियों का यहाँ निरोध स्वीकार किया गया है और उसे योग कहा है। जैन दर्शन के अनुसार इसी को ही आश्रव-निरोध रूप संवर शुभयोग कहा जाता है। अर्थात् मनः समिति से मन की शुभ प्रवृत्ति और मनः गुप्ति से मन की एकाग्रता एवं मनोनिरोध अर्थ घटित होता है। इस प्रकार समिति-गुप्ति से मन की प्रवृत्ति, मन की स्थिरता और मनोवृत्ति का निरोध दृष्टिगोचर होता है।

मन की शुभ प्रवृत्ति से समाधि का प्रारम्भ होता है, मन की स्थिरता अर्थात् एकाग्रता से समाधि की प्राप्ति होती है और मनोवृत्ति के निरोध से समाधि के फल की उपलब्धि होती है। इस प्रकार समिति-गुप्ति रूप आगम सम्मत संवरयोग और चित्तवृत्तिनिरोध रूप में कोई भिन्नता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि समाधि की प्राप्ति एकाग्रता से होती है और ऐसी एकाग्रता सयोगी केवली की अवस्था में ही प्राप्त होती है। समाधि का फल यह अयोगी केवली की अवस्था है जिससे मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस प्रकार शुभ योगारम्भ में सत्प्रवृत्ति रूप मनः समिति और विकल्प रहित निर्विकल्प अवस्था में मनोगुप्ति संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात रूप से स्पष्ट परिलक्षित होती है।

इस प्रकार जैनागमों में पाँच महाव्रतों का समावेश अहिंसा से, पाँच समिति का समावेश संयम से और तीन गुप्ति का समावेश तप से किया है जैसे—**धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो**[२३] पातंजल दर्शन में जो स्थान यम का है वही स्थान जैन दर्शन में महाव्रतों का है। पाँच इन्द्रिय, चार कषाय और तीन योग का जय यह सयम रूप नियमन हुआ। छः प्रकार के आभ्यंतर और छः प्रकार के बाह्य तप से योगांग में समाधि तक कार्य सिद्ध होता है। अतः दशवैकालिक आगम की एक ही पंक्ति में अहिंसा, संयम और तप रूप त्रिपुटि से संपूर्ण योग मार्ग का उद्घाटन हो जाता है। इसी एक सूत्र में ही योग सूत्र और व्यासभाष्य के संप्रज्ञात योग और असंप्रज्ञात योग भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि और प्रज्ञा आदि से प्राप्त लाभ पर्याप्त मात्रा में भरा हुआ प्राप्त होता है।

जिस प्रकार योग दर्शन में चित्त की एकाग्रता से बाह्य वृत्तियों का निरोध, क्लेशों का त्याग, कर्म बन्धनों का क्षय और समाधि रूप शान्ति की प्राप्ति का बोध कराया है उसी प्रकार जैनागमों में आश्रव रूप योग का निरोध करके संवर रूप शुभयोग से

---

२३. दशवैकालिक-१/१

ध्यान और समाधि द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का[२४] और सम्पूर्ण पाप का विनाश किया जाता है तथा योगावस्था से अयोगावस्था रूप सिद्धत्व की प्राप्ति हो जाती है।

यहाँ योगदर्शन के अनुसार एक और विशेष बात प्राप्त होती है—जैसे सत्प्रवृत्ति, एकाग्रता और निरोध। इन तीनों लक्षणों में प्रथम सत्प्रवृत्ति जो है उससे सर्वप्रथम यम नियमादि शुभ योग में प्रवृत्त होना नितान्त आवश्यक हो जाता है। किन्तु एकाग्रता का विषय विशेषता लेकर उठता है। संप्रज्ञात योग में कुछ वृत्तियों का निरोध हो जाता है परन्तु सर्वथा निरोध के लिए प्रश्न विराम उत्तर की अपेक्षा रखता है। सर्व वृत्ति निरोध रूप असंप्रज्ञात योग ही सर्वथा मान्य माना जाता है। जो जैनागमों में मनः समिति और मनोगुप्ति के स्वरूप ग्रहण किया जाता है। सत्प्रवृत्ति अर्थात् मन से जो भी प्रवृत्ति होती है। यहाँ मात्र सत्प्रवृत्ति को ही समिति-योग कहते हैं। गुप्ति-गोपन करना मन से जो भी विकल्प पैदा होते हैं उसे गोपना अर्थात् मन के विचारों का त्याग और एकाग्रता में स्थिरता होने से विकल्पों का निरोध होना ही गुप्तियोग है। गुप्तियोग से वृत्तिओं का सर्वथा निरोध रूप असंप्रज्ञात योग घटित होता है। यहाँ समाधि का आरम्भ समाधि की प्राप्ति और समाधि के फलस्वरूप मोक्ष की उपलब्धि होती है। इस प्रकार पातञ्जल योग का "चित्त वृति निरोध" रूप सूत्र समिति गुप्ति रूप आगम सम्मत संवर योग में ही समाहित हो जाता है जो स्थानांग सूत्र में चरित्तधम्मे रूप आचरणीय धार्मिक अनुष्ठान विशेष मेंचरितार्थ होता है। अतः जैनागमों के अनुसार मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहा है जो आस्रव का एक अंश है यही कर्म बंधन का कारणभूत है। इन बन्धनों से मुक्त होने के लिए आस्रव निरोध रूप संवर में शुभ योग का प्रयोग सम्पूर्ण रूप से घटित हो जाता है।

---

२४. स्था. ३-४

२

प्राप्ति क्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

द्वितीय चरण (पृष्ठ १७ से ३२ तक)

१. संकल्प, विकल्प, स्थिरीकरण और मनोनिग्रह का उपाय

२. मानसिक तनाव और तनाव मुक्ति के उपाय

३. स्मृति, कल्पना, विचार आदि विकल्पों में व्यथा-अव्यथा मौन

४. निर्विकल्प अवस्था ही अयोग दर्शन

५. सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर पर प्रभाव

२. प्राप्ति क्रम में प्रयोगात्मक निरीक्षण और परीक्षण

परिवर्तन की प्रक्रिया मनोयोग का प्रयोग

मन शुद्धि के प्रयोग का ज्ञान किसी को हो या न हो किन्तु मन की अशुद्धि के प्रयोग का ज्ञान तो मानव मात्र को है। अतः मानव यदि शोधन करे तो अनुभव होगा कि साधना के क्षेत्र में मन की प्रक्रिया का ज्ञान कितना आवश्यक है ?

हम शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, श्वास आदि स्थूल के दर्शन कर सकते हैं किन्तु दृश्य जगत के परे भी सूक्ष्म और सूक्ष्मतम जगत है जिसका हमें दर्शन करना है।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का अस्तित्व इन्द्रिय जगत से होता है, जिससे विषयों का आकर्षण उत्तेजित होता रहता है। इन आकर्षणों में राग और द्वेष का सम्बन्ध मन द्वारा होता है। कान शब्दों को सुनता है किन्तु उन शब्दों का आस्वादन नहीं कर पाता, प्रिय और अप्रिय का निर्णय नहीं करता, इसका निर्णय करने वाला मन है।

सक्रिय मन सदा-सर्वदा इन्द्रिय जन्य कार्य में क्रियान्वित रहता है। आत्मा के चारों ओर कषाय का आवर्त है, जो अति सूक्ष्म है, इसके बाद अध्यवसाय का आवर्त है, उसके बाद तैजस और कार्मण शरीर का आवर्त है, यहाँ तक सूक्ष्मता होने से अदृश्यता है। इस अदृश्यता को दृश्य (शरीर इन्द्रिय आदि) से जोड़ने वाला योग है। योग का संयोग लेश्या से और लेश्या का संयोग अध्यवसाय से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार अध्यवसाय के संयोग से स्थूल शरीर में अनेक प्रकार के स्पंदन होते हैं। यही स्पन्दन सूक्ष्म मन और स्थूल मन द्वारा अभिव्यक्त होते रहते हैं[२]। अध्यवसाय तो ---- **"असंखेज्जा अज्झवसाणठाणा"** अर्थात् असंख्य स्थान वाला है। अतः मन विकल्प के रूप में असंख्य बार हमारे सामने चल-चित्रों की भाँति उपस्थित होता रहता है। भावि की कल्पनाओं में संजोया रहता है और वृत्तियों के घेरे में विक्षिप्त बना रहता है। हमारे जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएँ प्रतिक्षण घटित होंती रहती हैं। कभी हम देखते हैं, कभी सुनते हैं, कभी किसी को स्मरण करते हैं, कभी कल्पना में डूब जाते हैं। फलतः कभी सुख का, कभी दुःख का अनुभव होता है। जिस शक्ति द्वारा ये घटनाएँ घटित होती हैं, उसे चेतना (Consciousness) कहते हैं और इन संवेदन, उपलब्धि, स्मृति

कल्पना, विचार, सुख, दु:ख, प्रेम, भय और संकल्प को चित्तवृत्ति (States of Consciousness) कहते हैं ।

भोग और उपभोग के सर्व साधन इन वृत्तियों से ही उभरते हैं । वृत्तियों की पूर्ति काल में मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि इत्यादि तद्रुप हो जाते हैं । फलतः अनावश्यक वृत्तियों की पूर्ति में जीवन बुद्धि का व्यय हो जाता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन के साथ और मन का सम्बन्ध वृत्तियों के साथ जुड़ा हुआ है। वस्त्र अपने आपमें श्वेत है, किन्तु बाहर से गंदगी आती है और वस्त्र मैला हो जाता है। मन अपने आप में शुभ्र है। वृत्तियों की गंदगी आती है और शुभ्र मन को मलिन बना देती है। मन मलीन होते ही इन्द्रियाँ भोग में आकर्षित होती हैं। अतः इन्द्रियाँ चंचल नहीं, मन चंचल नहीं, चंचल हैं हमारी वृत्तियाँ। मन की चंचलता का अनुभव होता है, किन्तु वृत्तियों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। अतः सर्वप्रथम वृत्तियों की चंचलता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना चाहिए ।

हमारी इच्छाएँ वासनाएँ, अनेक कामनाएँ वृत्तियों के रूप में मन को उत्तेजित करती रहती हैं । इन उत्तेजनाओं का प्रधान कारण है विषमता । विषमता से मन विक्षिप्त रहता है। विक्षिप्त मन में निमित्त मिलते ही क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि की ज्वालाएँ प्रज्ज्वलित होती हैं। भय, घृणा, कपट आदि क्रियाएँ वृत्तियों से संघर्ष फैलाती रहती है । फलतः संकल्प-विकल्प, आशा-निराशा, सफलता-निष्फलता इत्यादि मानसिक तनाव के रूप में समस्याएँ बनकर उभरती है अतः मन प्रकंपित रहता है, उद्वेलित रहता है, चंचल हो उठता है तथा विकृति को फैलाता रहता है ।

मन का मालिन्य जिस प्रयोगात्मक ज्ञान से प्रतीत होता है, उसी प्रयोगात्मक ज्ञान में मन की विशुद्धि का उपाय विद्यमान है। उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी प्रयोगात्मक ज्ञान में निहित हैं। इसलिए मन को बलात् रोकने की आवश्यकता नहीं किन्तु आत्मा में विलीन करने की आवश्यकता है। मन एकाग्र होते ही चंचलता शान्त हो जायेगी पानी में पत्थर डालो पानी चंचल हो जायेगा। अनेक तरंगें उठने लगेंगी। वैसे ही अस्थिर मन विकल्पों से तरंगित हो जाता है और स्थिर मन शान्त हो जाता है। शान्त मन को मन गुप्ति कहते हैं । ये मनगुप्ति ही अयोग है ।

आगम में मन के दो प्रकार हैं—१. द्रव्यमन २. भावमन। द्रव्यमन विकासशील प्राणियों में होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय साधक ही द्रव्यमन का अधिकारी होता है। जो भी प्रवृत्ति होती है शुभ या अशुभ वह द्रव्यमन द्वारा होती है, कषाय द्वारा उभरती है, इच्छाओं द्वारा प्रसरती हैं ।

भावमन प्रत्येक जीवात्मा में होता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक फैला हुआ है। वनस्पति में संवेदना विस्तृत रूप में पायी जाती है उसका कारण भी यही भाव मन है।

वैज्ञानिकों के अनुसार मन का आवेग एक सेकण्ड में २२,६५,१२० मील का है। अतः एक सेकण्ड में अनेक कामनाएँ उठती हैं। वे कामनाएँ कार्य रूप में बदलने की क्षमता रखती है। वही संकल्प है। जो संकल्प-विकल्प अस्थिर होते हैं, वे आते हैं और विलीन हो जाते हैं। उससे कोई लाभ या हानि नहीं होती। लाभ और हानि स्थिर संकल्प से होती हैं। इस प्रकार दोनों मन संकल्प विकल्प के जाल में उलझे रहते हैं।

प्राप्ति क्रम का निरीक्षण

१. संकल्प विकल्प-योग है,
स्थिरीकरण का उपाय प्रयोग है,
और मन का निग्रह (अमन)-अयोग है।

२. मानसिक तनाव योग है,
तनाव से मुक्त होने का उपाय उपयोग रूप प्रयोग है,
सर्वथा तनावमुक्त उपयोग रूप प्रयोग अयोग है।

३. चंचल मन योग है,
स्थिर मन प्रयोग है,
और अमन अयोग है।

परिवर्तन की प्रक्रिया-वचनयोग का प्रयोग

वाणी का प्रभाव हमारे ज्ञान, विचार, स्मृति, कल्पना, विकार और प्रवृत्तियों पर पड़ता है ठीक उसी प्रकार हमारे स्थूल शरीर, प्राण और इन्द्रियों पर भी पड़ता है। यह प्रभाव सुनना और बोलना रूप वाणी के उभयात्मक परिवर्तन से परिलक्षित होता है।

जो वाणी बोली जाती है वह वायुमंडल में कंपनों के प्रविष्ट होने से अनेक प्रकार के शब्द संवेदन के रूप में उत्पन्न होती है। इन शब्दों को श्रवणेन्द्रिय कम से कम १२ कंपन प्रति सैकण्ड और अधिक से अधिक ६० सहस्र प्रति सेकंड वायु कंपन ग्रहण कर सकती है अतः हमारी वाणी आगमिक रूप से चौदह राजुलोक घूमकर दूसरों की श्रवणेन्द्रि में टकराती है और वह वाणी श्रवण द्वारा अनेकों को प्रभावित करती है। उन शब्दों की अनेक शक्तिधारा को टेलिपेथी के रूप में या यांत्रिक रेडियो, टेलीफोन, टी. वी., वी. सी. आर. इत्यादि के माध्यम से वैज्ञानिकों ने तरंगित किया है।

व्यवहार जगत में प्रत्येक मानव को बोलना आवश्यक है। बिना बोले जीवनचर्या का निर्वाह कैसे हो सकता है ? समस्या-समाधान, तर्क-वितर्क, संकल्प-विकल्प, कल्पना-स्मृति इत्यादि का माध्यम व्यक्त-अव्यक्त वाणी ही है। सत्-असत् किसी न किसी रूप में वह साकार होती रहती है।

सामान्यतः वाणी के चार स्तर है–सत्य वचन, असत्य वचन, मिश्र (सत्य-असत्य) वचन, व्यवहार वचन। इनमें से सत्य वचन को छोड़कर अंतिम तीन सर्व सामान्य सभी मानव में पाये जाते हैं। जैसे–१. व्यक्ति बोलता है, २. व्यक्ति को बोलना पड़ता है, ३. बोलना आवश्यक है। मानवीय चेतना ने बोलना अनिवार्य मान लिया है, बोलने को ही प्राथमिकता दे दी है, फलतः हमारी वाणी सीमातीत हो जाती है अनर्गल, अनावश्यक संक्लेशयुक्त वाणी के प्रयोग से आपस में वैर-भाव की श्रृंखला बढ़ जाती है, मानसिक क्षमता क्षीण हो जाती है। जो कार्य अल्प समय में हो सकता है वह या तो अधिक समय में या असमर्थ हो जाता है। अधिक बोलने से शक्ति क्षीण हो जाती है और सारा कार्य अस्त-व्यस्त हो जाता है।

श्रृंगार रस से ओत-प्रोत कामोत्तेजक वाणी आसक्ति को जागृत करती है। आसक्ति से शरीर, मन, बुद्धि आदि का ह्रास होता है। इतना ही नहीं आसक्ति शरीर को आलसी, इन्द्रियों को विलासी, मन को चंचल और बुद्धि को मूढ़ बना देती है।

प्रथम सत्य वचन विशेष व्यक्ति में पाया जाता है। इस सत्य वचन को ही शुभ वचन योग कहते हैं। इसी शुभ वचन योग से मौन का प्रयोग और मौन प्रयोग से निर्विकार रूप अयोग अवस्था प्राप्त हो सकता है।

वाणी की अशुद्धि का अनुभव जिस ज्ञान के प्रयोग से होता है, उसी ज्ञान में वाणी की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है। शुद्धि का उपाय चरितार्थ करने का सामर्थ्य हर साधक में है, आवश्यकता है साधक अशुद्धि की अनुभूति को जाने और शुद्धि के प्रयोगों को सर्वदा समर्थ समझे। असत् वाणी का निरीक्षण और परीक्षण जब तक होता रहेगा, निश्चित सत् और असत् मिश्रित वाणी की अनुभूति होती जायेगी। मिश्र वाणी से सत्य वाणी और निर्विचार तक पहुँचने का प्रयत्न करना है। असत् वाणी का प्रयोग अज्ञानी के लिए है मिश्र या सत्य का प्रयोग पंडित विद्वान या ज्ञानी के लिए है किन्तु निर्विचार का प्रयोग योगी के लिए है।

वचन योग का अभिप्राय वाणी संयम है। संयम का प्रयोग जब अपने अंतिम लक्ष्य पर पहुँच जाता है तब वचन निरोध की भूमिका प्रारम्भ होती है। वचन योग का विशेष कार्य है निरोध। जब तक निरोध आदि पर ध्यान नहीं होता तब तक वाणी शोधन से निर्विचार का प्रयोग आवश्यक है।

निर्विचार अर्थात् वाणी का व्यक्त अव्यक्त मौन। मौन वाणी का निरोध व्यापार है। वाणी निरोध अर्थात् वचन गुप्ति। वचन गुप्ति से ज्ञान का संवर्धन होता है। जितना भाषा का प्रयोग अधिक होगा अंतर्ज्ञान में बाधाएँ उतनी ही अधिक आती रहेंगी। चचलताएँ बढ़ती रहेंगी। शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का बहुत बड़ा समय वाणी विलास में चर्चा-वार्ता विचारणा और व्यर्थ बोलने में नष्ट हो जायेगा। अतः जिस साधना में सामर्थ्य-शक्ति और योग्यता की आवश्यकता थी वहाँ पूर्ति न होने से लाभ के स्थान पर हानि, शान्ति के स्थान पर अशान्ति निर्भय के स्थान पर भय, आनन्द के स्थान पर चिन्ता और उन्नति के स्थान पर अवनति छा जाती है फलतः अनेक विकृतियाँ बढ़ जाती हैं।

विकृतियों की परिक्रमा टूटते ही अचिन्तन की अनुभूति अनुभवित होती है। चिन्तन से मुक्त होना, विकारों से मुक्त होना, विकल्पों के जाल से मुक्त होना, शब्दों से मुक्त होना ही अचिन्तन, निर्विचार, निर्विकल्प शब्दातीत या वचन गुप्ति होना है।

वचन गुप्ति शाब्दिक विकल्पों से परे होने का परम उपाय है। वचन गुप्ति का क्षण शक्ति संचय और ऊर्जा के संवर्धन का क्षण है। वचन गुप्ति आत्मा का स्वभाव, आत्मा का धर्म और अखंड चेतना की सहज स्थिति है। ऐसे क्षणों में हम अपने मूल स्वभाव के अनुभव में होते हैं। ऐसी स्थिति में हमारी आन्तरिक चेतना ज्ञान लोक में डुबकी लगाती है। यही ज्ञान जब अचिन्त्य, अद्भुत और सीमातीत रूप प्रयोगात्मक हो जाता है तब अपूर्व जो कभी देखा नहीं वह दृश्यमान होने लगता है। कभी जाना नहीं ऐसा ज्ञान होने लगता है। कभी पाया नहीं उसे पाने लगता है। अदृश्य को दृश्य स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचने की प्रक्रिया ही वचन योग से प्रयोग और प्रयोग से अयोग तक की प्रक्रिया है।

सोचना वचन योग का कार्य है, देखना मनोयोग का कार्य है और दोनों के साथ-साथ चलना काय योग का कार्य है। जो वचन योग में रहता है वह वचन गुप्ति को नहीं जानता, जो वचन गुप्ति को जानता है वह वचन योग में नहीं रहता। विचारना विकल्प को संजोना है, कल्पना में जीना है। कल्पना, स्मृति, सोचना, विचारना या चिन्तन करना शारीरिक प्रक्रियां है। वचन गुप्ति से विकल्प की जाल टूट जाती है, कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं। न सोचना पड़ता है, न विचार आते हैं और न चिन्तन की आवश्यकता रहती है।

केवल निर्विचार अवस्था का ज्ञान रहता है। आत्मा के स्वभाव का मात्र बोध होता है।

प्राप्ति क्रम का निरीक्षण

स्मृति, कल्पना, विचार योग है।

इन तीनों का व्यक्त-अव्यक्त, मौन-प्रयोग है
और प्रयोग से संपूर्ण निर्विकल्प अवस्था अयोग है।

परिवर्तन की प्रक्रिया काय-योग का प्रयोग

शरीर ज्ञान

आत्मा जिस शरीर को धारण करता है वह शरीर दृश्य और अदृश्य स्थूल और सूक्ष्म दो स्वरूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। स्थूल शरीर दृश्यमान है, जिसे जैन दर्शन में औदारिक कहा जाता है। यह शरीर अस्थि, रक्त, मज्जा, वीर्य आदि धातुओं से निर्मित हुआ है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित होते हैं। जैन दर्शन में सूक्ष्म शरीर तैजस और कार्मण दो प्रकार के होते हैं। कार्मण शरीर अति सूक्ष्म कर्म-वर्गणाओं द्वारा निर्मित होता है। चतुःस्पर्शी होने के कारण तैजस शरीर से अति सूक्ष्म होता है। ये कार्मण शरीर चैतन्य और पुद्गल–दोनों के योग से निर्मित होता है। कार्मिक पुद्गल चैतन्य को प्रभावित करता है और चैतन्य कार्मिक पुद्गल को प्रभावित करता है। इस प्रकार दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध से कर्म निकाचन होते हैं और स्थूल औदारिक और सूक्ष्म तैजस शरीर पुष्ट होता है।

दृश्यमान, स्थूल औदारिक शरीर अनेक शक्तियों का भंडार है। इन शक्तियों का उपयोग करने वाले साधक विशिष्ट लब्धियों का द्वार खोल सकता है। हमारे शरीर में अरबों, खरबों कोशिकायें हैं। हर कोशिका अपना स्वतन्त्र कार्य करती रहती है, इसमें कई कोशिकाएँ सूक्ष्म होती हैं और कई कोशिकाएँ स्थूल होती हैं। केवल मस्तिष्क में ही १४ करोड़ कोशिकाओं का भंडार है। १४ अरब ५ लाख ज्ञान तन्तुओं का जाल विद्यमान है। ये ज्ञान तन्तु नाना प्रकार के रंग, राग ध्वनियाँ रूप, रस, गंध आदि की अनुभूति का आस्वादन करते रहते हैं। शरीर शास्त्रियों ने अनेक वृत्तियों का अनेक संस्कारों का केन्द्र मस्तिष्क से खोजा है। अनेक संवेदनाएँ अति सूक्ष्म होती हैं, वे मस्तिष्क में कभी तो तनाव लाती हैं और कभी शान्त हो जाती हैं, जिससे परिवर्तन की दिशा प्राप्त होती है। तनाव के समय में बुद्धि नियन्त्रित नहीं रहती, किन्तु शान्ति के समय में बुद्धि समूचे शरीर में नियन्त्रण लाती है। इस नियन्त्रण से अनेक आंतरिक द्वार खुल जाते हैं। वृहद् मस्तिष्क से निकलती हुई ज्ञान धारा लघु मस्तिष्क को पार करती हुई सुषुम्ना मार्ग में फैलती है। पृष्ठरज्जु के माध्यम से सुषुम्ना मार्ग साधना में संलग्न होने का आलंबन बन जाता है। इस प्रकार मस्तिष्क से सुषुम्ना मार्ग

में चैतन्य ज्ञान धारा प्रवाहित होता है। फलतः कुंठित बुद्धि सचेत होती है। ज्ञान का विकास होता है और विवेक की जागृति होती है।

हमारे समूचे शरीर का निरीक्षण करें तो ऊर्ध्वभाग में ज्ञान और अधोभाग में काम का प्रवाह अधिक मिलता है। मानव अनेक कामनाओं के घेरे में व्यस्त होने से अनेक तनावों से ग्रस्त है। इन तनावों से त्रसित होने के कारण कभी क्रोध उभरता है, तो कभी मान के मंजिल पर चढ़ जाता है, कभी मायावी बनकर अनेक माया के जाल बिछाता है तो कभी असंतोष होने से निराशावादी बनकर बैठ जाता है। हमारे सम्पूर्ण शरीर में तैजस शरीर से विद्युत विद्यमान होता है। उससे जब विषय वासनात्मक ऊर्जाएँ प्रवाहमान होती हैं तब काम केन्द्र पुष्ट होता है और शुभयोग, शुभलेश्या, शुभ अध्यवसाय की ऊर्जा प्रवाहमान होती है तब ज्ञान केन्द्र पुष्ट होता है। यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा वीर्य का ऊर्ध्वीकरण किया जाता है और भोगेच्छा से वीर्य का अधःपतन होता है। ऊर्ध्वीकरण और अधःपतन का माध्यम है सुषुम्ना। छत्तीस हड्डियों से पृष्ठरज्ज का संस्थान बना हुआ है उनके मध्य भाग में सुषुम्ना का स्थान है। वीर्य ऊध्वीकरण से एकाग्रता, निष्ठा, तन्मयता का अनुभव होता है और सुषुम्ना का द्वार खुलता जाता है।

सुषुम्ना से चक्रों का उद्घाटन

सुषुम्ना का मार्ग खुलता है तो अपार शान्ति का अनुभव होता है। अपार दिव्यता का दर्शन होता है, संकल्प विकल्प की अवस्था से पर स्थिरता का स्वामित्व स्थापित होता है। सम्पूर्ण शरीर में कंपन, धड़कन आदि संवेदना होती है। हमारा श्वास इडा और पिंगला को छोड़कर मध्यमार्ग सुषुम्ना में प्रवाहित होता है। इडा से श्वास लेते हैं, तब भी मन चंचल होता है, पिंगला से श्वास लेते हैं, तो भी मन चंचल होता है। मन की चंचलता को सुषुम्ना द्वार में प्रवेश करने वाला श्वास स्थिर करता है। सुषुम्ना चंचलता को समाप्त करने का सर्वोत्कृष्ट यौगिक प्रयोग है।

मूलाधार से यह सेतु सहस्र सार तक फैला हुआ है। इस बीच में अनेक स्थान ऐसे हैं, जहाँ मन की चंचलता स्थिर हो जाती है जैसे—मस्तिष्क और तालु के नीचे भृकुटी के बीच आज्ञाचक्र का स्थान है। इस स्थान पर ध्यानस्थ साधक ध्यान करने पर अनेक ग्रन्थियों को भेद सकता है। दिव्य आभा का दर्शन कर सकता है। आज्ञाचक्र पर केन्द्रित होने वाला साधक जागृत होता है। श्रद्धा तन्मयता और सामर्थ्य का स्वामी होता है। ध्यान काल में जैसे अनेक द्वार खुलते हैं, वैसे अनेक ऊर्जाओं का व्यय भी होता है, क्योंकि मस्तिष्क में पैदा होने वाली विद्युत तरंगों से श्रम हो जाता है,

शरीर या मस्तिष्क गरम हो जाता है, जिस अवयव की ऊर्जा का उपयोग होता है, वहाँ उसका व्यय होता है, जिसका व्यय होता है, वहाँ गर्मी पैदा होती है। मन को केन्द्रित करने के लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पुरुषार्थ की प्रबलता से निर्विकल्पता का संयोग मिलता है। इन दोनों के बीच में ऊर्जा का उपयोग अधिक मात्रा में होने के कारण गर्मी का संवर्धन होता है। आज्ञाचक्र में होने वाली एकाग्रता इस गर्मी को शीतलता प्रदान करती है।

विशुद्ध-चक्र में एकाग्रता बढ़ने पर वृत्तियाँ शान्त होती है। क्रोध की आग को शान्त करना है तो विशुद्ध-चक्र की साधना आवश्यक है। मान कषाय की तरंगें समूचे शरीर में व्यापक रूप से प्रज्ज्वलित हैं, उन तरंगों से मुक्त होने के लिए या तरंगों को शांत करने के लिए विशुद्धि-चक्र का ध्यान परम उपाय है।

वृत्तियाँ शांत होने का कार्य विशुद्धि-चक्र का है, किन्तु उन वृत्तियों में उभार लाने वाला केन्द्र मणिपुर-चक्र है। मणिपुर-चक्र में जैसे ही एकाग्रता होती है, वैसे ही तेजस्विता प्रज्ज्वलित होती है तेजुलेश्या की पुष्टि होती है और तैजस शरीर के विराट स्वरूप का दर्शन होता है।

विशुद्धि चक्र और मणिपुर-चक्र के बीच में अनाहृत-चक्र है। यह चक्र अत्यन्त पवित्र स्थान पर है, जिनका अंतकरण शुद्ध है, उसका जीवन शुद्ध है। अन्तःकरण की प्रसन्नता, विशालता और पवित्रता विशुद्धता से ही होती है। सम्पूर्ण शरीर में जितना परिश्रम हृदय करता है उतना परिश्रम अन्य अवयव नहीं करते हैं। हृदय की थकान को दूर करने वाला अनाहृत-चक्र है।

अन्तःकरण की शुद्धि का ज्ञान किसी को हो या न भी हो, किन्तु अन्तःकरण की अशुद्धि का ज्ञान तो सभी को है। जब तक अनाहृत-चक्र में स्थिरता नहीं होगी, तब तक विशुद्धि-चक्र की केवल कल्पना ही रहेगी। जहाँ स्थिरता है वहाँ शुद्धता है ही, जो भी चंचलता भासती है, वही विक्षिप्तता है। जिस ज्ञान से विक्षिप्तता की अनुभूति होती है उसी ज्ञान में अन्तःकरण की शुद्धि का सामर्थ्य निहित है। आवश्यकता है शुद्धि के उपाय की खोज की जाये। अनाहृत चक्र में स्थिर मन राग को मिटाता है और शांत, स्वस्थ तथा शुद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में शुद्ध मन बाह्य जगत से छुटकारा पाता है और भीतर में सदा संलग्न रहता है।

पृष्ठ रज्जु के नीचे का स्थान मूलाधार कहलाता है। इस चक्र के द्वारा साधना का केन्द्र बिन्दु प्रारम्भ होता है। विद्युत तरंगें तरंगित होती हैं, इन तरंगों से शारीरिक ऊर्जाओं का प्रसारण होता है। मन को केन्द्रित करने का महत्त्वपूर्ण उपाय मूलाधार

केन्द्र हैं। जैसे ही मन एकाग्र होता है, मूलाधार से स्नायु ऊपर उठने लगते हैं। ऊर्ध्वाकर्षण का अनुभव उसी क्षण मणिपुर-चक्र को जागृत करता है। जैसे ही चक्र का उद्‌घाटन होगा, स्नायु सहज संकुचित होते जायेंगे। यदि स्नायु संकुचित नहीं होते हैं तो मन केन्द्रित नहीं होता है, विकल्पों में भटक जाता है। मन की एकाग्रता और मूलाधार का सम्बन्ध अत्यन्त गहरा है। इन गहराई से मूलाधार में विद्युत संचित होती है, सुषुम्ना पृष्ठ होती है और स्नायु मजबूत होते हैं।

मूलाधार पर मन केन्द्रित होते ही जैसे नीचे के स्नायु संकुचित होते हैं और विद्युत् का प्रवाह प्रवाहित होता है, वैसे ही स्वाधिष्ठान चक्र संचारित होता है। मूलाधार से स्वाधिष्ठान और स्वाधिष्ठान से मणिपुर आदि चक्रों में विद्युत् का आदान-प्रदान रहता है।

आसन-जय

शरीर तन्त्र की सबलता आसन शुद्धि से होती है। ऐसे तो आसन अनेक हैं, किन्तु शरीर तन्त्र की सबलता के लिए कुछ आसन अनिवार्य है, जैसे पद्‌मासन, पर्यंकासन वज्रासन, उत्कटिकासन, वीरासन, भद्रासन, दंडासन, गोदोहिकासन, कायोत्सर्गासन[1]।

इन आसनों में से जिस आसन में मन स्थिर होवे सुखरूप लम्बे समय तक बैठ पाये, और चंचलता से पर होवे वही आसन का प्रयोग साधक के लिए उपयुक्त है।

आसनों से शारीरिक लाभ ही नहीं मानसिक और आध्यात्मिक लाभ भी होता है। किसी भी आसन-जय से तनाव मुक्ति अवश्य होती है और प्रसन्नता, सहजानन्द, त्याग और वैराग्य सहज उत्पन्न होता है।

आसन-जय से शरीर की चंचलता दूर होती है, रोग से मुक्ति होती है और आत्मिक शक्ति मिलती है। आसन-जय से प्राण शक्ति सतेज बनती है। शारीरिक शक्ति सतेज होती है और तैजस से औदारिक शरीर प्रभावी बनता है। स्थूलकाय स्थिर होते ही सूक्ष्म तैजस शरीर भी स्थिर होता है। सम्पूर्ण शरीर में प्राणशक्ति सहज गति से संचारित होती है और आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है।

इस प्रकार आसन-जय से स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर की स्वस्थता, स्थिरता और शुद्धता मिलती है।

शारीरिक तनाव मानसिक तनाव से पैदा होता है। मन जितना खाली होगा उतना

---

१. योगशास्त्र – ४, १२४-१३४

ही शरीर तनावमुक्त होगा। मन खाली होते ही उसी आसन में मन को टिकाए रखें और दीर्घ श्वास लेते रहें, क्योंकि मन की गति आसन से सम्बन्धित होगी तो श्वास का प्रवाह भी तदनुरूप होता रहेगा।

आसन करने से शारीरिक कष्ट जो होता है, उसे जैन दर्शन में काया-क्लेश कहते हैं। काया-क्लेश निर्जरा का हेतु है, इस हेतु द्वारा धैर्य और सहिष्णुता का विकास होता है, यही अध्यात्मिक लाभ है।

आसन द्वारा रक्त संचार सुयोग्य होता है, शारीरिक वेदना शांत होती है और मानसिक तनाव दूर होता है। आहार, निद्रा और थकान अल्प मात्रा में होते हैं। शरीर हल्का, मन प्रसन्न और इन्द्रिय-जय पर्याप्त मात्रा में होता है।

इन्द्रिय-जय

शारीरिक व्यग्रता अनेक निमित्तों से होती है। उसमें इन्द्रिय भी निमित्त है। जब प्रवृत्ति बाह्य जगत से सम्बन्धित है तब इन्द्रिय जगत चंचल होता है। देखना, सुनना, गंध लेना, आस्वादन करना या स्पर्श करना ये सारी प्रवृत्ति जो शरीर सम्बन्धी है वह इन्द्रिय विषयों से सम्बन्धित हैं। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि श्रवणेन्द्रिय शक्ति है और शब्द सुनाई न दे, आँखों की रोशनी है और रूप दिखाई न दे। मिर्चों की गंध तीखी होती है, नीबू का स्वाद खट्टा होता है। ये दोनों इन्द्रियों का विषय है।

गर्मी के मौसम में गर्मी की और सर्दी के मौसम में सर्दी की संवेदना होती ही है। गर्म हवा की स्पर्शना होते ही या ठंडी हवा की स्पर्शना होते ही मन ऊब जाता है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान शारीरिक ज्ञान है, इस ज्ञान का आवरण सघन है। जब तक अतीन्द्रिय स्तर का विकास नहीं होता तब तक आवरण पतला नहीं होता। शारीरिक व्यग्रता को रोकने की सफलता नहीं होती। व्यग्रता को रोकने का उपाय इन्द्रिय आसक्ति से पर अनासक्त हो जाना है। मन की स्थिरता का अभ्यास करने से इन्द्रिय-जय आसाक्ति से पर हो सकता है। एकाग्रता का अभ्यास करने पर क्रमशः आसक्ति से औदासिन्यता आती रहेगी और अनासक्ति भाव परिपक्व होता जायेगा।

आसक्ति से कषाय भाव उत्पन्न होता है। जैसे ही इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होती जायेंगी, कषाय भाव से निवृत्ति होती जायेगी।

क्रोध निवृत्ति का उपाय क्षमा की प्रवृत्ति है।
मान निवृत्ति का उपाय मृदुता का व्यवहार है।
माया निवृत्ति का उपाय ऋजुता का अभ्यास है।
लोभ निवृत्ति का उपाय संतोष का अनुभव पाना है।

इन्द्रिय-जय से शारीरिक लाभ होता है और कषाय-जय से मानसिक लाभ होता है। इस प्रकार काययोग द्वारा मानसिक और वाचिक दोनों प्रकार की विशुद्धि होती है।

प्राणवायु-जय

प्राण है तो जीवन है, जीवन है तो प्राण है। अतः शरीर में प्राण का स्थान सर्वोपरि है। इससे हमारे स्थूल शरीर से पर तैजस शरीर में कार्य संचालित होता है। हमारी धारणा होती है कि जो श्वासोच्छ्वास ले रहे हैं, उसका आयाम ही प्राणायाम है, किन्तु वह धारणा स्थूल है नथुनों से जो वायु ग्रहण किया जाता है, उसे प्राणवायु (ऑक्सीजन) कहा जाता है। प्राण वायु और प्राण दोनों एक नहीं। प्राण का सम्बन्ध चेतना से जुड़ा हुआ है। प्राणवायु का सम्बन्ध स्थूल शरीर से जुड़ा है।

तैजस शक्ति और चैतन्य शक्ति—इन दोनों का योग होते ही प्राण की उत्पत्ति होती है। हमारे शरीर में मूलाधार चक्र है, जहाँ सुषुम्ना का प्रवेश द्वार है। मूलाधार और सुषुम्ना ही प्राण शक्ति प्रगट होने का स्थान है। इसी स्थान से प्राणशक्ति संचारित होती है। सुषुम्ना से लेकर यह प्राणशक्ति मस्तिष्क तक पहुँचती है। नीचे से ऊपर तक इस शक्ति को ले जाने वाला योगी ही होता है। योगी की शक्ति ऊर्ध्वगामी होती है और भोगी की शक्ति अधोगामी होती है। भोग से रोग बढ़ता है और योग से तन और मन दोनों की स्वस्थता बढ़ती है। प्राणवायु से प्राण विशुद्ध होता है। प्राणवायु विशुद्ध होगा तो प्राण उत्तेजित होगा। प्राण उत्तेजित होगा तो रक्त समूचे शरीर में सक्रिय रूप में संचरित होगा।

रक्त का संचार हृदय द्वारा होता है। हृदय से रक्त फेफड़ों में जाता है। प्राणवायु (ऑक्सीजन) से फेफड़े विशुद्ध होते हैं और फेफड़ों से रक्त विशुद्ध होता है। इस प्रकार प्राणवायु विशुद्ध होगा तो अशुद्ध रक्त को शुद्ध कर कार्बन आदि को शरीर से निकाल दिया जायेगा और ऑक्सीजन द्वारा रक्त शुद्धि प्रवाहित होती जायेगी। प्राणवायु शुद्ध है तो रक्त शुद्ध है, प्राणवायु दूषित है तो रक्त भी दूषित है। दूषित रक्त समूचे शरीर को रुग्ण बना देता है अतः शुद्ध वायु रक्त को शुद्ध बनाता है। शुद्ध रक्त शरीर को निरोगी बनाता है और निरोगी शरीर से प्राण को बल मिलता है।

जहाँ प्राणवायु पहुँचता है, वहाँ प्राण उत्तेजित होता है। जहाँ प्राणवायु नहीं पहुँचता वहाँ रक्त का शोधन नहीं होगा। जहाँ रक्त का शोधन नहीं होगा वहाँ अनेक विकृत्तियाँ बढ़ती जायेंगी। इन विकृतियों को दूर करने का उपाय है प्राणायाम। प्राणायाम द्वारा प्राणवायु की साधना सिद्ध होती है। जो प्राणायाम को जानता है, वह प्राणवायु का शोधन करना जानता है। प्राणायाम के बिना प्राणवायु का सम्यक् उद्दीपन नहीं होता और प्राणवायु की शुद्धि के बिना प्राणायाम की साधना अपूर्ण है।

प्राणायाम द्वारा तैजस-लब्धि सम्पन्न होती है। तैजस लब्धि द्वारा नाना प्रकार की ग्रंथियाँ, चक्र आदि जाग्रत होते हैं। ग्रंथियाँ या चक्र जागृत होने से प्राणधारा जो टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती थी, वह सरल, सीधी हो जाती है। प्राणधारा सहज होते ही शारीरिक और मानसिक स्वस्थता प्राप्त होती है। विपरीत वातावरण में भी शान्ति का अनुभव होता है। अनेक सिद्धियाँ और लब्धियाँ जाग्रत होती हैं। अपने विचारों से दूसरों को प्रभावित करने की क्षमता बढ़ती है। प्राणायाम की साधना से एक ऐसी चुम्बकीय शक्ति प्राप्त होती है, जिससे दुर्बल से दुर्बल मानव भी सबल होता है। उसके आभा मंडल से अनेक ऊर्जाएँ स्फूरायमान होती हैं। इस प्रकार इन ऊर्जाओं से नाड़ीतन्त्र-स्वरतन्त्र शुद्ध होता है और नाभि, हृदय-फेफड़े, मस्तिष्क आदि सुदृढ़ होते हैं।

जब प्राण वायु का क्रम मेरुदण्ड (Medulla Oblongata) में होकर किया जाता है तब मूलाधार से वायु ऊर्ध्वगामी होता हुआ मस्तिष्क तक पहुँचता है और आज्ञाचक्र द्वारा नथुनों से बाहर निकलता है।

नाड़ी-तन्त्र

साधना के क्षेत्र में चक्र के साथ नाड़ी तत्त्व का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण है। शरीर में नाड़ी तत्त्व का विशेष उपयोग होता है क्योंकि सभी नाड़ियों से शरीर में शक्ति का संचार होता है। तैजस शक्ति और चेतना शक्ति का माध्यम नाड़ी शक्ति है। यही सम्पूर्ण शक्ति स्थूल शरीर में प्रवाहित होती है।

वैज्ञानिकों के अनुसार प्राणशक्ति और नाड़ीशक्ति जैव विद्युत (Biological Electric) है। सिर से पैर तक सम्पूर्ण शरीर में जो नाड़ीतन्त्र प्रसारित हुआ है उसका सम्बन्ध तैजस शक्ति से जुड़ा हुआ है।

सुषुम्ना नाड़ी सर्वोत्तम नाड़ीतन्त्र है। इस तन्त्र का प्राण शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। नाड़ीतन्त्र जितना विशुद्ध और बलवान होगा प्राणशक्ति उतनी ही प्रबल होती है। नाड़ीतन्त्र की विशुद्धि स्वर नियन्त्रण से होती है। हमारे दाएँ और बाएँ नथुने से जो वायु प्रसारित होती है वह इड़ा और पिंगला नाड़ी से निकलता है और दोनों नथुने से निकलता है। वह सुषुम्ना नाड़ी से प्रसारित होता है।

इस प्रकार तीनों नाड़ियाँ प्राणवायु से सम्बन्धित है अतः तीनों नाड़ियों से विद्युत् प्रवाह प्रसारित होता है। धन (Positive) और ऋण (Negative) विद्युत्। दोनों विद्युत् भिन्न-भिन्न धारा (Waves)में प्रवाहित होती है। शरीर के ऊपर के विभाग में धन विद्युत् है और नीचे के विभाग में ऋण-विद्युत्। उत्तरी ध्रुव में धन विद्युत् है, दक्षिणी ध्रुव

में ऋण विद्युत् है। यदि हमारा मस्तिष्क उत्तर में और पैर दक्षिण में होंगे तो ऋणात्मक विद्युत् का घर्षण होगा, स्वास्थ्य में हानि होगी, विचारों में विकृतियाँ होंगी और मानसिक तनाव उत्पन्न होगा।

आकृति नं. २

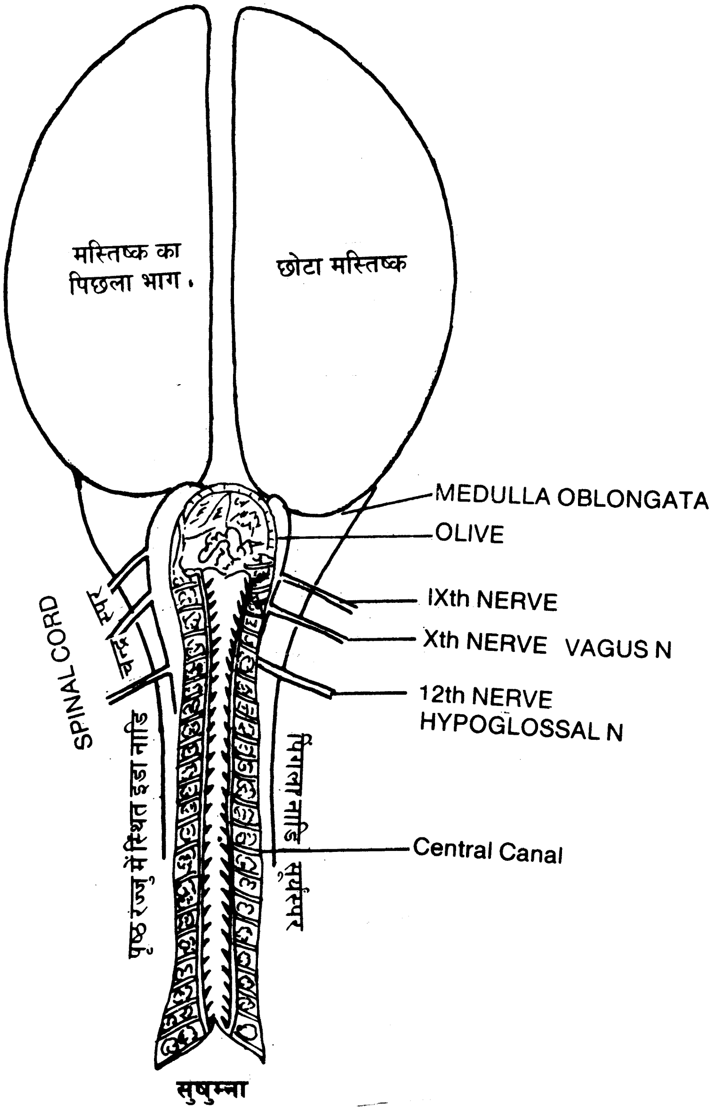

मन का स्थान मस्तिष्क है। मस्तिष्क के पिछले हिस्सों से अर्थात् मेडुला ओब्लोंगेटा से सम्पूर्ण शरीर में संदेशा मिलता है जैसे—इच्छा, द्वेष, सुख-दुख, ज्ञान, संकल्प आदि इसी में उत्पन्न होते हैं। यदि मस्तिष्क में वृत्तियों का आवेग होता है और गड़बड़ी होती है तो मन भोग के उपभोग से भ्रष्ट हो जाता है। छोटा मस्तिष्क (Cerebellum) से इड़ा-पिंगला और सुषुम्ना तीनों का प्रवाह दो प्रकार से होता है। [जैसा आकृति 2 में दिखाया गया है।]

१. धन विद्युत् (Positive) ऊपरी विभाग में है ऋण विद्युत् (Negative) नीचे के विभाग में है। इस प्रकार सुषुम्ना से सहस्त्रसार तक धन विद्युत् और ऋण विद्युत् सेतु की तरह विद्यमान है। अतः उत्तरीय ध्रुव में धन विद्युत होने से यदि मस्तिष्क रखकर सोवे तो Physical body में तनाव पैदा होता है। Etheric body में रासायनिक परिवर्तन होता है और Astrol body में कर्म-विपाक संक्रमण रूप में परिवर्तन होता है।

प्राप्तिक्रम का निरीक्षण

१. शारीरिक आकर्षण-योग है।

२. इन्द्रियजय, आसनजय वायु-श्वासोश्वासजय, शिथिलीकरण आदि प्रयोग है।

३. कायोत्सर्ग से स्थिरीकरण काय-गुप्ति अयोग है।

इस स्थूल शरीर को स्थिर करने का उपाय है काय-गुप्ति। काय-गुप्ति से विवेक-चेतना जागृत होती है। काय-गुप्त की साधना का प्रारम्भ होते ही शारीरिक ममत्व टूटता है, शरीर और मैं भिन्न हैं ऐसी प्रतीति होती है। काय-गुप्ति का अर्थ केवल प्रवृत्ति का विसर्जन ही नहीं है, किन्तु शरीर की मूर्च्छा का टूट जाना है, अर्थात् देह मूर्च्छा न होना ही काय-गुप्ति की साधना है। काय-गुप्ति की साधना से कायोत्सर्ग की साधना सधती है।

सहज निवृत्ति का प्रयोग भोग को योग में और कायोत्सर्ग राग को त्याग में परिवर्तित करने का सामर्थ्य जगाता है। इस प्रकार काय-गुप्ति कायोत्सर्ग के प्रयोग से अयोग तक पहुँचकर सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है।

३

साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

तृतीय चरण (पृष्ठ ३३ से ५० तक)

१. तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति का उपाय—ज्ञान

२. यथार्थ मार्ग का आधार—दर्शन

३. कुशल प्रवृत्तियों का प्राण—चारित्र

४. योगाधिकारी की उपज से मार्गान्तरीकरण

   १. योग श्रेणी

   २. योग दृष्टि

   ३. योग भूमि

   ४. शब्द, विषय और प्रक्रियात्मक रूप से सादृश्य-वैदृश्य

५. भाव विश्लेषण—उदय, क्षयोपक्षम, परिणाम

३. साहित्यिक योग में अनुशीलन के प्रयोग

जैनागमों में योग की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन करने के पश्चात् उसी आधार से इतर जैन साहित्य में भी जैन योग की प्रक्रिया का प्रयोग प्रस्तुत किया जा रहा है–

आचार्यों ने योग विषयक सभी ग्रंथों में उन सब प्रयोगात्मक पद्धति को योग कहा हैं, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मलका नाश होता है और आत्मा का मोक्ष के साथ संयोग होता है।[१] मोक्ष का समायोजन दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी पर समाधृत है। साधना के विकास यान पर आरूढ़ आत्मा के लिए इन तीनों सात्विक प्रयोगों को अनिवार्यतः अंगीकार्य माना गया है। अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के एक आत्मा में संमिलन संयोग या सम्बन्ध को निश्चय-नय से योग कहा जाता है।[२]

सम्यग्दर्शन

निश्चय योग में मुख्यतः धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश होता है। यहाँ सम्यग्दर्शन धारणा को सिद्ध करता है। उमास्वाति के शब्दों में "तत्वरूप" पदार्थों की श्रद्धा अर्थात् दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन है।[३]

श्री हेमचन्द्राचार्य के शब्दों में–श्री जिनेश्वर–कथित जीवादि तत्वों में रुचि होना सम्यक्-श्रद्धा (दर्शन) है।

सम्यग्दर्शन का सामान्यतः अर्थ सत्य का साक्षात्कार करना है। सत्य का पूर्ण साक्षात्कार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा सम्भव न होने से सत्यभूत जो नव तत्व बतलाए गए हैं उनके सद्भाव में विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।[४] इन तथ्यों में श्रद्धा करने पर चेतन-अचेतन का भेदज्ञान, संसार के विषयों से विरक्ति, मोक्ष के प्रति झुकाव, परलोकादि के सद्भाव में विश्वास और चेतनमात्र के प्रति दयादिभाव उत्पन्न होते हैं।

---

१. योगविंशिका गा. १
२. योगशतक श्लो. २ की टीका
३. तत्त्वार्थ सूत्र १/२
४. उत्तराध्ययन २८/१५

इस प्रकार के भावों के उत्पन्न होने पर जीव धीरे-धीरे सत्य का पूर्ण साक्षात्कार कर लेता है अतः जैनदर्शन में यौगिक प्रयोग प्रणालिका में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वोपरि है।

सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान का भी स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है। प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि तत्वों का संशय विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित यथार्थ बोध सम्यगज्ञान कहलाता है।[५]

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान का अर्थ है—सत्यज्ञान। यहाँ सत्यज्ञान से तात्पर्य घट-पटादि संसारिक वस्तुओं को जानना मात्र नहीं है अपितु मोक्षप्राप्ति में सहायक तथ्यों का ज्ञान अभिप्रेत है अर्थात् सम्यग्दर्शन से जिन ९ तथ्यों पर विश्वास किया गया था उनको समुचित रूप से जानना।

सम्यकचारित्र

समस्त सावद्य-सपाप व्यापारों (मन-वचन-काया) के योगों का ज्ञान-पूर्वक त्याग करना चारित्र है। चारित्र जब सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषायादि भाव अर्थात् राग द्वेष और योग की निवृत्ति होने पर स्वरूप रमणतायुक्त होता है तब वही प्रयोगात्मक चारित्र सम्यकचारित्र कहा जाता है।

सम्यक्चारित्र से समाधि सिद्ध होती है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन धारणा स्वरूप, सम्यग्ज्ञान ध्यान स्वरूप और सम्यग्चारित्र समाधि स्वरूप सिद्ध होता है। धारणायोग से किसी भी शुभ ध्येय में चित्त को स्थित करने की कला प्राप्त होती है और उसके ध्यान की कला प्रगट होती है। श्रुतज्ञान के योग से भावना ज्ञान की प्राप्ति होती है और भावना के सातत्य से ही ध्यान की सहज प्राप्ति होती है। ध्यान और ज्ञान की अभिरुचि की तीव्रता बढ़ते ही तन्मयता सिद्ध होती है एवं सूक्ष्म अर्थ के पर्यालोचन से संवेग और स्पर्श योग की प्राप्ति होती है।[६] इस प्रकार "योग" तत्वज्ञान की प्राप्ति का परम उपाय है।[७] अध्यात्म-मार्ग का आधार है[८] और कुशल प्रवृत्ति का प्राण है।[९]

---

५. तत्त्वार्थ राजवर्तित—१/१/२
६. तत्त्वार्थ राजवार्तित—१/१/२
७. षोडशक-१४ श्लो. १ की टीका
८. योगशतक श्लो. १ की टीका
९. योग बिन्दु श्लो. ६८

सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साधन रूप को, जैसे गुरुविनय, शास्त्रश्रवण, यथाशक्य व्रत–नियम इत्यादि धर्म अनुष्ठान को, व्यवहारयोग कहते हैं ।[१०]

ध्यानशतक आवश्यक हरिभद्रीयटीका में ज्ञानादि भावना के प्रयोग को भी योग कहा है।[११]ज्ञान भावना से अज्ञान दूर होता है क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश है, तप शोधक है और संयम गुप्ति रूप है ; इन तीनों के समन्वय को भी आचार्य श्री भद्रबाहु ने निर्युक्ति में योग कहा है ।[१२]

वार्तिककारों ने वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य लब्धि को भी योग कहा है। ऐसे सामर्थ्य वाले आत्मा का मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को भी योग कहते हैं ।[१३]इन मनोवर्गणादि के निमित्त से आत्मप्रदेशों में कभी हलन-चलन होता है[१४]तो कभी संकोच विकोच एवं परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है, इत्यादि समस्त प्रक्रिया योग कही जाती है ।[१५]

जैनागम चैतन्य की अभिव्यक्ति का अनुभव उसका आनन्द और विज्ञान की प्रवृत्ति के सिवाय दूसरे कार्यों में प्रवृत्ति करने की संमति ही नहीं देता, यदि अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करनी आवश्यक हो तो वह है निवृत्तिमय प्रवृत्ति और वही उसे मान्य है।

विज्ञान भोगजन्य शक्तियों का मापदंड निकाल सकता है, मानव को सुख-सुविधाओं का साधन दे सकता है, किन्तु उन साधनों से उपार्जित मानसिक तनाव, वासनात्मक शारीरिक अभिशाप या विनाश नहीं रोक सकता। लाखों वैज्ञानिक मिलकर भी एक रक्त की बूंद नहीं बना सकते हैं; और न कार्बोनिक रसायनों का रहस्य पाकर उनके जैसे रसायन उत्पन्न कर सकते हैं ।

एडिंग्टन जैसे अग्रणी वैज्ञानिक कहते हैं कि इस भौतिक जगत् का चेतना के साथ यदि अनुसंधान नहीं है तब तो जीव और पुद्गल कल्पना मात्र ही रहेगा।

अनिन्द्रिय विषय का संवेदन हमारे अनुभव में आवे या न आवे पर समग्र सत्य विज्ञान का उद्भव उसी में से होता है ।[१६]ऐसा अवश्य मान्य है । स्वयं विज्ञान ही तत्वज्ञानियों द्वारा निरूपित सत्यों को उद्घोषित करते हैं । अध्यात्मयोगियों के प्रति

---

१०. योगशतक श्लो. २२ की टीका पृ. १२
११. ध्यानशतक गा. ३६, आवश्यक हारिभद्रीय टीका पृ. ५९२
१२. आवश्यक निर्युक्ति (भद्रबाहुकृत) गा. १०३, पृ. ४३४
१३. राजवार्तिक ९/१७/११/६०३/३३
१४. सर्वार्थसिद्धि-२/२६/१८३/१
१५. धवला १०/४, २, ४, १७५/४३७/७
१६. Dr. Albert Einstein ibid, p. 117

अहोभाव व्यक्त करते हैं क्योंकि सत्य की खोज ऋषियों द्वारा उस समय हुई थी जबकि पाश्चात्य संस्कृति अपनी बाल्यावस्था में मिट्टी में खेलती थी।[१७]

शब्द शास्त्र में भी शब्द रूपमन्त्र शुद्धि को यौगिक-प्रयोग का द्वार मानकर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है।

कर्मशास्त्र का भी आखिरी उद्देश्य मोक्ष ही है। इस प्रकार भारतीय साहित्य का कोई भी स्रोत क्यों न हो अंतिम ध्येय मोक्ष ही रहा है।

व्यवहार हो या परमार्थ, किसी भी विषय का ज्ञान आचरण के बिना परिपक्व नहीं हो सकता और आचरण ही योग है। सच्चा ज्ञानी ही योगी माना जाता है क्योंकि ज्ञान का प्रकाश सूर्य के प्रकाश से अनेक गुना अधिक गतिमान होता है।[१८]

योग का उपभोग योग का शरीर है और योग का उपयोग योग की आत्मा है। निवृत्ति रूप प्रवृत्ति का अभ्यांस ही जैन उपयोग का आदर्श रहा है।[१९]साधुचर्या में पंच महाव्रत आदि यम, तप, स्वाध्याय आदि नियम; पर्यंकासन, वीरासन, उत्कटिकासन आदि आसन, कायोत्सर्ग आदि मुद्रा इत्यादि इन्द्रियजय होता है।

नाड़ी विज्ञान, सुषुम्ना का उत्तेजन और प्राणवायु की विशुद्धि प्राणायाम है, जिससे तैजस जाग्रत होता है।

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि मनोज्ञ-अमनोज्ञ वासनात्मकजय प्रत्याहार है।

साध्वाचार का जयणाजोग[२०]स्वाध्याय आदि धारणा है। चार प्रहर में तीन प्रहर स्वाध्याय और ध्यान की मुख्यता होती है अतः साधुचर्या में स्थित रहना ही ध्यान माना गया है।

ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद आलंबन आदि का विस्तृत वर्णन का भी स्पष्टीकरण आगम और साहित्य में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है।

---

१७. Paul Brunton, The Hidden Teaching Beyond
सूर्य-चन्द्र ग्रह का प्रकाश पृथ्वी से तारों का अन्तर बताने के लिए विज्ञान द्वारा स्वीकृत परिणाम है प्रकाशवर्ष। एक प्रकाशवर्ष यानि एक सैकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील लगभग तीन लाख किलोमीटर के वेग से गति करता प्रकाश एक वर्ष में जितना अन्तर काटे उतना अन्तर। चन्द्र से पृथ्वी तक-लगभग सवा दो लाख मील अर्थात् ३,८४,००० किलोमीटर आने में प्रकाश को लगभग सवा सैकण्ड लगता है। नौ करोड़ और तीस लाख मील-१४ करोड़ ८८ लाख किलोमीटर दूर रहे सूर्य में से निकलकर पृथ्वी तक आने में प्रकाश को करीब आठ मिनट (५०० सैकिण्ड) लगते हैं और नैप्चून के तेज को हमारी आँख तक पहुँचने में चार प्रकाश घण्टे लगते है, अर्थात् पृथ्वी से चन्द्र सवा प्रकाश सैकण्ड, सूर्य लगभग सवा आठ प्रकाश मिनट और नैप्चून चार प्रकाश घण्टे दूर कहा जायेगा।

१८. Yoga, p-11

१९. उत्तराध्ययन-अ. २४/२३

२०. उत्तराध्ययन-अ. २६/१२

निर्युक्ति में भी उपर्युक्त अंगों का विश्लेषण स्थान-स्थान पर पाया जाता है।[२१]

तत्त्वार्थ सूत्र[२२]और ध्यान शतक[२३]में भी ध्यान सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है किन्तु आगम और निर्युक्ति की अपेक्षा विशेष जानकारी नहीं मिलती है।

आत्मिक विकास क्रम के रूप में चौदह गुणस्थान, चार ध्यान, बहिरात्म आदि तीन अवस्थाएँ इत्यादि साहित्य में भी शुभ योग प्रवृत्ति का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है।

शुभयोग का क्रमिक विकास योग साहित्य में कायाकल्प के रूप में हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशतक, योगविंशिका, षोडशक आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में योग सूत्र में वर्णित योग प्रक्रियाओं के पारिभाषिक शब्दों का मिलान भी किया गया है।[२४]इन ग्रन्थों में दो ग्रंथ संस्कृत में और दो ग्रन्थ प्राकृत में हैं।

योगबिन्दु

योग-बिन्दु में आचार्यश्री ने योग की उत्पत्ति का विशेष विवेचन किया है। इस विवेचन में पुद्गलावर्त शब्द का जो प्रयोग है वह अपने आप में महत्वपूर्ण है। पुद्गल अर्थात् रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि मूर्तद्रव्य और आवर्त मनोज्ञ अमनोज्ञ संयोग। जीव अनादि-अनन्त काल से शरीर, वचन और मन द्वारा ऐसे पुद्गलों का ग्रहण और विसर्जन करता रहता है। संसार प्रवाह की आदि कर ज्ञान हो या न हो किन्तु अन्त तो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य किया जाता है किन्तु साध्य की सिद्धि का उपाय असाध्य तो नहीं पर दुष्कर अवश्य है। साध्य की सिद्धि का उपाय आचार्य श्री ने योग बिन्दु में शुभ योग द्वारा साध्य किया है। जैसे—गुरु, देव आदि की १- भक्ति, २. सदाचार, ३. तप, ४. मुक्ति के प्रति अद्वेष। इन चारों मार्ग से प्रवेश पाने के पश्चात् साधक योगमार्ग का अधिकारी होता है जैसे—

१. अपुनर्बन्धक, २. सम्यग्दृष्टि, ३. देश विरति और ४. सर्वविरति।

१. अपुनर्बन्धक दर्शन मोह का अंश होने पर भी क्रमशः योगवृद्धि साधकर ग्रंथि भेद तक की साधना

---

२१. आवश्यक निर्युक्ति गा. १४६२-८६
२२. तत्त्वार्थ-अ. ९/२७
२३. हारिभदिय आवश्यक वृत्ति पृ. ५८१
२४. योगबिन्दु-श्लो. ४१८-२०

२. सम्यग्दृष्टि चरित्रबल के प्रति अनुराग, दर्शन मोह के उपशम या क्षय से मोक्षाभिमुख, भावयोग और अनुष्ठान में अन्तर्विवेक।

३. देशविरति : संक्लेश का ह्रास, श्रद्धा, पुरुषार्थ, यथायोग्य प्रयत्न, अध्यात्म भावना, ध्यान समत्व, वृतिसंक्षयं का परमार्थ देश विरति में प्रारम्भ होता है। जिसे योगबीज भी कहते हैं।

४. सर्वविरति : देश विरति का व्यापक रूप जैसे—मैत्री आदि का चिन्तन करना अध्यात्मयोग है। इससे पापक्षय, वीर्योत्कर्ष और चित्त समाधि अध्यात्मका पुनः अभ्यास भावना योग है। भावना द्वारा चित्तगत उपयोग से एक विषय पर एकाग्र होना ध्यान योग है। इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के प्रति तटस्थता समत्व योग है, और वृत्तियों का जड़ मूल से नाश तथा मोक्ष की प्राप्ति-वृत्ति संक्षय योग है।

योगाधिकारी के भेदं

कोष्टक नं. २

योग के अधिकारी

अपुर्नबन्धक	सम्यक्त्वि	देशत : चारित्री	सर्वत : चारित्री
आसन्नभवि चरमपुद्गलपरावर्ति भवाभिनन्दि दोष रहित उत्कृष्ट सात कर्मों की स्थिति के अपुर्नबन्धक।	लक्षण शम, संवेग, निर्वेद अनुकम्पा आस्तिक्य भूषण जैन शासन में स्थिरता, प्रभावना, भक्ति, कौशल और सेवा। दोष-निवारण शंका, कांक्षा विचिकित्सा मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा, मिथ्यादृष्टि-संस्तव।	अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, आदि पाँच अणुव्रत चार शिक्षाव्रत तीन गुणव्रत, सप्तदुर्व्यसन त्याग मार्गानुसारी आदि गुण।	पाँच महाव्रत पाँच समिति, तीनगुप्ति, १० धर्म, बावन अनाचीर्ण, बारह भावना इत्यादि।

इस प्रकार अपुनर्बन्धक से सर्वविरत तक योग का उपाय आचार्यश्री ने अध्यात्मयोग आदि योग रूप पाँच भूमिकाओं द्वारा प्रस्तुत किया है। इस प्रकार आचार्यश्री ने पूर्व सेवा से प्रारम्भ करके वृत्ति संक्षय और मोक्ष तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया योगबिन्दु में दर्शायी है। पूर्व सेवा से समत्वयोग तक सम्पूर्ण संवर योग वृत्तिसंक्षय योग के उपायजन्य होने से वृत्तिसंक्षय योग की पूर्व भूमिका ही कही जा सकती है। पातंजलि योगसूत्र में असंप्रज्ञात योग ही प्रमुख योग है किन्तु सम्प्रज्ञात योग की सम्पूर्ण प्रवृत्ति योग की भूमिका तक ही मान्य कही गई है। अतः योग की इन पाँचों भूमिकाओं में से प्रथम चार भूमिकाओं की पतंजलि सम्मत सम्प्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम वृत्तिसंक्षय योग असंप्रज्ञात समाधि के साथ तुलना होती है।[२५]

योगदृष्टिसमुच्चय

योगदृष्टिसमुच्चय में आने वाला आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन योग बिन्दु के वर्णन से परिभाषा, वर्गीकरण तथा शैली में कुछ भिन्न है। योगबिन्दु के कई विषयक इसमें शब्दान्तर से आते हैं तो दूसरे कई विषय नये भी परिलक्षित होते हैं।

इसमें जीव की अचरमावर्तकालीन-अज्ञानकालीन अवस्था को ओघदृष्टि और चरमावर्तकालीन-ज्ञानकालीन अवस्था को योगदृष्टि कहा है। ओघदृष्टि में प्रवृत्ति करने वाले भवाभिनन्दी का वर्णन योगबिन्दु (श्लोक १२-५, ७६) से मिलता-जुलता है।

ग्रन्थ में योग भूमिका के तीन वर्गीकरण मिलते हैं। एक में योग की प्रारम्भिक योग्यता से लेकर उसके अन्त तक की भूमिकाओं को कर्ममल के तारतम्य के अनुसार आठ भागों में बाँटकर उन्हें आठ योगदृष्टि कहा है। जैसे—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। (श्लोक १३) यह विभाग पातंजल दर्शन में प्रसिद्ध यम, नियम आदि आठ योगांगों के[२६]आधार पर तथा खेद, उद्वेग आदि बौद्ध परम्परा में प्रसिद्ध आठ पृथग्जनचित्तों के अर्थात् दोषों के[२७]परिहार के आधार पर और अद्वेष जिज्ञासा आदि आठ योगगुण के[२८]प्राकट्य के आधार पर किया गया है [श्लोक १६]

योग बिन्दु में वर्णित पूर्व सेवा आदि का वर्णन भी इसमें योगबीज रूप में कुछ विस्तार से मिलता है।

---

२५. योगबिन्दु श्लो. ४१९-२१
२६. योगसूत्र-२-२९
२७. षोडशक-१४, श्लो. २ से ११
२८. षोडशक-१६-१४

दूसरा वर्गीकरण इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग इस प्रकार तीन भाग में है। तीसरे वर्गीकरण में योगियों को चार भाग में बाँटा गया है—१. गौत्रयोगी, २ कुलयोगी, ३. प्रवृत्तचक्रयोगी तथा ४. सिद्धयोगी। इनमें से बीच के दो को योग का अधिकारी माना है। पहले में योग्यता का अभाव होने से वह अनधिकारी है और सिद्धयोगी को तो योग की आवश्यकता ही न होने से वह अनधिकारी है।

[श्लोक २०८-१२]

योगशतक

योगशतक योगबिन्दु के साथ सबसे अधिक साम्य रखता है। योगबिन्दु की बहुत-सी योगवस्तु योगशतक में संक्षेप में आ जाती है।

इसमें प्रारम्भ में निश्चय एवं व्यवहार का स्वरूप दिखलाया है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनों का आत्मा के साथ का सम्बन्ध निश्चययोग है (गाथा २), जबकि इन तीनों के कारणों को व्यवहार योग कहते हैं। (गाथा ४)

योगविंशिका

इस ग्रन्थ में योग वस्तु का बहुत ही संक्षेप में निरूपण किया गया है। इसमें आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन नहीं है, पर बाद की विकसित अवस्थाओं का ही निरूपण है। योग के मुख्य अधिकारी रूप से चारित्री का निर्देश करके उसके आवश्यक धर्मव्यापार को योग कहा है और योग से भी प्रस्तुत में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन और अनालंबन जैसे पाँच योग भेद अथवा भूमिकाएँ अभिप्रेत है। (गाथा २) इनमें से आलंबन एवं अनालंबन इन दो का ही अर्थ मूल (गाथा १९) में है।

योगशास्त्र और जैनदर्शन का साम्य

योगशास्त्र और जैन-दर्शन का सादृश्य मुख्यतया तीन प्रकार का है। १ शब्द का २ विषय का और ३ प्रक्रिया का।

१. मूल योगसूत्र में ही नहीं किन्तु उसके भाष्य तक में ऐसे अनेक शब्द हैं जो जैनेतर दर्शनों में प्रसिद्ध नहीं हैं, या बहुत कम प्रसिद्ध हैं, किन्तु जैन शास्त्र में खास प्रसिद्ध हैं। जैसे—भवप्रत्यय,[२९] सवितर्क सविचार, निर्विचार[३०], महाव्रत[३१], कृत कारित,

---

तत्वार्थ आदि अन्य ग्रन्थ	योग सूत्र
२९. १-२२	१-१९
३०. ९-४३, ४४	१-४२, ४४
३१. ७-२ भाष्य	२-३१

अनुमोदित[३२], प्रकाशावरण[३३], सोपक्रम, निरूपक्रम[३४], वज्रसंहनन[३५], केवली[३६], कुशल[३७] ज्ञानावरणीयकर्म[३८], सम्यग्ज्ञान[३९], सम्यग्दर्शन[४०], सर्वज्ञ[४१], क्षीणकलेश[४२] चरमदेह[४३] आदि।

२. प्रसुप्त, तनु आदिक्लेशावस्था[४४], पाँच यम[४५], योगजन्य[४६] विभूति सोपक्रम निरूपमक्रम[४७] कर्म का स्वरूप, तथा उसके दृष्टान्त, अनेक कार्यों[४८] का निर्माण आदि।

३. परिणामि–नित्यता अर्थात् उत्पाद्, व्यय, ध्रौव्य रूप से त्रिरूप वस्तु मानकर तदनुसार धर्म का विवेचन-योगसूत्र सांख्यसिद्धान्तानुसारी होने से "ऋते चितिशक्तेः परिणामिनो भावाः" यह सिद्धान्त मानकर परिणामवाद का। उपयोग सिर्फ जड़भाग में अर्थात् प्रकृति में करता है, चेतन में नहीं और जैनदर्शन तो "सर्व भावाः परिणामिनः" ऐसा सिद्धान्त मानकर परिणामवाद अर्थात् उत्पादव्ययरूप पर्याय का उपयोग जड़-चेतन दोनों में करता है।

योग दर्शन में महर्षि पतंजली ने पाद १ सूत्र १ में चित्तवृत्ति का निरोध योग कहा है। इसी सूत्र की समीक्षा विषय पर उपाध्यायजी ने इस प्रकार की अपनी कलम चलाई है। पतंजलि के कथनानुसार चित्तवृत्तिनिरोध इस लक्षण में जो "सर्व" शब्द का ग्रहण उन्होंने इसलिए नहीं किया है कि यह लक्षण उभययोग साधारण है। सम्प्रज्ञात योग में कुछ वृत्तियाँ होती भी हैं। पर असम्प्रज्ञात में सब रुक जाती है। अगर "सर्वचित्तवृत्तिनिरोध" ऐसा लक्षण किया जाता तो असम्प्रज्ञात ही योग कहलाता

	तत्वार्थ आदि अन्य ग्रन्थ	योग सूत्र	
३२.	६-९	२-३१	
३३.	६-११	२-५२ तथा ३-४३	
३४.	२-५२	३-२२	
३५.	(अ. ८-१२) भाष्य	(३-४६)	
३६.	६-१४	२-२७ भाष्य	
३७.	दश. निर्युक्ति : १८६	२-२७ भाष्य	१८६
३८.	आवश्यक-८९३	२-५१ भाष्य	८९३
३९.	अ-१-१	२-२८ भाष्य	
४०.	१-२	४-१५ भाष्य	
४१.	३-४९	३-४९ भाष्य	
४२.	९-३८	१-४ भाष्य	
४३.	२-५२	२-४ भाष्य	
४४.	दश. अ. ४	२-३१	
४५.	आवश्यकनिर्युक्ति (गा. ६९, ७०)	२-३१	
४६.	आवश्यक निर्यक्ति (गाथा ९५६)	३-२२	
४७.	विशेषावश्यक भाष्य (३०६१)	३-२२ भाष्य	
४८.	२५२ भाष्य	४-४	

सम्प्रज्ञात नहीं । जबकि "चित्तवृत्तिनिरोध" इतना लक्षण किया है तब तो कुछ चित्तवृत्तियों का निरोध और सकल चित्तवृत्तियों का निरोध ऐसा अर्थ निकलता है, जो क्रमशः उक्त दोनों योग में घट जाता है। इसी विषय को लक्ष में रखकर उपाध्यायजी कहते हैं कि सर्व शब्द का अध्याहार न किया जाये या किया जाये, उभयपक्ष के सूत्रगत लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि अध्याहार न करने में सम्प्रज्ञात योग का तो संग्रह हो जाता है। पर विक्षिप्त अवस्था जो सूत्रकार को योग रूप में इष्ट नहीं है और जिनमें कुछ चित्तवृत्तियों का निरोध अवश्य पाया जाता है, उनमें अतिव्याप्ति होगी। यदि उक्त अतिव्याप्ति के निरास के लिए अध्याहार किया जाये तो सम्प्रज्ञात में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें सब चित्तवृत्तियाँ नहीं रुक जाती। इस तरह "सर्व" शब्द का अध्याहार करने में या न करने में दोनों तरफ रज्जुपाशा होने से "क्लिष्ट" पद का अध्याहार करके "योगः" क्लिष्ट चित्तवृत्ति निरोधः इतना लक्षण फलित करना चाहिए, जिसमें न तो विक्षिप्त अवस्था में अतिव्याप्ति होगी और न सम्प्रज्ञात में अव्याप्ति। इस प्रकार क्लिष्ट, राजस और तामस वृत्तियों से युक्त जो चित्तवृत्ति है उसे पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप धर्मव्यापार से नियन्त्रित करना अथवा आस्रव का निरोध करना संवर योग है। अतः उपाध्यायजी के अनुसार "समितिगुप्ति साधारणधर्म व्यापार त्वमेव योगत्वम्[४९] जो धर्म व्यापार अर्थात् सद्‌भावोन्मुख या चेतनाभिमुख क्रिया-समिति गुप्ति स्वरूप है वही योग है, क्योंकि उसी से मोक्ष लाभ होता है।

इस तरह गुप्ति और समिति योग मुक्तिमार्ग के प्राप्त कराने में प्रमुख हेतु है। अतः चित्तवृत्ति निरोध लक्षण में जो भी बाधाएँ प्राप्त होती हैं उनका निराकरण समिति-गुप्ति के यथार्थ स्वरूप को समझ लेने पर ही हो सकता है। यहाँ इतना अवश्य ध्यान रहे कि मनः समिति में मन की शुभ प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं और मनोगुप्ति में मन की एकाग्रता और निरोध मुख्य है।

प्रमाण का लक्षण एवं जैन विचारधारणा

प्रथम पाद सूत्र ५ से ११ तक में पाँच वृत्तियों का निरोध करने योग निरूपण किया गया है। इन सूत्रों की समीक्षा, इस पर उपाध्याय जी ने अपनी कलम चलायी है कि इस प्रकार की ही एक सूत्रकार ने वृत्तियों के पाँच भेद किये हैं– १ प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा और ५. स्मृति, किन्तु ये वृत्तियाँ तात्त्विक नहीं हैं। केवल उनकी रुचि का परिणाम मात्र है। वस्तुतः प्रमाण और विपर्यय ये दो चित्तवृत्तियाँ ही सम्भव हैं। पिछली तीनों वृत्तियाँ यथार्थ तथा अयथार्थ उभयरूप देखी जाती है। अतः उनका समावेश उक्त दोनों वृत्तियों में हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्ति के दो ही विभाग

४९. उपाध्याय यशोविजयजी कृत व्याख्योपेत पातञ्जलि योगदर्शन पृष्ठ २

करने चाहिये। यदि किसी भी उपाय द्वारा अधिक विभाग किये जायें तो फिर पाँच ही क्यों ? क्षपोयशम भाव की अपेक्षा से असंख्यात विभाग भी किये जा सकते हैं।

इन वृत्तियों के विषय में यदि विचार किया जाये तो प्रमाण मन की वृत्तिरूप में नहीं है, क्योंकि प्रमाण तो ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान आत्मा का वस्तु स्वरूप जानने का व्यापार है तथा प्रमाण में स्मृति प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का भी समावेश होता है। यदि वह सत्य है तो प्रमाण में और असत्य है तो विपर्यय में समावेश होता है। उसी प्रकार संकल्प विकल्प भी सानुकूल-प्रतिकूल वस्तुवाला प्रतीत होता है। स्मृति में भी शान्ति और अशान्ति के निमित्त प्राप्त होते रहते हैं। उसमें भी अनेक प्रकार होते हैं। सत्य शान्ति होने पर प्रमाण और असत्य शान्ति होने पर विपर्यय होता है। अतः आर्हत सिद्धान्तानुसार दो ही वृत्तियों में पाँचों वृत्तियों का समाधान हो जाता है।[५०]

विषयेक न होते हुए भी जो बोध सिर्फ शब्दज्ञान के बल से होता है वह विकल्प है। यहाँ शब्द मात्र से अथवा अन्य वस्तु के देखने मात्र से अथवा मानसिक विचारों के योग से जो भाव उत्पन्न होते हैं उसे विकल्प कहा जाता है। पूर्ण वस्तु का प्रकाश न होने पर असत् ख्याति रूप में प्रसिद्ध होने से भी यह विकल्प कहा जाता है। **असतो नत्थि निसेहो**[५१]विशेष आवश्यक के कथनानुसार असद् वस्तु का सर्वथा निषेध नहीं हो सकता क्योंकि सद् वस्तु का विकल्प भी संभवित होता है। अतः सर्वथा वह असत् नहीं हो सकता।

जैसे आकाशकुसुम ऐसा कहने से एक प्रकार का भास हो ही जाता है। चैतन्य यह आत्मा का स्वरूप है। ऐसा सुनने से भी भास होता है। प्रथम प्रकार का विकल्प विपर्यय कोटी में सम्मिलित करना चाहिए, क्योंकि, आकाशकुसुम यह व्यवहार प्रमाण सम्मत नहीं है। दूसरे प्रकार का विकल्प जिसमें भेदबोधक षष्ठीविभक्ति के बल से आत्मा और चैतन्य का भेद भासित होता है वह नय अर्थात् प्रमाणांशरूप है। क्योंकि ऐसे विकल्प का व्यवहार शास्त्रीय और प्रमाणिक सम्मत है। प्रमाणांश करने का मतलब यह है कि, व्यवहार्ता की दृष्टि कभी भेद प्रधान और कभी अभेद प्रधान होती है। दोनों दृष्टियों को मिलाने से ही प्रमाण होता हैं। दृष्टि को अपेक्षा या नय कहते हैं। वस्तुतः आत्मा चैतन्य स्वरूप है, पर उसके अनेक स्वरूप में से जब चैतन्य स्वरूप का कथन करना हो तब भेद दृष्टि को प्रधान रखकर प्रामाणिक लोक भी ऐसा बोलते हैं कि चैतन्य यह आत्मा का स्वरूप है। इस कथन से यह सिद्ध है कि जो ''आकाश पुष्प'

५०. उपाध्याय यशोविजयजी कृत व्याख्योपेत पातञ्जल योगदर्शन पृष्ठ २

५१. विशेषावश्यक भाष्य गा. १५७९

आदि विकल्प अशास्त्रीय है वह सब विपर्ययरूप है और "चैतन्य यह पुरुष का स्वरूप है। "इत्यादि जो विकल्प शास्त्र सिद्ध है वह सब नयरूप होने से प्रमाण के एक देश रूप है।

निद्रावृत्ति एकान्त अभाव विषयक नहीं होती। उसमें हाथी, घोड़े आदि अनेक भावों का भी कभी-कभी भास होता है, अर्थात् स्वप्न अवस्था भी एक तरह की निद्रा ही है। इसी तरह वह सच भी होती है। यह देखा गया है कि अनेक बार जागृत अवस्था में जैसा अनुभव हुआ हो निद्रा में भी वैसा ही भास होता है, और कभी-कभी निद्रा में जो अनुभव हुआ हो वही जागने के बाद अक्षरशः सत्य सिद्ध होता है।[५२]

स्मृतिज्ञान, श्रुतज्ञान अनुमान और प्रत्यभिज्ञा द्वारा अनुभूत पदार्थों के ज्ञान द्वारा जिस आत्मा को सहकारि, चित्तवृत्ति होती है वह स्मृतिज्ञान कहलाता है। यह स्मृतिज्ञान भी यथार्थ और अयथार्थ उभय प्रकार का होता है। अतः विकल्प निद्रा और स्मृति का प्रमाण में तथा विपर्यय में अन्तर्भाव होता है। ये वृत्तियाँ सम्प्रग्ज्ञानियों को अक्लिष्ट रूप में होती है।

सोलहवें सूत्र में सूत्रकार ने योग के उपायभूत वैराग्य के ऊपर और पर ऐसे भेद किये हैं, उस पर उपाध्यायजी ने अपनी कलम चलाई है। पहला वैराग्य "आपात धर्म संन्यास" नामक है, जो विषयगत दोषों की भावना से परिलक्षित होता है।

दूसरा वैराग्य "तात्त्विक धर्म संन्यास" नामक है, जो स्वरूप चिन्ता से होने वाली विषयों की उदासीनता से उत्पन्न होता है। जिसका संभव प्रमत्त गुणस्थान से संवर्धन होता हुआ अप्रमत्त गुणस्थान, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म संपराय आदि गुणस्थानों में प्राप्त होता है। सम्यक् चारित्र रूप धर्म क्षायोपशमिक अवस्था-अपूर्णता को छोड़कर क्षायिकभाव पूर्णता को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर जीवात्मा को वैराग्य की प्राप्ति होती है।

वैराग्य की प्राप्ति होने पर आत्मज्ञानी योगी अपूर्व वीर्य द्वारा सप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है।

संप्रज्ञात और असप्रज्ञात समाधि का स्वरूप

शास्त्रवार्ता समुच्चय की स्याद्वादकल्पलता के टीकाकार का कहना है कि जैन दर्शन के शुक्लध्यान को ही महर्षि पतजली ने संप्रज्ञात समाधि नाम से अभिहित किया है तथा सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद बताये हैं—सवितर्क निर्कितर्क सविचार और निर्विचार।

---

५२. उपाध्याय यशोविजय जी कृत व्याख्योपेत **पातञ्जल योग दर्शन पृ.४**

सूत्रकार में विदेह और प्रकृति लयों में जो भवप्रत्यय (जन्मसिद्ध) योग का पाया जाना कहा है उसकी संगति जैन दर्शन के अनुसार लवसप्तम देवों– अनुत्तर विमानवासी–में करनी चाहिये, क्योंकि उन देवों को जन्म से ही ज्ञान योग रूप समाधि होती है। ये योगी देव और मनुष्य का एक भय पूर्ण करके कैवल्य ज्ञान और कैवल्य दर्शन को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, और मुक्त होते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि कार्मण शरीर पुद्गल विपाकी नहीं है। क्योंकि उससे पुद्गलों के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान आदि का आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिए योग को कार्मण शरीर से उत्पन्न होने वाला (औदयिक) मान लेना चाहिए। इसका समाधान नहीं में मिलता है, क्योंकि सर्व कर्मों का आश्रय होने से कार्मण शरीर भी पुद्गलविपाकी ही है। अर्थात् वह सर्व कर्मों का आश्रय या आधार है।

पुनः प्रश्न होता है कि कार्मण शरीर का उदय विनष्ट होने के समय में योग का विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मणशरीरजनित है, ऐसा मानना चाहिए? इसका उत्तर भी नहीं में है, क्योंकि, यदि ऐसा माना जाये तो अघाति-कर्मोदय के विनाश होने के अनन्तर ही विनष्ट होने वाले पारिणामिक भव्यत्व भाव के भी औदयिकपन का प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचम से योग का पारिणामिकत्व सिद्ध हुआ।[५३]

राग-द्वेष, वैर-विरोध, संघर्ष-क्लेश आदि की धाराएँ, मन में गहरे सस्कार जमाती हैं फलस्वरूप वही संस्कार ग्रंथियों का रूप धारण करती है। अमोनिया पर जल का प्रवाह बर्फ बन जाता है वैसे ही वृत्तियों का आवेग और संवेग ग्रन्थि के रूप में जम जाता है और अवचेतन मन में अवस्थित रहता है।

कोष्ठक नं. 3

	मन	चेतना	शरीर
१.	अचेतन मन [Unconscious mind]	गुप्त चेतना	स्थूल-औदारिक शरीर [Physical body]
२.	अवचेतन मन [Sub-conscious mind]	अप्रकट चेतना	सूक्ष्म-तैजस शरीर [Etheric body]
३.	चेतन मन [Conscious mind]	प्रकट चेतना	सूक्ष्मतम-कार्मण-शरीर [Astrol body]

५३. धवला–५/१, ७, ४८/३२५/१०

कार्मण शरीर से तैजस शरीर उत्तेजित होता है और तैजस शरीर से औदारिक और औदारिक शरीर से ग्रन्थियों का निर्माण होता है।

जैसे आपका एक्सीडेन्ट हो गया, आप भयभीत हो गये। चोट औदारिक शरीर को हुई जो स्थूल है अब भय चेतन मन से अवचेतन मन में चला गया वह ग्रन्थि बन गया। चेतन मन आपको कार्य में व्यस्त रखता है लेकिन जब भयावनी बातें सुन लेते हो तो मनोग्रन्थि उभर कर चेतन मन में जाग्रत हो जाती है और आप भयभीत हो जाते हो या चीखने लगते हो।

इन्हीं ग्रन्थियों को भेदने का उपाय है योग साहित्यों में जिसे हम कर्म की भाषा में यथा प्रवृत्ति करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण[५४]से जान सकते हैं। इस प्रकार क्षितिजा योग, लब्धि योग, समिति योग, गुप्ति योग, श्रमण योग, गृहस्थ योग, मन्त्र योग, जप योग आदि योग विशद् रूप से साहित्य में प्राप्त होता है।

१. औद्यिक भाव

औदयिक भाव यह है जो कर्म के उदय से पैदा हो। उदय एक प्रकार का आत्मिक कालुष्य मालिन्य है, जो कर्म के विपाकानुभव से वैसे ही होता है जैसे मल के मिल जाने पर जल में मालिन्य।

"योग" औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्म का उदय न होने के पश्चात् ही योग का विनाश पाया जाता है और ऐसा मानकर भव्यत्व भाव के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्ध है विरोधी भव्यत्व भाव की कर्म से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि योग वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, तो सयोगिकेवली में योग के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि सयोगिकेवली में वीर्यान्तराय का क्षयोपशम नहीं होता, बल्कि क्षय होता है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि ऐसा नहीं, योग में क्षायोपशमिक भाव तो उपचार से है। असल में तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योग का सयोगिकेवली में अभाव मानने में विरोध होता है।

शरीर नामकर्मोदय के उदय से उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया क्योंकि वह भी कर्मबन्ध में निमित्त होता है। इस कारण कषाय नष्ट हो जाने पर भी योग रहता है।

---

५४. देखिये आकृति नं. ५

२. क्षायोपशमिक भाव

क्षायोपशमिक भाव वह है जो क्षायोपशम से पैदा हो। क्षायोपशम एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का उदय सर्वथा रुक जाने पर और दूसरे अंश का प्रदेशोदय[५५] द्वारा क्षय होते रहने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदों की शुद्धि होती है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव प्रदेशों के संकोच और विकोच रूप परिस्पन्दं को योग कहते हैं। यह परिस्पन्द कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्मोदय से रहित सिद्धों में वह नहीं पाया जाता। अयोगिकेवली में योग के अभाव से यह कहना उचित नहीं है कि योग औद्यिक नहीं होता है, कयोंकि अयोगिकेवली के यदि योग नहीं होता तो शरीर नामकर्म का उदय भी तो नहीं होता। शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला योग उस कर्मोदय के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग दोष उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है तो उसे क्षायोपशमिक क्यों कहते हैं ?

इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि ऐसा नहीं, क्योंकि जब शरीर-नामकर्म के उदय से शरीर बनने के योग्य बहुत से पुद्‌गलों का संचय होता है और वीर्यान्तरायकर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उद्‌याभाव से और उन्हीं स्पर्धकों के सत्वापशम से तथा देश घाती स्पर्धयों के उदय से उत्पन्न होने के कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है, तब उस वीर्य को पाकर चूँकि जीव प्रदेशों का संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिये योग क्षायोपशमिक कहा गया है।

यदि वीर्यान्तराय के क्षयोपशम स उत्पन्न हुए बल की वृद्धि और हानि से जीवप्रदेशों के परिस्पन्द की वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवों में यौग की बहुलता का प्रसंग आता है। ऐसा भी नहीं होता, क्योंकि क्षायोपशमिक बल से क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायोपशमिक बल की वृद्धिहानि से वृद्धि-हानि को प्राप्त होने वाला जीव प्रदेशों का परिस्पन्द क्षायिक बल से वृद्धिहानि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानने से तो अति प्रसंग दोष आता है।

---

५५. धवला- ७/२, १, ३३/७५/३

३. पारिणामिक भाव

पारिणामिक भाव द्रव्य का वह परिणाम है, जो सिर्फ द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है।

"योग" यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है, कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि मोहनीयकर्म का उपशम नहीं होने पर भी योग पाया जाता है। न वह क्षायिक भाव है, क्योंकि आत्मस्वरूप से रहित योग की कर्मों के क्षय से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। योग घातिकर्मोदयजनित भी नहीं है क्योंकि घातिकर्मोदय के नष्ट होने पर भी सयोगी केवली में योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातिकर्मोदयजनित भाव है, क्योंकि, अघातिकर्मोदय के रहने पर भी अयोगकेवली में योग का सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातिकर्मोदयजनित भाव है, क्योंकि, अघातिकर्मोदय के रहने पर भी अयोग केवली में योग नहीं पाया जाता। योग शरीर नामकर्मोदयजनित भी नहीं है। क्योंकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के जीव-परिस्पन्दन का कारण होने में विरोध है।

४

साहित्य के मुख्य दो पहलू – व्याकरण और इतिहास, योग संयोग में

चतुर्थ चरण (पृष्ठ ५१ से ६५ तक)

१. **समाधि और संयोग साध्य-साधना रूप सामग्री के योग में**

२. **विभिन्न पर्यायों में परिलक्षित योग शब्द**

३. **सत्य की खोज उत्पत्ति और विकास में**

४. **प्राचीन युग के आद्य योगी ऋषभदेव भगवान् योग सिद्धि के उपाय में**

४. साहित्य के मुख्य दो पहलू व्याकरण और इतिहास योग संयोग में

१. सहज निवृत्ति भोग को शुभयोग में और शुभयोग को अयोग में प्रयोगात्मक रूप से परिवर्तित करती है। योग अर्थात् जुड़ना-राग जब अनुराग में परिवर्तित होता है, तब साधक अनासक्ति योग में जुड़ता है। अतः आसक्ति से अनासक्त होने की जो प्रवृत्ति है वह प्रयोग है। जैसे ही योग दृढ़ होता जायेगा अनासक्ति की वृद्धि में सामर्थ्य स्वतः सिद्ध होता जायेगा। क्योंकि अनासक्ति में आसक्ति से असंग होने की शक्ति है। आसक्ति अर्थात् भोगेच्छा। साधक के लिए भोगेच्छा से असंग होना ही स्व स्वरूप दर्शन है। अयोग की साधना है।

१. व्याकरण की दृष्टि से योग समाधि और संयोग

संस्कृत व्याकरण के अनुसार योग शब्द युज् धातु और घञ प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। युज् धातु १. समाधि[१] और २. संयोग[२] दो अर्थ में घटित होती है। **"योजन योगः सम्बन्ध इति यावत्"** तथा **"युज्यते इति योग"** निर्युक्ति और वृत्तिकार के अनुसार भी समाधि और संयोग दोनों अर्थ फलित होते हैं।

साध्य साधन में अर्थ घटन

१. योगः समाधिः सोऽस्यास्ति इति योगवान्।[३]

२. युज्यते वाऽनेन केवल ज्ञानादिना आत्मेति योगः[४]

यहाँ समाधि अर्थ में योग सांध्यरूप से निर्दिष्ट है और संयोग अर्थ में साधन रूप से परिलक्षित होता है। क्योंकि मानव मात्र साधक है और प्रत्येक परिस्थिति में किसी न किसी का संयोग अनिवार्य है। अतः परिस्थिति जैसी होगी उसी रूप में घटना का संयोग होगा, वही संयोग साधन रूप माना जायेगा। 'योग', संयोग और साधन दोनों में निहित है, संयोग स्वाभाविक रूप से प्रत्येक मानव में विद्यमान होने पर भी भोग रूप परिस्थिति की दासता जन्म-जन्म से स्वीकार करता आया है। इस दासता के कारण योग संयोग और साधन में विद्यमान होने पर भी जागृत नहीं हो पाता। भोग युक्त मानव प्रत्येक परिस्थिति को जीवन बना लेता है उसे यह भी बोध आवश्यक है कि

१. युजिंच समाधीगंण-४
२. युजृपीयोगे गण-७
३. उत्तराध्ययन सूत्र बहद्वृत्ति ११/१४
४. आवश्यक हरिभद्रीया निर्युक्ति अवचूर्णिः पृ. ५८२

परिस्थिति सदा परिवर्तनशील है अतः कोई भी परिस्थिति जीवन कैसे बन सकती है। वही व्यक्ति परिस्थितियों का दास है जो अपने को साधक स्वीकार नहीं करता। जब व्यक्ति साधक बनता है, परिस्थितियों का सदुपयोग करने में समर्थ होता है तब परिस्थिति में जैसे ही परिवर्तन आता है रागात्मक और द्वेषात्मक भाव में प्रियता और अप्रियता के संवेदन में परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि प्रत्येक मानव साधक है और साधक की प्रत्येक प्रवृत्ति साधन रूप सामग्री है। अतः समस्त साधन दो विभागों में विभाजित होते हैं– १. निषेधात्मक, २. विधेयात्मक।

१. **निषेधात्मक**–पदार्थों के प्रति ममत्व का त्याग निषेधात्मक साधन है।

२. **विधेयात्मक**–अनासक्त होकर पदार्थों का उपयोग विधेयात्मक साधन है।

साधकों की योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति के अनुरूप ही 'साधन' फलित होता है। जो साधन साधक को साध्य बनने में सहायक नहीं होता वह साधन उपयुक्त साधन नहीं, भोग साधन हैं। जिससे सिद्धि नहीं हो सकती है। अंतः विधेयात्मक साधन को सजीव बनाने के लिए निषेधात्मक साधन को अपनाना अनिवार्य है। ममत्व का त्याग यह अपने आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। पदार्थों का न मिलना त्याग नहीं है, पदार्थों का अभाव इतना महत्व नहीं रखता है, किन्तु पदार्थ है और उसका त्याग महत्व रखता है, ऐसा त्याग साधना के बिना असंभव है।

व्यक्ति एक को प्रिय मानता है और दूसरे को अप्रिय इसलिए राग द्वेष होता है। जब तक मन में प्रिय और अप्रिय का भाव बना रहेगा तब तक कषाय समाप्त नहीं होगा। राग द्वेष को समाप्त करने के लिए यहाँ जो योग के अर्थ में संयोग शब्द का प्रयोग किया है वह उचित है। संयोग पदार्थ के प्रति राग का भाव नहीं लाता किन्तु पदार्थ के प्रति पदार्थ का भाव लाता है, पदार्थ के प्रति यथार्थता का अनुभव कराता है, पदार्थ में सत्य के दर्शन कराता है। पदार्थ अपने आप में न तो प्रिय है और न अप्रिय; जो भी है वह संयोग है।

हम जानते हैं कि भोग प्रवृत्ति में सुख और परिणाम में दुख है। यह जाने हुए का प्रभाव जीवन पर क्यों नहीं होता? सुख का अनुभव करने पर दुखद परिणाम अनुभूति का ध्यान क्यों नहीं होता? अगर इसका जवाब चाहिए तो मिलेगा संयोग, संयोग को हमने जाना नहीं, माना है। जानना अलग है और मानना अलग है। जो संयोग को जानता है वह योग के द्वितीय अर्थ समाधि को सहज रूप से छू लेता है जो मानता है वह संयोग से हाथ धो बैठता है।

इस प्रकार दो अर्थों में प्रयुक्त इस योग शब्द के मंतव्य एवं विधान में एक ही होने पर भी विभिन्न दो स्वरूप हो जाते हैं। साधक का अंतिम लक्ष्य समाधि है और समाधि *का प्रारम्भिक प्रयास संयोग है। अतः योग संयोग अर्थ में साधन रूप सिद्ध होकर*

समाधि अर्थ में साध्य रूप से नियोजित हो जाता है। यद्यपि समाधि साध्य है तथापि परम साध्य मोक्ष की दृष्टि से वह भी मोक्ष का अंतरंग साधन है।

इस प्रकार योग शब्द की मौलिक व्याख्या में समाधि और संयोग ये दोनों ही अर्थ सार्थक हैं।

प्रस्तुत धात्वर्थ के अनुसार फलितार्थ समाधि और संयोग ये दोनों अर्थ आज के युग में अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय रहे हैं।

जब साधन रूप संयोग साध्य रूप से संयोजित है तब साधक मोक्ष के साथ जुड़ता है, और जब साधन रूप संयोग भोग के साथ जुड़ता है तब संसार से जुड़ता है।

संसार का सम्बन्ध सुख और दुख के संयोग से जुड़ा हुआ है। प्रत्येक प्रवृत्ति मन, वचन और काया से ही प्रवृत्तमान होती है। सभी जीव मन से दृश्यमान पदार्थों को चाहते हैं, दृश्यमान पदार्थों का विश्लेषण करते हैं, और दृश्यमान पदार्थों का अस्तित्व स्वीकारते हैं।

उसी प्रकार वचन द्वारा वर्णित पदार्थों का तथा काया के द्वारा उसका उपभोग करता है। मन-वचन और काया की इन तीनों प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशों में परिस्पन्दन होता है। स्पंदन के प्रभाव से भोगेच्छा से सम्बन्ध जुड़ता है। अतः इस जुड़ने रूप योग को संयोग कहा जाता है। अर्थात् जीव प्रदेशों के संकोच और विकोच रूप परिस्पंदन को संयोग कहते हैं। ऐसा परिस्पंदन कर्मों के उदय से उत्पन्न होता है। क्योंकि कर्मोदय रहित सिद्धों में यह नहीं पाया जाता। संयोग का अर्थ है—जिस प्रकार सशरीरी आत्मा, इस शब्द से आत्मा और शरीर का सम्बन्ध स्थापित होता है उसी प्रकार संयोग शब्द से योग सहित आत्मा का सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः संयोग भोग का परिणाम होता है। क्योंकि किसी भी योग के लिए उससे सम्बन्धित वस्तु का योग आवश्यक है। अतः जैन दर्शन के अनुसार जहाँ भोग है—वहाँ संयोग है। और उस भोग का साधन मन-वचन और काया रूप योग है। ऐसे सयोगी आत्मा को संसारी आत्मा कहते हैं।

भोग रूप कार्य का मन, वचन, काया रूप करण और कारण में आरोप कर उपचार से मन, वचन, काया को जैन दर्शन में योग (संयोग) कहा है तथा कर्ता आत्मा में मन, वचन, काया के योग रूप करण का आरोप कर उपचार से कर्त्ता को भी योगी (संयोगी) कहा गया है, जब तक कोई भी आत्मा मन, वचन और काया इन तीनों योगों में से किसी भी योग का प्रयोग या उपयोग करता है, तब तक वह आत्मा योग सहित आत्मा है। योग सहित आत्मा को संयोगी आत्मा कहा जाता है। जब योग के प्रयोग का पूर्णतः निरोध कर दिया जाता है तब वह अयोगी आत्मा कहा जाता है। अयोगी आत्मा शरीर और संसार रूप विनाशी के बंधन से सर्वथा मुक्त "सिद्ध" हो जाता है। अतः

जैन दर्शन में महत्व 'संयोगी का नहीं' "अयोगी" का है। जैन दर्शन में योग विषयक उपर्युक्त समस्त कथन समाधि और संयोग रूप योग को लेकर किया गया है। संयोग अर्थ में साधक जिससे जुड़ता है उससे बंधता है यह बन्धन ही योग है। समाधि अर्थ में साधक बंधन से मुक्त होता जाता है और क्रमशः सयोगी से अयोगी अवस्था पाता है, अतः जैन दर्शन में अयोगी का स्थान समाधि का अंतिम चरण है।

शाब्दिक दृष्टि से योग और अयोग परस्पर विरोधाभास लगते हैं। पर "पातञ्जल योग" में जो स्थान योगी का है वही स्थान जैन दर्शन में सयोगी का है। जो साधक मन, वचन, काय रूप योग से पर होकर अयोगी होता है वही सिद्ध परमात्मा है ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है।

पर्याय की दृष्टि से योग

पर्याय की दृष्टि से योग विभिन्न स्वरूपों में परिलक्षित होता है जैसे-

जोगो विरियं थामो, उच्छाई परिक्कमो तहा चिट्ठा
सत्ती सामत्थं चिय, जोगस्स हवंति पज्जाया।

अर्थात् योग, वीर्य, स्थाम (बल), उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति तथा सामर्थ्य ये सात योग के पर्याय शब्द हैं।[५]

योगी वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने में समर्थ होता है। भोगी का वीर्य अधोगामी होता है इसलिए वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए "बलयोग" का प्रयोग उपयुक्त होता है। यदि साधक में तीव्रता का "उत्साह" है तब तो यह कार्य शीघ्र पार कर सकता है अन्यथा अनेक भव आराधना चलती रहती है। यहाँ "पराक्रम" को भी योग कहा है पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ। पुरुषार्थ के बिना तो कार्य सिद्ध हो ही नहीं सकता। पुरुषार्थ से ही चेतना को जागृत करने की "चेष्टा" प्रदान होती है। ऐसी चेष्टा हमारी ऊर्जा 'शक्ति' को तरंगित करती है। इन तरंगों के द्वारा ही 'सामर्थ्य' योग सफल होता है अतः पर्याय अर्थ में ये सभी योग सार्थक हैं।

सर्वार्थ सिद्धि[६] ग्रन्थ में 'योग' समाधि और सम्यक प्रणिधान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। समाधि यह तो योग का अंतिम चरण है। सम्यक् प्रणिधान से ही समाधि को क्रमशः बल मिला है। सम्यक् प्रणिधान से अज्ञानता तुटती हैं और सन्मार्ग का द्वार खुला होता है। अतः द्वार प्राप्त होने से साधक प्रणिधान रूप शुभभाव और समाधि रूप स्थिर भाव को प्राप्त कर सकता है अतः दोनों को पर्याय रूप में "योग" कहा है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक[७] में योग का अर्थ समाधि और ध्यान ऐसा भी मिलता है। समाधि को प्राप्त

---

५. कर्मप्रकृति-पृ. ११.

६. "योगः समाधिः सम्यक प्रणिधान मित्यर्थ।" -सर्वार्थसिद्धि ६/१२/३३१/३

७. "युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्। -राजवार्तिक ६/१/१२ ५०५/२७

करने के लिए ध्यान की नितान्त आवश्यकता है। ध्यान समाधि की पूर्व अवस्था है, और समाधि ध्यान का अंतिम चरण है। अतः समाधि और ध्यान दोनों ही अर्थ योग रूप में सार्थक ही है।

परमानन्दी[८] पंचविंशतिका ग्रन्थ में योग, साम्य, स्वास्थ्य, समाधि चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि अर्थ में पर्याय के रूप में मिलता है।

यहाँ साम्य अर्थ समानता के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जैसे मेरे जैसा ही अन्य आत्मा है मैं सुखी और दुःखी रहना चाहता हूँ वैसा ही दूसरा अनुभव करना चाहता है। चित्त निरोध यह शब्द का प्रयोग क्षिप्त और विक्षिप्त मन को स्थिर करना है।

द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका ग्रन्थ में **"योगस्थ संभवः"** योग का अर्थ संभव किया है।[९]

बृहत्कल्प आतुरप्रत्याख्यानपयन्ना-टीका,[१०]स्थानांगसूत्र सटीक, प्रश्न व्याकरण सूत्र, विशेष आवश्यक भाष्य इत्यादि ग्रंथों में "योग" शब्द सम्बन्ध अर्थ में प्राप्त होता है।

जिस प्रवृत्ति का सम्बन्ध क्रमशः निवृत्तियों की ओर साधक को बढ़ाता है वही प्रवृत्ति साधक के लिए "योग" अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

भगवती आराधना[११]में योग को वीर्य गुण का पर्याय माना गया है, उसका आशय यह है कि वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला आत्म परिणामविशेष योग हैं। इस प्रकार "योग" शब्द विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न पर्यायों में परिलक्षित होता है।

विकास और आविर्भाव की दृष्टि से योग

साधक का जिज्ञासु मन आत्मानुभूति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। वह आदिकाल से चरमसत्य को पाने का अभिलाषी है। वह चाहता है स्वानुभूति की सिद्धि, वह चाहता है परमानन्द की प्राप्ति, वह चाहता है आत्मशक्ति की उपलब्धि पर वह खोज नहीं करता कि इस योग का आविर्भाव हुआ कहाँ से।

सर्व सामान्य ऐसा नियम है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है, जिसका नाश होता है, उसका उस रूप में अस्तित्व या सत्ता विद्यमान नहीं रहती, जिसका अस्तित्व या सत्ता नहीं रहती वह असत् माना जाता है। जैसे जन्म,

---

८. "साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः।" —पद्मनन्दिपंचविंशतिका ४.६४

९. योगलक्षण द्वात्रिंशिका पृ. ५९

१०. अभिधान राजेन्द्र कोश भा. ४ पृ. १६१३।

११. भगवती आराधना ११७८/११८७, ४.

जरा, मृत्यु के चक्रव्यूह में साधक यंत्रवत् घूम रहा है। इस जीवन काल में साधक हजारों परिस्थितियों में टकराता है और अवस्थाओं को बदलता है। जो बदला जाता है, वह अनित्य है। अतः जगत की समस्त परिस्थिति अनित्य हैं, असत् है। जो असत् है वह असत्य है, जो असत्य है वह मिथ्या है, इन अनित्य में ही नित्य की खोज, असत् में सत् की खोज और असत्य में ही सत्य की खोज यह योग का आविर्भाव है।

सत्य-असत्य का विवेक, ज्ञान या जड़ और चैतन्य का भेद ज्ञान उत्पाद-व्यय और ध्रुव इन त्रिपदि से होता है। यही साधना का मूल मन्त्र है। जो असत्य का त्याग करता है वह असत्य से पर होता है फलतः सत्य को स्वतः प्राप्त करता है, जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश युगपत् होता है, उसी प्रकार असत्य का त्याग और सत्य की प्राप्ति युगपत् होती है। सत्य की प्राप्ति अर्थात् ध्रुवत्व की प्राप्ति, जो ध्रुव होता है, वह नित्य होता है। त्याग अनित्य का होता है, नित्य का नहीं। असत्य अनित्य है, सत्य नित्य है, अतः असत्य का त्याग ही योग प्राप्ति का विकास क्रम है।

आज के युग में लोग समझते हैं कि योग कोई एक नया विधान है और ध्यान रूप में शिबीरों द्वारा उसे अपनाया जाता है। वह भूल गया अपना चिर पुरातन काल, वह भूल गया व्रत, तप नियम भारतीय साधना में इन व्रत, नियम, तप, स्वाध्याय में योग सहयोगी रहा था। हर साधना विकल्प मुक्त और अन्तर्मुखी रहने की ही होती थी। एकाग्रता ही साधना का मुख्य लक्ष्य था किन्तु मध्ययुग में इस साधना ने अन्तर्मुखी का स्थान बहिर्मुखी के रूप में और एकाग्रता का स्थान बाहरी प्रदर्शन के रूप में स्थूल क्रियाकांडों में बदल दिया। चिन्तन की सूक्ष्मता का तीव्र गति से ह्रास होने लगा। विशुद्धि के अभाव में योग सम्बन्धी साधना की सूक्ष्मता तिरोहित होती गई।

आज के युग में योग का कोई नया प्रयोग नहीं किन्तु हमें ही खोये हुए योग की खोज करनी है। हमारे बीच में से विस्मृत हुए योग का पुनर्जागरण करना है। दुर्व्यसन और दुराचार के इस भयंकर दौर में सदाचार की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करनी है, हमारी भौतिक वासनाएँ और आकांक्षाओं में शांति का स्वरूप पाने के लिए योग सर्वात्मना द्वन्दमुक्त एक सात्विक साधन हैं। इस साधन से सोयी हुई वृत्तियाँ जागृत होंगी, बाहर भटकता हुआ मन अंतर्मुखी होगा और राग-द्वेषादि विकल्पों के कुहरों से आवृत चेतना निरावरण होगी।

"जे ममाइय मतिं जहाति से जहाति ममाइय"[१२]

– ममत्व बुद्धि का त्याग पदार्थों के ममत्व का त्याग है। ममत्व का त्याग और समत्व की साधना ही योग का विकास है।

---

१२. *आचारांग सूत्र अ. २, उ. ६ सु. १७*

२. ऐतिहासिक दृष्टि से योग का विश्लेषण

भारतीय आध्यात्मिक विचारों की आदर्श पृष्ठभूमि पर दो संस्कृतियाँ बहुत ही प्राचीन काल से अक्षुण्ण रूप में चली आ रही हैं–जैन-संस्कृति और वैदिक-संस्कृति। भाषा की दृष्टि से सबसे प्राचीन तथा अपने विकास और विस्तार तथा श्रमण-श्रमणियों की आचार प्रणालिका की दृष्टि से यह वह धारा है जिसको शास्त्र अर्थात् जैनागम कहना चाहिए। जिन लोगों का इस विंचारधारा के साथ सम्बंन्ध है उनके लिए आगम अन्तिम प्रमाण है। यद्यपि वैदिक संस्कृति के मूल ग्रंथ "वेद" लेखन कला की दृष्टि से प्राचीन माने जाते हैं, परन्तु उनकी भाषा को "संस्कृत" कहा जाता है। "संस्कृत" किसी का परिमार्जित रूप ही होता है। अतः वैदिक संस्कृत से प्राकृत की प्राचीनता भाषा शास्त्रसम्मत एक महान् तथ्य है। उपलब्ध जैन-साहित्य का प्राकृत (अर्द्धमागधी) में होना जैन-साहित्य की प्राकृत परम्परा की ओर सबल संकेत करता है।

जैन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का काल जैनकालगणना के अनुसार असंख्य वर्ष पूर्व का माना जाता है।[१३] भगवान् ऋषभदेव के प्रवचन ही पहली बार जैन-आगमों के रूप में उदित हुए थे। वे प्राकृत में थे, अतः जैन साहित्य की प्राचीनता वेदों से भी पूर्व मानने में आपत्ति नहीं हो सकती।

वेद-साहित्य प्राचीन है, इसमें संदेह नहीं परन्तु डॉ. राधाकृष्णन ने "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र [History of Dharmashastra Vol. V. Part II P. 995] में यह सिद्ध किया है कि यजुर्वेद में ऋषभ[१४] अजितनाथ और अरिष्टनेमि का उल्लेख प्राप्त होता है।

पंडित कैलाशचन्द्र जी ने भी अपने "जैन-साहित्य का इतिहास" की पूर्व पीठिका पृष्ठ १०७ पर डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का समर्थन करते हुए ऋषभदेव का वेदों में उल्लेख स्वीकार किया है। यह उल्लेख प्रमाणित करता है कि वेद ने अपने से पूर्व की जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख करके जैन संस्कृति की सत्ता का वैदिक-साहित्य से पूर्व होना सिद्ध किया है।[१५]

---

१३. उसभ सिरिस्स भगवओ चरिमस्स य महावीर वद्धमाणस्स एगा सागरोवमकोडाकोडी आबहाए अन्तरे पण्णत्ते। समवायांग १७३; "कोडाकोडी" "सागरोपम" यह जैन पारिभाषिक शब्द हैं। उक्त पाठ एक कोडाकोडी (करोड़ ×करोड़) सागरोपम काल का अन्तर बतलाता है जो औपमिक काल गणना से ही समझा जा सकता है।

१४. (उन्नत ऋषभो वाहनः २४/७) तत्राह उब्बटो भाष्यकारः उन्नतः उच्चः ऋषभः पुष्टः वामनः बहून्यपि वयसिगते वृद्धि रहितः। इसी प्रकार–(रोहिदृषभाय गवयी-२४/३०) : की व्याख्या में उब्बट कहते हैं-ऋषभाय तदाख्य देवाय।

१५. स्थानांगसूत्र–आचार्य आत्मारामजी महाराज कृत हिन्दी अनुवाद पृ. ५ भा. १

मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त अनेक मूर्तियों और अवशेषों को पुरातत्ववेत्ता जैन संस्कृति के अवशेष मानते हैं, क्योंकि वहाँ यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-संस्कृति का कोई अवशेष प्राप्त नहीं हुआ। योगप्रधान संस्कृति के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं वे जैन संस्कृति के ही हो सकते हैं, अतः जैन संस्कृति की प्राचीनता इतिहाससिद्ध है।

जैनागमों में जो चौदह पूर्वों का ज्ञान था, उन चौदह पूर्वों में बारहवाँ पूर्व "प्राणायु" नाम का था। उसके एक करोड़ छप्पन लाख पद थे[१६] उसमें प्राणायाम आदि योग का स्वरूप बताया गया था। चौदह पूर्वों का विच्छेद होने से जैनों का यह योगज्ञान विच्छेद हुआ प्रमाणित होता है। जैनाचार्यों में पूर्वाचार्य श्री भद्रबाहुस्वामी ने भी भाव प्राणायाम और महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया सिद्ध की थी ऐसा इतिहासप्रसिद्ध है।[१७]

"जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास" में भी उक्त कथन को सिद्ध किया गया है, जैसे-इस अवसर्पिणी काल में जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुए हैं। उन्हें वैष्णव एवं शैव मार्गी अपने-अपने ढंग से महापुरुष या अवतारी पुरुष मानते हैं। कोई उन्हें "अवधूत"[१८] कहते हैं। वे एक दृष्टि से देखें तो आद्ययोगी ही नहीं, योगीराज हैं। ऐसा माना जाता है कि उन्हीं से योग-मार्ग का प्रवर्तन हुआ है।

श्रीमद्भागवत् के अनुसार ऋषभदेव बड़े भारी योगी थे। जैन पुराण तो उन्हें ही योग-मार्ग का आद्य प्रवर्तक बतलाते हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम राज्य का परित्याग कर वन का मार्ग अपनाया था। मोहनजोदड़ो से प्राप्त मूर्ति योग मुद्रा से ऋषभदेव की है ऐसा प्रमाणित किया गया है।

नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिन्दू-पुराणों में आती है। मार्कण्डेय पु.अ. ५०, कूर्म पु. अ. ४१, अग्नि पु. अ. १०, वायुपुराण अ. ३३, गरूण पु. अ. १, ब्रह्माण्ड पु. अ. १४, वाराह पु. अ. ७४, लिंगपुराण अ. ४७, विष्णुपुराण २, अ-१, और स्कन्दपुराण कुमारखण्ड अ. ३७, में ऋषभदेव का वर्णन आया है। इन सभी में ऋषभ को नाभि और मरुदेवी का पुत्र बतलाया है। ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभ ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। इस भरत से ही इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

---

१६. जैन आगम साहित्यः मनन और मीमांसा पृ. १९५

१७. तप अने योग-पृ. ३४१

१८. इसका धूतरूप आचारांग (श्रुत-१) के छठे अध्ययन के नाम "धुय" (स. धूत) का स्मरण कराता है।

यथा–

नाभिस्त्वजनयत पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमांग दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ।[१९]

उक्त श्लोक थोड़े से शब्दभेद के साथ प्रायः उल्लेखित सभी पुराणों में पाए जाते हैं। प्रायः सभी वैदिक पुराण इस विषय में एकमत हैं कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से यह देश 'भारतवर्ष' कहलाया । वैदिक पुराणों का यह एकमत निस्सन्देह उल्लेखनीय है ।

श्रीमद्भागवत में तो ऋषभावतार का विस्तृत वर्णन है और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति भी बतलाई है। डॉ. आर. जी. भण्डारकर[२०]के मतानुसार "२५० ई. के लगभग पुराणों का पुननिर्माण होना आरम्भ हुआ और गुप्तकाल तक यह क्रम जारी रहा। इस काल में समय-समय पर नए पुराण भी रचे गये।" ऋषभदेव को प्रथम जैन तीर्थंकर होने की मान्यता ईस्वी सन् से भी पूर्व में प्रवर्तित थी। इतना ही नहीं, ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा जैन लोग करते थे, यह बात खारवेल के शिलालेख तथा मथुरा से प्राप्त पुरातत्व से प्रमाणित हो चुकी है तथा हिन्दू-पुराणों से भी पूर्व के जैन ग्रन्थों में ऋषभदेव का चरित वर्णित है ।

इसके सिवाय श्रीभागवत में ऋषभदेव का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि वातरशन (नग्न) श्रमणों के धर्म का उपदेश करने के लिए उनका जन्म हुआ। यथा–

"वर्हिषि तस्मिन्नेव व विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्व-मन्थिणां शुक्लया तनुवावततार" ॥२०॥ स्क. ५, अ. ३ ।

उक्त नग्न श्रमणों के धर्म से स्पष्ट ही जैन धर्म का अभिप्राय है क्योंकि आगे भागवतकार ने ऋषभदेव के उपदेश से ही आर्हत धर्म (जैन धर्म का पुराना नाम) की उत्पत्ति बतलाई है । भागवतकार का अभिप्राय भगवान् के लिए ऐसा भी है कि "जन्महीन ऋषभदेवजी का अनुकरण करना तो दूर रहा, अनुकरण करने का मनोरथ भी कोई अन्य योगी नहीं कर सकता, क्योंकि जिस योगबल (सिद्धियों) को ऋषभजी

---

१९. जैन-साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका पृ. १२०
२०. भण्डार लेख संग्रह जिल्द १, पृ. ५६

ने असार समझकर नहीं ग्रहण किया, अन्य योगी लोग उसी को पाने की अनेक चेष्टाएँ करते हैं। हे राजन् ! ऋषभदेव जी लोक, देव, देवता, ब्राह्मण, गौ आदि सब पूजनीयों के परम् गुरु हैं। (स्क. ५, अ. ६)

इस तरह भागवतकार ने भी भगवान् ऋषभदेव को श्रेष्ठ योगी बतलाया है। यों तो कृष्ण को भी योगी माना जाता है। किन्तु कृष्ण का योग **"योगः कर्मसु कौशलम्"** के अनुसार कर्मयोग था और भगवान् ऋषभदेव का योग कर्मसन्यास रूप था। जैन धर्म में कर्म सन्यास रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थंकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आज तक की सभी जैन मूर्तियाँ योगी के रूप में ही प्राप्त हुई हैं।

योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। वैदिक आर्य उससे अपरिचित थे। किन्तु सिन्धु घाटी सभ्यता योग से अछूती नहीं थी, वहाँ योगासन-योग मुद्राएँ योगी की मूर्ति से ही प्राप्त हुए हैं। और ये मूर्तियाँ-रामप्रसाद चन्दा ने ऋषभदेव की मूर्ति होने की संभावना व्यक्त की थी।

अतः श्रीमद्भागवत आदि हिन्दू-पुराणों से भी ऋषभदेव का पूर्व पुरुष होना तथा योगी होना प्रमाणित होता है और उन्हें ही जैन-धर्म का प्रस्थापक भी बतलाया गया है। एक बात और भी उल्लेखनीय है।

श्रीमद्भागवत् (स्क. ५, अ. ४) में ऋषभदेव जी के सौ पुत्र बतलाये हैं। उनमें भरत सबसे बड़े थे। उन्हीं के नाम से इस खण्ड का नाम "भारतवर्ष" पड़ा। भारत के सिवा कुशवर्त, इलावर्त, विदर्भ, कीकर, द्रविड़ आदि नामक पुत्र भी ऋषभदेव के थे। ये सब भारतवर्ष के विविध प्रदेशों के भी नाम रहे हैं। इनमें द्रविड नाम उल्लेखनीय है। जो बतलाता है कि ऋषभदेव जी द्रविड़ों के भी पूर्वज थे। सिन्धु सभ्यता द्रविड़ सभ्यता थी और वह योग की प्रक्रिया से परिचित थी जिसकी साधना ऋषभदेव ने की थी।

श्री चि. वि. वैद्य ने भागवत के रचयिता को द्रविड़ देश का अधिवासी बतलाया है। [हि. ई. लि. (विन्टर) भा. १. पृ. ५५६ का टिप्पण नं. ३] और द्रविड़ देश में रामानुजाचार्य के समय तक जैन-धर्म का बड़ा प्राबल्य था। संभव है इसी से भागवतकार ने ऋषभदेव को द्रविड़ देश में ले जाकर वहीं पर जैन धर्म की उत्पत्ति होने का निर्देश किया हो। किन्तु उनके उस निर्देश से भी इतना स्पष्ट है कि ऋषभदेव के जैन धर्म का आद्य प्रवर्तक होने की मान्यता में सर्वत्र एकरूपता थी और ऋषभदेव एक योगी के रूप में ही माने जाते थे तथा जनसाधारण की उनके प्रति गहरी आस्था थी। यदि ऐसा न होता तो ऋषभदेव को विष्णु अवतारों में इतना आदरणीय स्थान प्राप्त न हुआ होता।

अयोध्या प्रदेश के नाभिसुत ऋषभदेव ने पाषाणकालीन प्रकृत्याश्रित असभ्य युग का अन्त करके ज्ञान-विज्ञान संयुक्त कर्मप्रधान मानव सभ्यता का भूतल पर सर्वप्रथम प्रारम्भ किया। अयोध्या से हस्तिनापुर पर्यन्त प्रदेश इस नवीन सभ्यता का प्रधान केन्द्र था। उन्होंने असि, मषि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्यारूप लौकिक षट्कर्मों का तथा देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप धार्मिक षट्कर्मों का मानवों को उपदेश दिया। साथ-साथ राज्यव्यवस्था, समाज संगठन और नागरिक सभ्यता के विकास के बीज वपन किये। कर्मक्षय से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में श्रमविभाजन का भी निर्देश किया। वे स्वयं इक्ष्वाकु कहलाये इससे उन्हीं से भारतीय क्षत्रियों के प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ हुआ। लोक को लौकिक एवं पारलौकिक उपदेश देकर उन्होंने निस्पृह निरीह योग मार्ग अपनाया और कैलाश पर्वत से निर्वाण लाभ किया।

उनके पुत्र सम्राट भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारत को राजनैतिक एकसूत्रता में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्हीं के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्यों का भरतवंश चला। ऋषभ के ही अन्य पुत्र का नाम द्रविड़ था उन्हें उत्तरकालीन द्रविड़ों का पूर्वज कहा जाता है। सम्भव है किसी विद्याधर कन्या से विवाह करके ये विद्याधरों में ही जा बसे हों और उनके नेता बने हों, जिससे वे लोग कालान्तर में द्राविड कहलाये। भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश, उनके भतीजे सोमयश से चन्द्रवंश तथा एक अन्य वंशज कुरु से चला, ऐसी भी जनुश्रुतियाँ हैं।

ऋषभदेव द्वारा उपदेशित यह अहिंसामय सरल आत्मधर्म उस काल में सम्भवतः ऋषभधर्म, अर्हतधर्म, मग्ग या मार्ग अर्थात् मुक्ति और सुख का मार्ग कहलाया था। इसके द्वारा अनुप्रणित संस्कृति ही श्रवण संस्कृति कहलायी। ऋषभ के उपरान्त आने वाले अजितनाथ आदि विभिन्न तीर्थंकरों ने इस संस्कृति का पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योगधर्म का पुनः प्रचार किया।

ऋषभदेव भगवान् के पश्चात् तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ के समय में भी इसी प्राचीन योग सभ्यता का विशेष रूप में विकास हुआ। सम्भवनाथ का विशिष्ट लांछन अश्व है और सिन्धु देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिए प्रख्यात रहा है। मौर्य काल तक सिन्धु में एक सम्भूत्तर जनपद और साम्भव (सम्बूज) जाति के लोग विद्यमान थे जो बहुत सम्भव है कि सिन्धु सभ्यता के मूक प्रवर्तकों एवं तीर्थंकर सम्भवनाथ के मूल अनुयायियों की ही वंश-परम्परा में हो। यह सभ्यता अवैदिक एवं अनार्य ही नहीं वरन् प्राग्वैदिक थी तथा इसके पुरस्कर्ता ऋषभ प्रणीत योग धर्म के

अनुयायी और श्रमण संस्कृति के उपासक प्राचीन विद्याधर अर्थात् भारतीय द्रविड जाति के पूर्वज थे ऐसा प्रतीत होता है।

सर जॉन मार्शल का कथन है कि "सिन्धु-संस्कृति एवं वैदिक-संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इन दोनों संस्कृतियों में परस्पर कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं था। वैदिक धर्म सामान्यतया अमूर्तिपूजक है जब कि मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा में मूर्तिपूजा सर्वत्र स्पष्ट परिलक्षित होती है। मोहनजोदड़ो के मकानों में हवनकुण्डों का सर्वथा अभाव है।" इन अवशेषों में नग्न पुरुषों की आकृतियों से अंकित मुद्राएँ बहुसंख्या में मिलती हैं। जॉन मार्शल के अनुसार वे प्राचीन योगियों की मूर्तियाँ हैं। एक अन्य विद्वान का कथन है कि "ये मूर्तियाँ स्पष्टतया सूचित करती हैं कि धातुपाषाण काल में सिन्धु घाटी के निवासी न केवल योगाभ्यास ही करते थे बल्कि योगियों की मूर्तियों की पूजा भी करते थे"। "रामप्रसाद चाँदा का कथन है कि "सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में अंकित देवमूर्तियाँ विशेष योगमुद्रा में हैं और उस सुदूर अतीत में सिन्धुघाटी में योग मार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं। खड्गासन देव मूर्तियाँ भी योग मुद्रा में हैं। वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। यह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशिष्टतया जैन दर्शन में पायी जाती है। आदिपुराण आदि मे इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभदेव के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुधा हुआ है। जैन ऋषभ की इस कायोत्सर्ग मुद्रा में खड्गासन प्राचीन मूर्तियाँ ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल की मिलती हैं। प्राचीन मिस्त्र में प्रारम्भिक राज्यवंशों के समय की दोनों हाथ लटकाये खड़ी मूर्तियाँ मिलती हैं। यद्यपि इन प्राचीन मिस्त्री मूर्तियों तथा प्राचीन यूनानी करोइ नामक मूर्तियों में प्रायः वही आकृति है तथापि उनमें उस देहोत्सर्ग-निस्संग भाव का अभाव है जो सिन्धु घाटी की मुद्राओं पर अंकित मूर्तियों में तथा कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त जिन मूर्तियों में पाया जाता है। ऋषभ शब्द का अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेव का लांछन है।" वस्तुतः सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियों की मूर्तियाँ अंकित मिली हैं जिससे यह अनुमान होता है कि वे वृषभ लांछन युक्त योगीश्वर ऋषभ की मूर्तियाँ हैं। ऋषभ या वृषभ का अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिए कि लोक में धर्म सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ के रूप में ही प्रत्यज्ञ हुआ। प्रो. रानाडे के मतानुसार "ऋषभदेव ऐसे योगी थे जिनका देह के प्रति पूर्ण निर्ममत्व उनकी आत्मोपलब्धि का सर्वोपरि लक्षण था।" उत्तरकालीन भारतीय संन्तों के योगमार्ग में भी ऋषभदेव को उक्त मार्ग का मूल प्रवर्तक माना गया है। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को जैन धर्म से सम्बन्धित मानते हैं, वरन् वहाँ से प्राप्त एक मुद्रा (नं. ४४९) पर तो उन्होंने "जिनेश्वर" (जिन

इसरह) शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आमनाय की श्री ह्रीं, क्लि आदि देवियों की मान्यता भी प्राप्त हुई है जो सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की हो सकती है इनका लांछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वस्तिक अत्यन्त लोकप्रिय चिह्न दृष्टिगोचर होता है, सड़कें और गलियाँ तक स्वस्तिकाकार मिलती हैं।[२१]

२१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. २३ से २७

द्वितीय विभाग

(२) यौगिक उपलब्धि से सम्बन्ध और परिणाम

अध्याय १. शरीर और आत्मा की शक्ति का परिणमन रूप – वीर्य
(योग और वीर्य)

अध्याय २. लेश्या से रासायनिक बदलते रूप
(योग और लेश्या)

अध्याय ३. तनाव का मूल केन्द्र बन्ध हेतु का स्वरूप
(योग और बन्ध)

अध्याय ४. काम-वासना की मुक्ति का परम उपाय-ब्रह्मचर्य ।
(योग और ब्रह्मचर्य)

अध्याय ५. शुभ योग का अंतिम बिन्दु निष्पत्ति और फलश्रुति
(योग और समाधि)

अध्याय ६. वृत्तियों के निरोध का सृजन उपाय और अनुभूति रूप आनन्द ।
(बाह्य और आंतरिक भावना)

१. शरीर और आत्मा की शक्ति का परिणमन रूप – वीर्य

योग और वीर्य

जैसे योग, योग के हेतु, योग की आवश्यकता और योगमुक्ति के उपायों का प्रयोग जानना आवश्यक है, वैसे ही वीर्य, वीर्य के हेतु, वीर्य की आवश्यकता और वीर्य उपायों के प्रयोग जानना भी आवश्यक है, क्योंकि योग और वीर्य का कार्य कारण सम्बन्ध है।

वीर्य आत्मा का परिणाम है, मन, वचन और काया रूप शुभयोग के सम्बन्ध प्रयोग से वीर्यान्तराय कर्मों का क्षयोपक्षम होता है अतः फलस्वरूप आत्मवीर्य और लब्धिवीर्य प्रकट होता रहता है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव सम्बन्धी आत्मा और शरीर की अनेक प्रवृत्ति रूप वीर्य दृश्यमान होता है। योग और वीर्य ; आत्मा और शरीर के दो पहलू हैं। दोनों में अन्तर और बाह्य, सूक्ष्म और स्थूल, तीव्र और मंद परिणाम का रूपान्तरण होता रहता है।[१]

वीर्य का शब्दार्थ

आगम में वीर्य शब्द का सामान्य अर्थ शक्ति है किन्तु विशेष रूप में जैसे कि–

उत्तराध्ययन,[२] में सामर्थ्य, सूत्रकृतांग[३] में अंतरंग और बहिरंग, चन्द्र प्रज्ञप्ति[४] सटीक में आंतरिक उत्साह अर्थ में तथा अन्य ग्रन्थों में बल[५], उत्साह[६] का अतिरेक पराक्रम[७], चेष्टा[८], सामर्थ्य[९] इत्यादि अर्थ में मिलता है।

वीर्य की व्युत्पत्ति

विशेषेण ईरयति-प्रेरयति, अहिंत येन तदीर्यं" ईर गति प्रेरणयोः धातु से वीर्य शब्द बना है अहित त्याग से आत्म-शक्ति का संवर्धन होता है। उसे ही आत्मवीर्य कहते हैं।

---

१. सिद्धहेम शब्दानुशासन पृ. २४,
२. उत्तराध्ययन सू. अ. ३ गा. १०, ११
३. सूत्रकृतांग सू. श्रु. २-५
४. चन्द्र प्रज्ञप्ति सू. सटीक-२०
५. भगवती सू. सटीक शतक-७ उ. ७
६. स्थानांग सू. स्था. ८ उ. ३
७. कल्प सुबोधिका सटीक अधि. १-६ क्षण
८. सर्वार्थसिद्धि - ६/६/३२३-१२
९. पंच संग्रह गा. ४

हमारा दृश्य शरीर औदारिक शरीर है। इस शरीर में योगास्रव के आवेग अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं। चिकित्सकों ने भी इन आवेगों के उपायों की खोज की है। उन्होंने सात धातुओं में सप्तम धातु वीर्य को माना है। इस प्रकार आत्मा और शरीर दोनों द्वारा वीर्य का विकास परिलक्षित होता है।

हमारे मस्तिष्क में अनेक प्रकार की तरंगें पैदा होती हैं। अल्फा, बेटा, थेटा इत्यादि-विभिन्न आवेगों का, विभिन्न उत्तेजनाओं का, यौगिक पद्धति से निरीक्षण और परीक्षण किया जा सकता है।

शरीर शास्त्र में सप्त धातुओं में से अंतिम धातु वीर्य को ही सर्वस्व मान्य किया है क्योंकि वीरता, पराक्रम, शौर्य, लावण्य इत्यादि रूप में परिणमित हुए दिखते जाते हैं। किन्तु अध्यात्म शास्त्र में आत्मिक वीर्य को ही महत्व दिया है। वीर्यशक्ति, बलस्थान, पराक्रम, शौर्य, उत्साह इत्यादि का आधार आत्मवीर्य माना है। मन, वचन और कायरूप योग से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल, स्पंदन या प्रवृत्ति होती है उन सबमें आत्मवीर्य की ही प्रधानता होती है। वीर्य के अभाव में मन, वचन और काया का कोई प्रभाव नहीं होता। इस प्रकार योग और वीर्य का परस्पर सम्बन्ध अनिवार्य है।

हमें जो परिस्पन्दन का संवेदन होता है, यह वीर्य का ही प्रभाव है। जब तक योग स्थिर नहीं होता, तब तक वीर्य में परिस्पंदन का ही प्रभाव माना जाता है। जैसे ही योग शुभ होता जायेगा वीर्य में स्थिरता क्रमशः बढ़ती जायेगी। आत्मा की विशुद्धि, निष्कंपता एवं कर्मक्षय का सातत्य भी वर्धमान होता जायेगा।

जब आत्मा में वीर्य की उत्कृष्टता होती है, तब योगों की प्रवृत्ति मंद हो जाती है और परिणाम शक्ति तीव्र हो जाती है। वीर्य द्वारा पुद्गल और आत्मा पृथक परिलक्षित होते हैं। अतः यहाँ वीर्य को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. लब्धि वीर्य और २. उपयोग वीर्य।

लब्धि वीर्य

लब्धि वीर्य में बहिर्मुख से अंतर्मुख की ओर ले जाने की प्रक्रिया है। मन, वचन और कायिक वीर्य को अधोन्मुख भूमिका से ऊर्ध्वीकरण कर विकासोन्मुख की ओर ले जाना, बन्धन को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर करना, आवरण से अनावरण की ओर बढ़ाना, परतन्त्रता की परिधि से स्वतन्त्र विहरण करवाना इत्यादि प्रवृत्ति वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम से होती है।[१०]

---

१०. आनंदघन कृत चौबीशी, महावीर जिन स्तवन गा. ३

वीर्य परिणाम या आत्म-प्रदेश परिस्पंदन से जो परिणमन रूप शुभ योग है, उसे लब्धि वीर्य कहते हैं। लब्धि वीर्य छद्मस्थ और मुक्त साधक के रूप से उभयात्मक है।

उपयोग वीर्य

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से वीर्य उत्तेजित होता है और योग विशुद्ध होता है। ऐस योग वीर्य के दो पहलू हैं। १. छद्मस्थ वीर्य २. मुक्तवीर्य। छद्मस्थ वीर्य कर्मों से आवृत्त होता है। क्योंकि सलेशी आत्मा क्षयोपशमिक वीर्य लब्धि प्राप्त करता है और अलेशी आत्मा क्षायिक वीर्य लब्धि को प्राप्त करता है। जब शुभलेश्या आती है तब ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास उत्पन्न होता है। इस अवस्था को अभिसंधिज योग कहते हैं और आत्मा में होने वाले सहज स्फुरण से शरीर में जो प्रवृत्ति सहज रूप से चलती है, जैसे-कंपन, स्फुरण या रूपान्तर से आत्मा में होने वाला स्फुरण अनभिसंधिज योग कहलाता है। इसे उपयोग वीर्य कहते हैं।

कोष्ठक नं. ४.

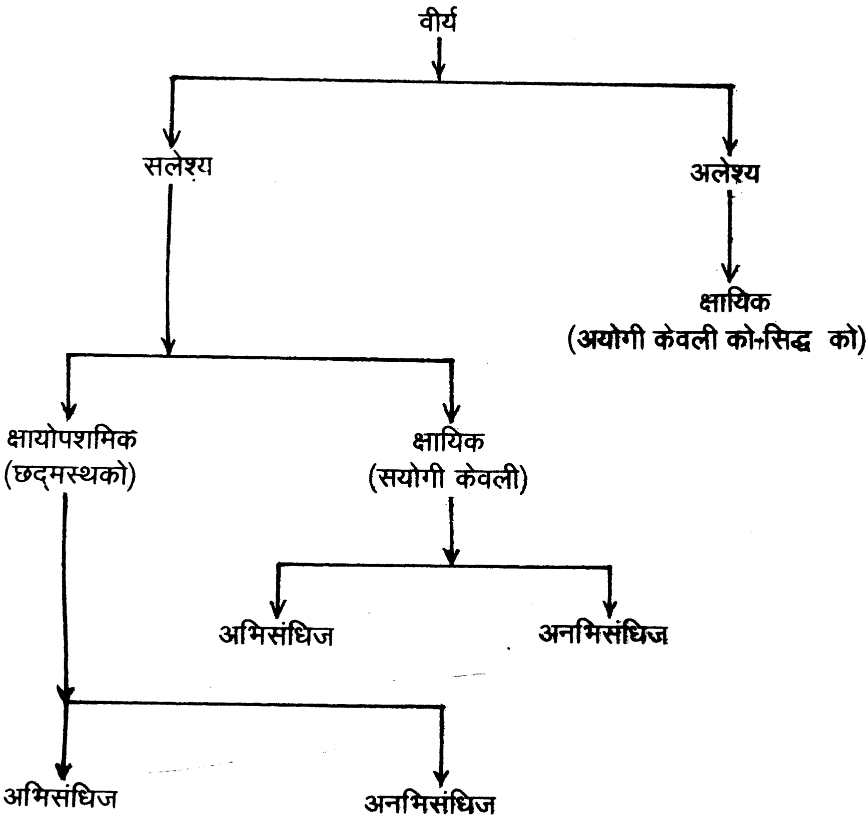

छद्मस्थ वीर्य के तीन स्तर है –

१. द्रव्य वीर्य का स्तर–यह स्थूल औदारिक शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

२. भाववीर्य का स्तर–यह सूक्ष्म तैजस् शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

३. आन्तरिक वीर्य का स्तर–यह अति सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ क्रियान्वित होता है।

१. औदारिक वीर्य का मन और इन्द्रिय जगत से सम्बन्ध होता है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से इन्द्रिय विषयोन्मुख होती है और मन उसमें प्राण जगाता रहता है। इन विषयों की सम्पूर्ण प्रवृत्ति मन के विचारों से, वाणी के प्रचार से और शरीर, बुद्धि या चेतना के सक्रियता से सम्पादित होती है। विषयात्मक प्रवृत्ति का नियन्त्रण किया जा सकता है जिससे भाव वीर्य का स्तर जागृत होता है। साधक गहराई में उतरता है तो स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ठ होता है, सूक्ष्म शरीर तैजस् शरीर है। बाह्य प्रवृत्ति का नियन्त्रण किया जा सकता है क्योंकि वह हमारी परिस्थिति के तथा प्रक्रिया के अनुरूप प्रवर्तमान रहती है। मानसिक प्रवृत्ति, वाचिक प्रवृत्ति, कायिक प्रवृत्ति जो क्रियमान है, तनाव युक्त है, उसे तनाव मुक्त कर सकते हैं किन्तु सूक्ष्म तैजस् शरीर भाव वीर्य का स्तर है। भाव वीर्य की उत्पत्ति कषाय से होती है, और कषाय रागात्मक और द्वेषात्मक भाव से होता है। भाव जब क्रियात्मक रूप धारण करता है तब स्थूल शरीर में दृश्यमान होता है किन्तु जब भाव रूप में है तब सूक्ष्म शरीर में विद्यमान है। वहाँ नियन्त्रण की अपेक्षा नहीं होती यहाँ जो भी होता है स्वाभाविक होता है। जो स्वाभाविक होता है वह उपयोग वीर्य है।

मनोवैज्ञानिक किसी भी व्यक्ति के मानसिक स्तर को जांच सकता है। अपराधों की खोज करवा सकता है। जैसे-वैज्ञानिकों के उपकरण मशीन वगैरह से, डकैती, चोरी आदि का ग्राफ उतरता है और माल, व्यक्ति आदि की जाच होती है। कुत्तों द्वारा अपराधियों को पकड़ा जाना इत्यादि में भी भाव का प्राधान्य माना जाता है।

भाववीर्य आंतरिक वीर्य के स्तर से स्थूल है। आंतरिक वीर्य का सम्बन्ध कार्मण शरीर से है। कर्म शरीर है। कर्म शरीर में जो घटनाएं घटित होती हैं वह अति सूक्ष्म होती हैं, उस घटना का प्रभाव भाव पर होता है और भाव का प्रभाव मानसिक स्मृति पर होता है। इस प्रकार अतिसूक्ष्म के स्तर पर पहुँचा हुआ साधक इन्द्रियजन्य विषय भोग का मापदंड निकाल सकता है। जैसे आँखों का विषय रूप है और कानों का विषय शब्द है उनके लिए कोई फर्क नहीं आँखें भी सुन सकती हैं। कान भी देख सकते हैं। वैज्ञानिकों ने भी संशोधन किया है, उनके अनुसार भी फ्रीक्वेन्सी का अंतर

है। इस प्रकार क्रिया से शोधन, शोधन से रूपान्तरण होता है, यह रूपान्तरण क्रमशः उपयोग वीर्य की अनुभूति को उजागर करता है। इस उपयोग वीर्य से मुक्ति वीर्य सहज प्राप्त होता है।

वीर्य के प्रकार

१. सलेश्य वीर्य—लेश्या अर्थात् भिन्न-भिन्न अनुसंधान के योग से मन पर होने वाले परिणाम। ये परिणाम अनेक रूप में अभिव्यक्त होने पर भी हम शुभयोग रूप संकल्प शक्ति का उपयोग करें। इस शक्ति से शुभ लेश्याओं का द्वार खुलेगा, संकल्प शक्ति, साकार होगी और एकाग्रता में स्थिरता बढ़ेगी। संकल्प शक्ति एकाग्रता की शक्ति और अध्यात्म की शक्ति एक साथ होगी तब लेश्या का शुभलेश्या में रूपान्तरण हो जायेगा।

मन, वचन और काय रूप योग परिणाम से लेश्या का परिणमन स्थित रहता है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवली भगवन्त को भी योगवीर्य रूप लेश्या परिणाम प्रवर्तित होता है। सलेश्यवीर्य के तीन प्रकार होते हैं

१. आवृत्त वीर्य—कर्म से आच्छादित वीर्य

२. लब्धि वीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से प्रकट वीर्य

३. परिस्पंद वीर्य—लब्धि वीर्य में से जितना वीर्य मन, वचन और काययोग द्वारा प्रवृत्त हो।[११]

२. द्रव्य वीर्य—साधना में वीर्य का अत्यन्त महत्त्व है, बुरी आदतों की जड़ों को उखाड़ने का पुरुषार्थ द्रव्य वीर्य में है। हमारे आंतरिक जगत में घटित होने वाली घटनाएँ बड़ी जटिल होती हैं। जैसे बीमारी की जड़ में जम्स नहीं हैं, बीमारी की जड़ें हमारे भीतर से सम्बन्धित है। ये बीमारी की जड़ें हमारे वीर्य में हैं। भाव वीर्य की विशुद्धि जब तक विद्यमान रहेगी बीमारी आने का मार्ग ही नहीं रहेगा। वीर्य में गड़बड़ी होते ही रोग अपना सामना करने लगेगा। बाह्य स्थूल शरीर में अभिव्यक्त होने लगेगा। बाह्य जम्स तो निमित्त मात्र हैं। संयोग से मिल जाते हैं। शारीरिक और आत्मिक दोनों वीर्य तीन स्वरूप में जीवात्मा में जुड़े हुए हैं।

१. सचित वीर्य—जीवधारी आत्मा का वीर्य

२. अचित वीर्य—शरीर धारी आत्मा का जैसे आहार आदि का वीर्य

३. मिश्र वीर्य—अचित्त (जड़) से संयुक्त ऐसे जीव का जो वीर्य

---

११. कर्म प्रकृति श्लो. ४. की टीका

३. भाव वीर्य—भांव वीर्य का सम्बन्ध लेश्या के साथ जुड़ा हुआ है। आतरिक भाव जिस स्वरूप में उपस्थित होगा उसी रूप में वर्णादि लेश्या उभर कर आयेगी। तैजस् शरीर और तेजोलेश्या सहचारी है। दोनों में विद्युत चुम्बकीय तत्त्व है। इन्हीं तत्त्व के द्वारा भाव वीर्य का ऊर्ध्वीकरण होता है। काषायिक वृत्तियों का परिवर्तन भाव वीर्य की देन है, क्योंकि वीर्य के पास विद्युत की शक्ति है, विद्युत के पास लेश्या की शक्ति है, लेश्या के पास तैजस् की शक्ति है और तैजस् के पास आत्म-लब्धियाँ हैं। इस प्रकार भाव वीर्य आत्म-लब्धि का वीर्य है।

वीर्य द्वारा साधक मन, वचन काया और श्वासोश्वास द्वारा योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है और मन, वचन, काया और श्वासोश्वास रूप में परिणत करता है। इस परिणमन से सूक्ष्म कंपन पकड़ने में जो सक्षम होता है, वही भाव वीर्य है।

४. अध्यात्म वीर्य—शुभयोग से उत्पन्न सात्त्विक शक्ति को अध्यात्म वीर्य कहते हैं। आत्मवीर्य का परम उपाय जागृति का सातत्य है। मैं और शरीर सर्वथा भिन्न हैं ऐसी प्रतीति होना इन्द्रियजन्य व्यापारों से भिन्न संकल्प विकल्प से रहित, शारीरिक, मानसिक और वेदना जन्य तनाव से मुक्त अध्यात्म वीर्य होता है।

५. बाल वीर्य—जीवात्मा प्रमादवश जो भी प्रवृत्ति करता है वह बाल वीर्य है। प्राणी मात्र में राग का प्रवाह जितना तीव्र होता है उतना ही तनाव बढ़ता जाता है। मानसिक जटिलता और बौद्धिक उलझनें अनेक असमानता को पैदा करती हैं फलतः वस्तु स्थिति को यथावत् प्रकट नहीं होने देती हैं। अतः मन, वचन और कायिक शक्ति स्वाभाविक होने पर भी मानसिक हिंसा का चिन्तन करना बाल वीर्य है।

६. पंडित वीर्य—देहात्म भिन्नता का बोध होने पर आत्मवीर्य की निरन्तर उन्नति होती है। कर्मों का क्षय होता है और भावों की विशुद्धि होती है। ऐसे शुभ अनुष्ठान से सच्चाई की सुरक्षा का प्रबन्ध होता है। सच्चाई स्वयं में क्या है यह आत्मवीर्य के पूर्व जाना नहीं जा सकता। जब तक हमारे ज्ञान सूर्य में विकृति के बादल छाये रहते हैं तब तक उस प्रकाश में आत्मानुसंधान नहीं किया जा सकता। आत्मानुसंधान के लिए चाहिए पंडित वीर्य का सम्यक् सामर्थ्य। जब योगावस्था के आलंबन से सम्यक् वीर्य स्फुरित होता है तब सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग ग्रहण होता है। इस प्रकार कर्म से अकर्म की ओर आत्मा की निरन्तर उन्नति विशेष अनुष्ठान रूप उपयोग को पंडित वीर्य कहते हैं।

७. कर्म वीर्य—जो भी अनुष्ठान किया जाता है, वह कर्म वीर्य है अथवा कारण में कार्य का उपचार करके अष्ट प्रकार के कर्मों को कर्म वीर्य कहते हैं।

कर्म के दो प्रकार है—सांपरायिक एवं ऐर्यापथिक। कषाय रहित किया जाने वाला कर्म ऐर्यापथिक होता है। सांपरायिक कर्म कषाय सहित किया जाता है।

८. **अकर्म वीर्य**—जिसमें कर्म नहीं वह अकर्म वीर्य है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न जीव का स्वाभाविक सामर्थ्य अकर्म वीर्य है। अकर्म वीर्य में आत्मा कषाय रूप बन्धनों से मुक्त होकर कर्मों का विनाशक होता है।[१२]

इस प्रकार अकर्म वीर्य में आत्मा ध्यानयोग को ग्रहण करता है और काया को अप्रशस्त व्यापार से रोकता हुआ परीषह उपसर्गों को सहन करता है एवं मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयममय अनुष्ठान में संलीन रहता है।[१३] वीर्य का उचित उपयोग कर उपायों द्वारा अंतिम सिद्धि को प्राप्त करना ही अकर्म वीर्य की सात्त्विक सफलता है।

निक्षेप वीर्य

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव भेद से छः प्रकार का है।

जैन दर्शन के अनुसार वीर्य से सत्-असत् का विवेक होता है, यथार्थ दृष्टि की प्रतीति होती है और सामर्थ्यपूर्ण मनोभाव जागृत होता है। वीर्य में ज्ञान और क्रिया का ऐसा समन्वय है जिससे जीवन और जगत की व्यवस्थाओं का सम्यक् बोध प्राप्त होता है। कर्मों के क्षयोपक्षम से जो वीर्य लब्धि प्राप्त होती है उसने सहज देहात्म बुद्धि को सत्य की वेदी पर समर्पित करने का संकल्प लिया है। फलतः वीर्य से आनन्द के क्षणों का अनन्य लाभ प्राप्त होता है।

वीर्य उत्तेजना

योग निष्णात् महर्षियों के अनुसार—हमारे संवेदनों से वीर्य में अद्‌भुत परिवर्तन पाया जाता है क्योंकि हमारी इन्द्रियों के विषयों में न्यूनाधिक उत्तेजनाएँ पायी जाती हैं। जिसका माध्यम है—श्रवण, दृष्टि, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि। इसी माध्यम से प्राप्त वीर्य शक्तियाँ वायु कम्पनों से उत्तेजित होती है। जैसे—वायुमंडल में वायु-कम्पन एक से असंख्य संख्या तक प्रति सेकण्ड होते रहते हैं। उनमें से श्रवण वीर्य शक्ति ११ से ६०००० प्रति सेकण्ड कम्पन ग्रहण करती है जिसका सम्बन्ध शब्द संवेदन से है। वायुकम्पन बराबर बढ़ता रहने पर भी उन्हें कोई इन्द्रिय ग्रहण नहीं करती। जब वायुकंपन एक करोड़ अस्सी लाख प्रति सेकण्ड होते हैं तब स्पर्श प्रभावित होता है और उष्णता का संवेदन अनुभव होने लगता है। इसके पश्चात् दूर तक कोई संवेदन

---

१२. सूत्रकृतांग सू. ३ से १०
१३. सूत्रकृतांग सू. ११ से २६

नहीं होता। चार अरब साठ अरब प्रति सेकण्ड वायु कम्पन से होने लगते हैं, तब चक्षु का प्रभाव होने लगता है। इसी प्रकार गंध और रस की तीव्रता और मंदता का प्रभाव होता है।

मनोवैज्ञानिकों ने संवेदना, उत्तेजना, आवेगों इत्यादि का मापदंड तो निकाला है पर उसका वीर्य से क्या सम्बन्ध है इसका मापदंड तो महर्षिओं की अनूठी उपज है। महर्षियों ने योग द्वारा प्रयोगात्मक रूप से इसे पाया है। जैसे–

बाह्य उत्तेजना का वीर्य पर प्रभाव	खान-पान, हाव-भाव, वेश-भूषा, उत्तेजित दृश्य, स्पर्श और अनाचरण
ज्ञान तन्तु का योग	उत्तेजना को लाने वाला ज्ञान तन्तु है जैसे तार के बिना विद्युत प्रवाहमान नहीं होता वैसे ही तन्तु के अभाव में उत्तेजना का अभाव।
ग्राह्य मन	संवेदन मन में पैदा होता है, उत्तेजना को ग्रहण करने वाला मन यदि नहीं है तो बाह्य वातावरण और ज्ञान तन्तु दोनों व्यर्थ हैं।

वीर्य उत्तेजना चार रूप में उत्तेजित होती है और संवेदना से अनुभूत होती है। जैसे–

१. **प्रकार** (Quality)	आचार, विचार और संस्कार के रूप में ढल जाना
२. **बल** (Intensity)	शरीर की पुष्टि के अनुरूप शक्ति का माप दंड पाना।
३. **समय** (Time)	वीर्य उत्तेजना (आध्यात्मिक-भौतिक) न्यूनाधिक समय के अनुरूप उत्तेजित होना।
४. **फैलाव** (Extensity)	बाह्य और आंतरिक दोनों आकृति का प्रकृति और विकृति के अनुरूप फैलाव होना।

योग और वीर्य से प्राप्त लाभ

सत्-असत् का विवेक ज्ञान,
बाह्य प्रवृत्तियों का नियन्त्रण,
काषायिक भावों की मंदता,
अज्ञान दशा में विशुद्धि का बोध,
उपयोग की प्राप्ति।

२. लेश्या से रासायनिक बदलते रूप

योग और लेश्या

मन के अध्यवसाय एक जैसे नहीं होते। वे बदलते रहते हैं। कभी अच्छे होते हैं तो कभी बुरे। मन के इन परिणामों अथवा भावों को "लेश्या" कहते हैं। स्फटिक के समीप जिस रंग की वस्तु रखी जाये उसी रंग से युक्त स्फटिक देखा जाता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के संयोग से मन के परिणाम (अध्यवसाय) बदला करते हैं। मनुष्य को जब क्रोध आता है, तब उसके मनोगत भाव का प्रभाव उसकी मुखाकृति पर उभर कर आता है। उस क्रोध के अणुसंधान का मानसिक आन्दोलन जो उसके मुखाकृति पर घूम रहा है, उसी की यह अभिव्यक्ति है। भिन्न-भिन्न अणुसंघात के योग से मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव अथवा मन के भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। इसी का नाम लेश्या है। ऐसे अणुसंघात का वर्गीकरण छः प्रकार से किया गया है, जैसे कि कृष्ण वर्ण के नील वर्ण के, कापोत वर्ण के, पीत वर्ण के रक्तवर्ण के तथा शुक्ल वर्ण के द्रव्य। ऐसे द्रव्यों में से जिस प्रकार के द्रव्य का सान्निध्य प्राप्त होता है उसी द्रव्य के अनुरूप रंगवाला मन का अध्यवसाय भी हो जाता है। इसी का नाम लेश्या है।[१]

आधुनिक वैज्ञानिक खोज में भी यह ज्ञात हुआ है कि मन पर विचारो के जो आन्दोलन होते हैं वे भी रंगयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त जीवों के आन्तरिक भावों की मलिनता तथा पवित्रता के तरतम भाव का सूचक छः लेश्याओं का विचार जैनशास्त्रों में है, और आजीवकमत के नेता मंखलिपुत्र गोशालक के मत में कर्मों की शुद्धि अशुद्धि को लेकर कृष्ण, नील आदि छः वर्णों के आधार पर कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल, परमशुक्ल ऐसी मनुष्यों की छः अभिजातियाँ बतलाई गई हैं। (वौद्धग्रन्थ अनुत्तरनिकाय में इस गोशालक ने श्री महावीर प्रभु की छद्मस्थ अवस्था में उनके शिष्य के रूप में उनका सहचार लगभग छः वर्ष तक रखा था ऐसा उल्लेख है।)

---

१. भगवती सूत्र श. १४. उ. ९, प्र. १२, पृ. ७०७

महाभारत के बारहें शान्तिपर्व के २८६ वे अध्याय में—

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम् ।
रक्तं पुनः सहयतरं सुखं तु हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम् ॥७॥
परं तु शुक्लं विमलं विशोकं

इन वचनों से 'जीववर्ण' बतलाए हैं। कृष्ण, नील, रक्त, हारिद्र, शुक्ल और परम शुक्ल। महाभारत में जिन छः वर्णों का उल्लेख है वे ही छह वर्ण गोशालकमत में बतलाए गये हैं। पांतञ्जल, योग दर्शन के चौथे पाद के **'कर्म अशुक्लाकृष्णं योगिनः त्रिविध मितरेषाम्।'** इस सातवें सूत्र में कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल और अशुक्लकृष्ण, इस प्रकार कर्म के चार विभाग करके जीवों के भावों की शुद्धि-अशुद्धि का पृथक्करण किया है।

लेश्या शब्दार्थ

पाइअसद्दमहण्णवो कोश पृ. ७२८ में लेश्या शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे तेज, दीप्ति, किरण, मण्डल, बिम्ब, देह, सौन्दर्य, ज्वाला, आत्मा का परिणाम विशेष, आत्म-परिणाम निमित्त भूत कृष्णादि द्रव्य विशेष इत्यादि। अभिधान राजेन्द्र कोश भाग ६ पृ. ६७५ में लेश्या शब्द का अर्थ अध्यवसाय तथा अन्तःकरण वृत्ति के रूप में प्रयुक्त हुआ है। आप्त कोश पृ. ४८३ में लेश्या अर्थ में ज्योति शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवती सूत्र में सुख और वर्ण ये दो शब्दों द्वारा लेश्या का अर्थ प्राप्त होता है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ. ९६७ में लेश्या शब्द प्रकाश उजियाला अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

बृहदवृत्ति ६५० पत्र में लेश्या शब्द का अर्थ आभा, कान्ति, प्रभा, छाया आदि मिलता है। गोम्मटसार में शरीर के वर्ण और आभा को द्रव्य लेश्या और विचार को भाव लेश्या कहा है।

यहाँ वर्ण, आभा और विचार पौद्गलिक और मानसिक रूप में हमारे सामने उपस्थित हुए हैं। इसमें वर्ण और आभा शरीर का बाह्य स्थूल रूप है किन्तु विचार सूक्ष्म है। विचार भावों के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। भाव का सम्बन्ध कषाय के स्पन्दनों से और विचार का सम्बन्ध, मस्तिष्क के सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। मस्तिष्क में जैसे ही स्मरण, चिन्तन, चयन आदि का विश्लेषण होता है उसी प्रकार भाव तरंगित होते हैं। ये तरंगें अन्तःस्रावी ग्रंथियों से उठती हैं। तरंगों को उठने के दो द्वार हैं, एक ग्रंथियाँ और दूसरा नाड़ियों का समूह। दोनों मस्तिष्क और मेरुदण्ड से जुड़े हुए हैं। ग्रंथियों से भावों का स्राव होता है और नाड़ियों से विचारों का निर्माण होता है।

जिस लेश्या का जैसा भाव होता है वैसे ही विचारों का निर्माण होता है। भाव, योग, लेश्या कषाय इत्यादि कर्म बन्ध के हेतु हैं। अतः भावों को विशुद्ध रखना परम आवश्यक है। भावों की शुद्धि तेजु, पद्म और शुक्ल गुणों से होती है। अतः श्वेत वर्ण, पीत वर्ण और रक्त वर्ण में सतोगुण होने से उसी का ध्यान श्रेयस्कर होता है। रक्त वर्ण का ध्यान सिद्धावस्था के लिए उपयुक्त है। श्वेत वर्ण का ध्यान अरिहंत अवस्था को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त है और पीत वर्ण का ध्यान आचार्य पद की स्थापना के लिए प्रयुक्त होता है।

लेश्या की परिभाषा

प्रज्ञापना की वृत्ति में "योग परिणामों लेश्या" योग के परिणाम को लेश्या कहा है। योग और लेश्या में अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः जहाँ योग है वहाँ लेश्या है जहाँ लेश्या है वहाँ योग है। इस प्रकार जब तक लेश्या है तब तक संयोग है जैसे ही जीव अलेशी हुआ उसी समय अयोगी भी हो जाता है। अलेशी और अयोगी सिद्धत्व का लक्षण है।

सयोगी केवली शुक्ल लेश्या परिणाम में परिणमन करते हुए जब अवशिष्ट अन्तर्मुहूर्त में योग का निरोध करते हैं तब अयोगीत्व और अलेश्यत्व प्राप्त होता है। अंतमुहूर्त पूर्व योग और लेश्या का सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण भी है। अतः पुद्गल और जीव का सम्बन्ध कराने वाला जिस प्रकार योग है उसी प्रकार योग का परिणाम लेश्या होने से लेश्या भी जीव और पुद्गल को संयोग कराने में सहयोगी है।

योग का परिणाम लेश्या है, इस परिणमन रूप लेश्या का प्रवाह बहाने का कार्य कषाय का है अतः दूसरी परिभाषा बन गई **"योग पउत्ति लेस्सा कषाय उद्याणुरंजिया होई।"** पुद्गलों से ज़ीव प्रभावित होता है और जीव से पुद्गल प्रभावित होता है। दोनों का प्रभुत्व राग और द्वेष रूप होने से आत्मा के साथ शुभ और अशुभ रूप से लेश्या जुड़ी हुई है। लेश्या जैसी होगी मानसिक परिणति उसी धारा में प्रवाहित होती है। कषाय की तीव्रता और मंदता के अनुरूप शुद्धि और अशुद्धि होती है। अर्थात् लेश्या का वैसा ही पर्यावरण होता है।

"लिश्यते कर्मणासहआत्मा अनयेतिलेश्या"—जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है वह लेश्या है।

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि आत्मा कर्मों से लिप्त होता है किन्तु कर्मों को उजागर करने वाला मन, वचन और काय योग रूप भाव होता है। भाव का सम्बन्ध कषायगे के स्पन्दनों से है। हमारे सूक्ष्म शरीर में ये स्पन्दनों के भिन्न-भिन्न प्रभाव

संस्कार के रूप में जमा होते हैं। कषाय जितने तीव्र होंगे स्पन्दन उतने ही तरल होंगे। स्पन्दन जितने मंद होंगे भावों की विशुद्धि उतनी ही विशुद्ध होगी। कषायों की मंदता से भावात्मक रूप तेजों, पद्म और शुक्ल शुभ लेश्याओं की शक्ति तीव्र होती है और कषायों की तीव्रता से कृष्ण, नील और कापोत अशुभ लेश्याओं की शक्ति तीव्र होती है।

शुभाशुभ भावनाएँ

शुभ और अशुभ भावनाओं के दो प्रकार हैं, एक प्रवाह है इच्छा का, दूसरा प्रवाह है तृप्ति का। इच्छाओं का कभी अभाव नहीं होता, इच्छाओं की समाप्ति का हेतु है शुभभाव रूप तृप्ति।

कषाय रूप तीव्र और मंद इच्छाओं से, शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श में परिवर्तन होता है।

शब्द

शब्द यह श्रोतेन्द्रिय का विषय है। इस विषय से लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। भीतर से जैसे भाव उभरते हैं हमारी लेश्या युक्त शब्द उसी रूप में स्फूरायमान होता है और उन शब्दों से दूसरों के भाव-तन्त्र संस्कारित हो जाते हैं तब वही संस्कार लेश्या के रूप में प्रकट होते हैं। शब्दों की शृंखला एक सी नहीं होती, वह तो बदलती रहती है। भिन्न-भिन्न शब्दों के संयोग से भिन्न-भिन्न वातावरण उपस्थित होता रहता है। जैसे हम किसी को प्यार करते हैं तो किसी को ठुकराते भी हैं। प्यार के शब्दों में रागात्मक भाव उजागर होते हैं और तिरस्कार के शब्दों में द्वेषात्मक भाव जागृत होते हैं। दोनों प्रकार के शब्दों के प्रयोग में, चुनाव में, स्पन्दनों में, तरंगों में परिवर्तन की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती है। शब्द भीतर भाव-रूप में होता है तब अतिसूक्ष्म ध्वन्यात्मक रूप में होता है। ध्वनि श्रव्य और अश्रव्य दो प्रकार की है। अश्रव्य ध्वनि (Ultra Sound-Supersonic) भाव-लेश्या के रूप में भीतर स्फूरायमान होती है जो सुनाई नहीं देती है। हमारे कान केवल अधिक से अधिक प्रति सेकण्ड ६० सहस्र कंपनों को पकड़ सकते हैं। यही कम्पन स्थूल रूप को धारण कर अच्छे और बुरे विचार के रूप में व्यक्त-अव्यक्त होते हैं।

यदि विवेक शुद्धि है तो शब्दों का चयन उपयोग रूप में बदल जायेगा, यदि विवेक का अभाव है तो शब्दों का चयन उपभोग रूप में बदल जायेगा। हमारी घटना के अनुरूप शब्दों का उपयोग होता है। हमारी वृत्तिओं के अनुसार शब्दों के चयन होते हैं। हमारे भाव के रूप में हमारी लेश्याओं का परिवर्तन होता है।

रूप

रूप चक्षु-इन्द्रिय का विषय है। मानव मात्र रूप में मंत्रमुग्ध होता है, क्योंकि रंग का आकर्षण अपने आप मं एक बहुत बड़ा महत्व रखता है। पदार्थों में कोई मानव काला, कोई श्वेत, कोई रक्त, कोई नीले रंग का चुनाव करता है। रंग का हमारी ऊर्जाओं पर विशेष प्रभाव होता है। यदि रंगों का ध्यान किया जायेगा तो हमारी काले रंग की वृत्तियाँ श्वेत हो जायेंगी। हमारे बुरे विचार समाप्त हो जायेंगे। हमारी कामनाएँ शुद्ध भावनाओं में परिवर्तित हो जायेंगी।

चक्षु-इन्द्रिय का विषय चार अरब साठ खरब वायु कंपन प्रति सेकंड से प्रारम्भ होकर सात खरब तीस अरब प्रति सेकंड पर अन्त होता है। चार खरब साठ अरब वायु कंपन प्रति सेकण्ड पर लाल रंग का संवेदन होता है और सात खरब तीस अरब पर नीले रंग का संवेदन होता है।

अतः रूप की भावना, रूप की लेश्या, रूप के अध्यवसाय भी शुभ और अशुभ के प्रभाव से शब्द की तरह उपयोग और उपभोग का परिवर्तन लाता है।

गंध

शुभ तीन लेश्याओं के संयोग से गंध सुगंधी होती है और अशुभ लेश्या के संयोग से गंध में बदबू आती है। अनुभव सिद्ध है जिसे क्रोध आता है उसका पसीना दुर्गंधी होगा। प्यार यदि वासनात्मक कामुकतायुक्त है, पसीने में बदबू आयेगी। हर पदार्थों में गंध है। हम जैसे पदार्थों का चयन करेंगे, वैसी गंध, वैसी भावना, वैसी लेश्या, वैसे विचार और वैसा आचरण उपस्थित होगा। अतः गंध का उपयोग करें उपभोग नहीं। उपभोग से गंध दुर्गंध हो जायेगी। गंध फेफड़ों की रक्षक है। फेफड़ों के वास्ते जैसी वायु की आवश्यकता है वैसी वायु को बताना घ्राण का कर्तव्य है अन्यथा कोमल फेफड़े विषैली वायु से घुटकर प्राणघातक हो जाते हैं।

रस

खट्टे, मीठे आदि रसों की रुचि, आकर्षण और भोग का आस्वादन कराती है। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक प्राणी मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों रस के प्रभावों से अनुभूत होता है। यह अनुभूति ही लेश्या है।

हमारे शरीर में शान्ति और पवित्रता के साथ-साथ वासनाओं को उत्तेजित करने वाली अनेक ग्रन्थियाँ हैं। जैसे पीयुष ग्रन्थि और जनन ग्रंथि से वासनात्मक भाव रूप

रस का स्राव होता है। पिनिअल, सोलार जैसी ग्रन्थियों से पवित्रात्मक रूप मधुर रसास्राव पाया जाता है। हमारे भावों के अनुरूप हमारी लेश्याएँ तरंगित होती हैं।[२]

हमारी आंतरिक चेतना को जगाने के लिए ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण आवश्यक है। रस परित्याग से चेतना के अनेक द्वार खोले जाते हैं। वासनाएँ समाप्त की जाती हैं, उत्तेजनाएँ नष्ट की जाती हैं।

प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र के शब्दों में—सात्विक भोजन से प्राप्त रस पाचन शक्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में आवश्यक है। किन्तु रसना की लोलुपता सदा गतिमान रहती है, (ऐक्टिव अर्थात सक्रिय होती है।) रस विकृति की उत्पत्ति से प्रभावित संस्कार अनेक आकर्षण, विकर्षण और संघर्षण पैदा करती है। अतः कषायों द्वारा तीव्र ररों को मंद करने का एकमात्र उपाय ध्यान है। आहार संज्ञा पर विजय प्राप्त करने के लिए वृत्तियों का परिवर्तन वृत्तियों पर आक्रमण, तीव्र रस को क्षीण करने का सामर्थ्य केवल ध्यान में है।

अतः लेश्या और योग में रस सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है। जिह्वा और तालु में पाँच प्रकार का रसास्वाद होता है। मीठा, खट्टा, नमकीला, कड़ुआ और तीखा। मीठा और खट्टा स्वाद जिह्वा के अग्रभाग पर, नमकीला स्वाद दोनों किनारों पर, कड़ुआ स्वाद जिह्वा के पिछले भाग पर और तीखा अग्र और पीछे दोनों के सम्बन्ध से होता है। मीठा स्वाद क्षुधा को घटाता है, कड़ुआ क्षुधा को बढ़ाता है, खट्टा प्यास बुझाता है, नमकीला प्यास बढ़ाता है, ये सारी प्रवृत्तियाँ इन्द्रियों द्वारा होती हैं और लेश्या भाव द्वारा परिणमन होती हैं। पदार्थों में पोटेंशियल रस है और रसेन्द्रिय में पोटेंसियल सेंसटिविटी है। जिह्वा अनुभव करने में सक्षम है, पदार्थ अनुभव देने में समर्थ है किन्तु दोनों के बीच में योग जुड़ा हुआ है। इन्द्रिय अकेली है स्वाद नहीं, पदार्थ अकेला है स्वाद नहीं, स्वाद का अनुभव इन्द्रिय, मन, चेतना आदि के संयोग से होता है। अतः संयोग ही रसयोग है। वैज्ञानिक टालस्टाय ने आत्मनियन्त्रण का सरल

---

२. हिन्दी विश्व कोष भा. २ पृष्ठ-२२४, २२९ पृष्ठ पर मिलता है कि—

ये तरंगें विद्युतचुंबकीय तरंगों में परिवर्तित होती हैं। जिस धातु का धनाग्र हो उस धातु के परमाणुओं से प्रथम आघात होने पर इलेक्ट्रॉन उस धनाग्र के तल के भीतर जाते हैं, इन परमाणुओं से इलेक्ट्रॉनों की गति में प्रतिरोध होता है क्योंकि वे परमाणु भी अन्य इलेक्ट्रॉनों से परिवेष्ठित होते हैं। प्रत्येक धातु में धात्वीय इलेक्ट्रॉन होते हैं जिनके कारण धातुएँ विद्युतचालक होती हैं। धनाग्र में प्रवेश करते समय ऋणाग्र से आने वाले इलेक्ट्रॉनों तथा धनाग्र के आंतर इलेक्ट्रानों में अनेक संघात होते हैं।

अतः अंत में जब बाह्य इलेक्ट्रॉनों से विद्युतचुंबकीय तरंगें उत्पन्न होती हैं तब इन इलेक्ट्रॉनों की न एक समानता होती है और न एक वर्ण होता है। अतः इस अविच्छिन्न वर्णक्रम को श्वेत विकिरण भी कहते हैं।

उपाय रसनियन्त्रण बताया है। जैन दर्शन में बारह प्रकार के तप में अनशन, उणोदरी और रस परित्याग तीन तप बताये हैं। अल्प आहार उणोदरी, नीरस आहार रस परित्याग और अणाहार अनशन कहा जाता है।

अल्प सात्त्विक, पथ्यात्मक और हितावह आहार साधना के क्षेत्र में आवश्यक है। अधिक, अनुपयुक्त, हानिकारक तथा अभक्ष आहार साधना के क्षेत्र में बाधक है।[3]

खाद्य सामग्री केक, पीझा, आमलेट, बोर्नबीटा, चॉकलेट, आइसक्रीम, जैसी, चीजें[4] आदि पदार्थों में जिलेटिन पाउडर, अण्डों[5] का रस आदि का उपयोग होता है। मदिरापान, शराब, बीयर, व्हिस्की, तम्बाकू, ब्राउन सुगर, पान-पराग आदि नशीले ड्रिंकिंग और स्मोकिंग पदार्थ साधना में बाधक होते हैं।

बाधक अभक्ष आहार, अधिक आहार और हानिकारक आहार से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक परिवर्तन पाया जाता है। आहार सीमित आवश्यक है सीमातीत नहीं। भूख ऐच्छिक है किन्तु सीमातीत नहीं। जैसे पानी सौ डिग्री गर्म करने पर भाप बन जाता है किन्तु निन्यानवे डिग्री पर रुक जाए तो पानी पुनः ठंडा पानी के रूप में ही मिलता है। यदि सौ डिग्री के बाद रुकना चाहो तो पानी नहीं मिलेगा। केवल १ डिग्री का फर्क है १०० डिग्री है तो पानी पानी नहीं, निन्यानवे डिग्री है तो पानी-पानी है। आहार, पानी, रस, वृत्ति आदि की मात्रा ठीक इसी रूप में आवश्यक है। रस की ऊर्जा या रासायनिक परिवर्तन से योगी भोगी बन जाता है और भोगी योगी बन जाता है अतः रस योग का नियन्त्रण साधना के क्षेत्र में सुनियोजित उपाय है।

स्पर्श

प्रत्येक लेश्या का अपना स्पर्श होता है। आन्तरिक अनुभूति की स्पर्शना भावों की

---

३. १९७१ में अमेरिका की प्रयोगशाला में जिन निरीह प्राणियों के प्राण लिये जाते हैं उनका संशोधन किया है। क्योंकि उन प्राणियों के रक्त, मांस, हड्डी आदि में से जिन पदार्थों का निर्माण होता है वह रसास्वाद भोग और उपभोग के लिए होते हैं। जैसे– बन्दर ८५२८३०, सूअर ४६६२४०, बकरे २२,६९१, कछुए १,८०,०००, बिलाव २,००,०००, कुत्ते ४,००,०००, खरगोश ७,००,००० मेंढक १५ से २० लाख, जूहें ४,००,००,००० को प्रतिदिन कत्ल कर उसमें से बनाया जाता है। खाद्य पदार्थ तथा भोग उपभोग के साधन बनाये जाते हैं।

४. आम स्ट्रेडाम में डेढ़ सौ साल पुराना केलेरिया मारिया का चीझ फार्म है। दूध को २९ डिग्री सेल्सियस तक गर्म किया जाता है, फिर चिझ बेक्टीरिया का प्रयोग किया जाता है तत्पश्चात् रेटिन नाम का पदार्थ, जो एक सप्ताह के गाय आदि के बछड़े के आमाशय का रस झिल्ली में से मिलता है, वह डाला जाता है।

५. अंडों से स्रावित पीला रस शरीर में कोलेस्टोरेल, हार्टएटेक, B.P. किडनी फेल आदि रोग उत्पन्न करता है। अंडों में २५ हजार छिद्र होते हैं जिससे वह श्वासप्रश्वास लेता है ४ ग्रेन कोलस्टोरेल होता है।

स्पर्शना है। भावों की स्पर्शना से जाना जाता है कि व्यक्ति का आचरण कैसा है। यदि व्यक्ति क्रोधी है, मायावी है, अनेक विषमताओं को फैलाने वाला है तो उसके स्पर्श में रौद्र परिणाम परिणमन होता है।

यदि व्यक्ति पवित्र भाव वाला है तो प्रेम, स्नेह सहानुभूति के व्यापक परिणाम का स्पर्श होगा। प्रेम के स्पर्श में आनन्द होता है। उत्साह बढ़ता है, सामर्थ्य जागता है और आन्तरिक निर्मलता का रूपान्तरण होता है।

जंगल के शान्त वातावरण में, प्राकृतिक सौन्दर्य की विश्व शान्ति में, रुचि के अनुकूल, साधन, सामग्री का चयन होने से अनुकूल स्पर्श परमाणु का परिणमन होता है। यही परिणाम जब आन्तरिक भाव में रूपान्तरण होता है तब उसी रूपान्तरण के केन्द्र बिन्दु को शुभ लेश्या कहते हैं। शुभलेशी स्पर्श का शरीर मन, भाव और अध्यात्म पर विशेष प्रभाव रहा है। इस प्रभाव से भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न स्पर्श का अनुभव होता है। स्पर्श हल्का भी होता है और भारी भी होता है, गरम भी होता है और ठंडा भी होता है, स्निग्ध भी होता है और रुक्ष भी होता है। इसी प्रकार शरीर के भीतर जैसे जिह्वा के अग्र भाग पर प्रकंपनों का स्पर्श अलग होता है, रीड़ की हड्डी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी के प्रकंपनों का स्पर्श-संवेदन भिन्न होता है, मूलाधार चक्र और आज्ञा चक्रक में एकाग्रता के क्षणों में और प्रकंपनों के स्पर्श संवेदनों में भिन्नता पायी जाती है।

षड्चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करने पर स्पर्श संवेदन मूलाधार चक्र पर होता है उससे स्वाधिष्ठान चक्र पर क्या प्रभाव पड़ता है और मणिपुर चक्र तक उस प्रभाव को पहुँचने में कितना समय लगता है, इत्यादि विचार आवश्यक हैं जैसे—शरीर के किसी भी भाग से जब ज्ञान तन्तु अपना प्रभाव मस्तिष्क तक ले जाता है तो मन उस स्थान का पता शीघ्र प्राप्त कर लेता है, उसे संवेदन का स्थानीयकरण (Localization of Sensation) कहते हैं।

स्पर्श और गतियोग

स्पर्शयोग गतियोग से जुड़ा हुआ है। शरीर के भीतर मन प्राण वायु, रक्त आदि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर गत्यात्मक किया जाता है। उस स्थान का स्पर्श देखा जाय तो प्रतीत होगा कि मन कितने समय तक एक स्थान पर टिक सकता है। जैसे—बाह्य ध्यान में पुलिस सिपाहियों को कवायत सिखाई जाती है। केवल एक शब्द पर एक साथ सभी का भागना, कूदना, बैठना, उठना, बन्दूक चलाना इत्यादि प्रक्रिया एक साथ हो जाती है। ठीक उसी प्रकार भीतर का यन्त्र-मन्त्र, श्वास, त्राटक आदि कोई भी आलंबन के स्पर्श होते ही सम्पूर्ण शरीर के प्रकम्पनों के स्तर पर गति करता है।

शीत और उष्ण स्पर्श

वैज्ञानिकों ने शीत और उष्ण दोनों स्पर्श सापेक्ष और निर्पेक्ष हैं[६] ऐसा सिद्ध किया है। जैसे शरीर के एक स्थान के परमाणु-कम्पनों से दूसरे परमाणु कंपन शीघ्रता-त्वरित के रूप में होते हैं तो वे कंपन उष्ण-गर्म प्रतीत होते हैं। वही परमाणु कंपन मंद होते हैं तो शीत-ठंडा प्रतीत होते हैं। इसे हम सामान्य परमाणु कंपनों के सम्बन्ध से निरपेक्ष रूप में देख सकते हैं। जैसे शरद ऋतु में कान और हाथों में सर्दी विशेष लगती है किन्तु गालों को शीत नहीं सताता। उससे प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर में भी शीत और उष्णता का अनुभव करने वाले स्थान भिन्न हैं। सर्दी के परमाणुओं का तो दोनों स्थान पर समान प्रभाव होता है फिर भी समान स्पर्श का अनुभव नहीं होता है।

स्पर्श का एक सापेक्ष प्रयोग जैसे—तीन बर्तनों में तीन प्रकार का जल है १. बरफ का जल, २. साधारण जल और ३. गरम जल लें। गरम जल में एक हाथ और बरफ के जल में दूसरा हाथ डुबोकर फिर दोनों हाथ एक संग साधारण जल में डुबोवें तो अनुभव होगा कि जल गरम है या ठंडा।

स्पर्श स्थान शीत और उष्ण है वैसे ही दुःखद स्पर्श और सुखद स्पर्श की संवेदना, उत्तेजना और आवेगों का अनुभव प्रतीत होते हैं। जैसे मनोज्ञ पदार्थों के संयोग से सुखद और अमनोज्ञ पदार्थों के संयोग से दुःखद अनुभव होता है। भीतर किसी एक स्थान पर एकाग्र होने पर दुःख की संवेदना का अनुभव त्वरित होता है तो कभी सुख की संवेदना का अनुभव होता है। कभी दीर्घ काल तक मन का केन्द्रित होने से शरीर का हल्कापन या भारीपन का स्पर्श होता है। रागात्मक स्थिति में स्निग्ध स्पर्श का और द्वेषात्मक स्थिति में रूक्ष स्पर्श का अनुभव व्यवहार जगत में और अध्यात्म जगत में अनुभव के स्तर पर पाया गया है। यौगिक प्रक्रिया से स्थान परिवर्तन में 'स्पर्श' विरोध रूप में भी पाया जाता है जैसे—

उष्ण स्थान ⟶ उष्ण स्थानों के उत्तेजन से उष्णता का बोध होता है किन्तु शीतली प्राणायाम से उष्ण स्थानों में शीत स्पर्श का अनुभव पाया गया है।

शीत स्थान ⟶ शीत स्थान का स्पर्श शीत होता है किन्तु वज्रासन जैसे उष्णता का अनुभव पाया गया है।

---

६. सरल मनोविज्ञान पृ. ४८

दुःखद स्थान **सुखद स्थान** →	सुख और दुःख दोनों का मनोज्ञ-अमनोज्ञ बोध पाया जाता है। किन्तु ध्यान, एकाग्रता, समता समाधि आदि अवस्था के पश्चात् दोनों के अनुभवों में परिवर्तन पाया जाता है।

स्पर्श का शब्द, रूप, रस और गन्ध से विशेष सम्बन्ध पाया जाता है। जैविक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक इत्यादि परिस्थितियों पर विशेष रूप में स्पर्श का प्रभाव पाया जाता है।

वैज्ञानिकों द्वारा ओरोटॉन मशीन से जो शब्द श्रवण किया जाता है उसे रूप (रंग)के माध्यम से सुना जाता है।

रंगों का स्पर्श

सामान्य तौर पर रंगों में लाल रंग, हरा और नीला रंग प्रमुख रंग माने जाते हैं। अन्य रंग सम्मिश्रण से होते हैं और श्वेत वर्ण स्वाभाविक है जैसे—सूर्य के प्रकाश को त्रिकोण काँच के टुकड़े में से देख सकते हो कि श्वेत प्रकाश रंग-बिरंगा दिखाई देता है।

रंगों के स्पर्श से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक रूपान्तरण पाया जाता है। जैसे—लाल रंग के प्रभाव से।

रंग—लाल (Red)

शारीरिक	शरीर में शक्ति का संचार होना, मांस-पेशियों में सक्रियता आना, क्षार तत्त्वों की अल्पता होना, नाड़ियों को सशक्त बनाना रक्त कणों से लाभान्वित होना।
मानसिक	ज्ञानवाही नाड़ियों को प्रभावित करना, कामोत्तेजना का मन पर प्रभाव, विद्युत तत्त्व से मानसिक स्थिरता, आलस्य का प्रमाण विशेष।
आध्यात्मिक	प्रसन्नता, प्यार, अग्नितत्त्व की प्रधानता।
भावात्मक	अपने भाव के अनुरूप रंग का प्रभाव जैसे क्रोध, मान प्यार, तिरस्कार, काम इत्यादि ---- (विशेष चार खरब साठ अरब वायु कंपन प्रति सेकण्ड पर लाल रंग का संवेदन आरम्भ होता है।)

रंग—हरा (Green)

शारीरिक	शारीरिक स्वस्थता में लाभप्रद, मांसपेशियों, हड्डियों तथा कोशिकाओं को सशक्त बनाने में उपयोगी, आँखों के लिए विशेष लाभदायक ।
मानसिक	तनावमुक्ति, पिट्यूटरी ग्लैण्ड की सक्रियता से क्रोध मुक्ति ।
आध्यात्मिक	सरल और शान्त प्रकृति फिर भी धैर्यता की कमी ईर्ष्या और द्वेष तत्त्व की प्रधानता ।
भावात्मक	भाव के अनुरूप रंग का प्रभाव।

रंग-नीला— (Blue)

शारीरिक	रक्त विशुद्धि, वीर्य संवर्धन, लिवर फास्ट होने पर इस रंग का प्रयोग लाभदायक, शीत, संकुचन आदि गुणों से युक्त किन्तु नाड़ीतन्त्र में कुछ हानि ।
मानसिक	मानसिक शान्ति, विशुद्धि चक्र की सक्रियता, माया कपट से रहित । विनय गुण से युक्त ।
आध्यात्मिक	ध्यान, एकाग्रता, आसन की ओर विशेष झुकाव ।
भावनात्मक	भाव के अनुसार रंग का प्रभाव—(विशेष-सात खरब तीस अरब प्रति सेकण्ड पर नीले रंग का स्पर्श संवेदन होता है ।)

रंग-पीला— (Yellow)

ये रंग लाल और हरे का मिश्रण है । दोनों रंगों के गुण-दोष इसमें मिलते हैं । अतः शारीरिक आदि प्रभाव दोनों के अनुरूप जानना । विशेष-बुद्धि प्रधान, उत्साह, साहस प्रसन्नता और आनन्द सूचक ये रंग हैं ।

वैज्ञानिक हेरिंग के अनुसार रंग तीन विभागों में विभक्त हैं—१. लाल और हरा, २. पीला और नीला तथा ३. श्वेत और काला । प्रत्येक विभाग के दोनों रंग एक दूसरे से प्रभावित हैं तथा उत्तेजना का प्रभाव समान रूप से ग्रहण करते हैं । इन छहों रंगों का आहार, विहार, विचार और भाव से सम्बन्ध होता है ।

श्वेत वर्ण और काला वर्ण दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी श्वेत प्रकाश और काला अंधकार के रूप में दोनों की संवेदना मस्तिष्क में सम रूप में उत्तेजित होती है। किन्तु प्रभाव दोनों का भिन्न होता है जैसे श्वेत वर्ण हमारी आंतरिक ऊर्जा को उजागर करने का सफल वर्ण है। मस्तिष्क में समूचे ज्ञानतन्तु का संवाहक करने वाला धूसर रंग का एक द्रवित स्राव है। जैसे सुषुम्ना में श्वेत रंग का स्राव होता है तब सोयी हुई शक्ति जागृत होती है।

रंग-श्वेत (White)

शारीरिक	स्वास्थ्यदायक, ज्ञानतन्तु सक्रिय, तनावमुक्त अवस्था
मानसिक	वृत्तियों का रूपान्तरण, मूल स्वभाव में स्थिरता, योग विशुद्धि, समभाव, शान्त प्रकृति।
आध्यात्मिक	एक स्थान पर स्थिर होकर एकाग्रता धारण करना, चन्द्र जैसा श्वेत, मन्त्र-यन्त्र आदि को धारणा के रूप में केन्द्रित करना इत्यादि। भावनात्मक—सतोगुण प्रधान त्याग, वैराग्य तथा क्षमा प्रधान।
काला वर्ण	काला वर्ण अवशोषक होता है।

नील वर्ण की अल्पता से—क्रोध की वृद्धि

नील वर्ण में १० मिनट ध्यान करने से—क्षमा, शान्ति, समता का अनुभव।

लाल वर्ण की अल्पता से—आलस्य की वृद्धि

लाल वर्ण में १० मिनट ध्यान करने से—स्फूर्ति, नियन्त्रण की शक्ति, आंतरिक जागृति।

पीले वर्ण की अल्पता से—बौद्धिक हानि, ज्ञानतन्तु की मंदता

पीले वर्ण में १० मिनट ध्यान करने पर—बौद्धिक विकास, तैजस् बल, विद्युत ऊर्जा आदि।

काले वर्ण की अल्पता से—प्रतिरोधात्मक शक्ति कम होती है।

काले वर्ण में १० मिनट ध्यान करने पर—बाह्य प्रभाव से पर होकर आंतरिक शक्ति का संवर्धन होता है।

	वर्ण स्पर्श	**ग्रह शान्ति**
अरिहंत का श्वेतवर्ण	**ऊँ ह्रीं श्रीं नमो अरिहंताण**	**चन्द्र-शुक्र का स्पर्श**
सिद्ध का रक्तवर्ण	***ऊँ ह्रीं श्रीं नमो सिद्धाणं***	***सूर्य मंगल का स्पर्श***
आचार्य का पीतवर्ण	**ऊँ ह्रीं श्रीं नमो आयरियाणं**	**गुरु का स्पर्श**

उपाध्याय का हरा वर्ण	ॐ ह्रीं श्रीं नमो उवज्झायाणं	बुध का स्पर्श
और साधु का कृष्ण वर्ण होता है	ॐ ह्रीं श्रीं नमो लोएसव्व साहुणं	शनि-राहु-केतु का स्पर्श

शुभ लेश्या

तेजोलेश्या-पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या ये तीन शुभ लेश्या हैं। तीनों लेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श प्रशस्त हैं। तीनों लेश्या में तेजोलेश्या रक्तवर्ण में होने से तैजस् शरीर को उत्तेजित करने में प्रवर्तमान होती है, पद्लेश्या के परमाणु से विषैले कीटाणु नष्ट होते हैं और अशान्त वृत्तियाँ क्रमशः शान्त भाव में परिणयन होती हैं। सर्व वृत्तियों का निरोध होते ही शुक्ललेश्या धर्म और शुक्लध्यान में केन्द्रित होती है।

अशुभ लेश्या

कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्या हैं। ये तीनों लेश्या के वर्ण, रस गंध और स्पर्श अप्रशस्त हैं। तीनों लेंश्या के कृष्णादि वर्ण अति तीव्र होते हैं। कलुसित भाव भी सदा विद्यमान रहते हैं फलतः ईर्ष्या, वैर, विरोध, घृणा, भय छाया हुआ रहता है। आर्त और रौद्र ध्यान होने से अशान्ति बनी रहती है। क्रोध, भय, काम आदि की वृत्तियाँ नाभ के पास जो एड्रिनल ग्रंथि है उससे उत्तेजित होती है, जब ऊर्जा नाभि के आसपास घूमती है तब तीनों वृत्तियाँ उत्तेजित हो उठती हैं और तीनों लेश्या से विशेष रूप में वेष्ठित होती हैं। अतः साधना के माध्यम से अशुभ लेश्या का शुभलेश्या में रूपान्तरण होता है।

कोष्ठक नं. ५

लेश्या

अशुभ लेश्या
कृष्ण, नील, कापोत
अप्रशस्त
वर्ण—कृष्ण, नील, कापोत
रस—अत्यन्त, कटु
गंध—तीव्र दुर्गंध
स्पर्श—ठंड, रूक्ष, कर्कश

शुभ लेश्या
तेजो, पद्म, शुक्ल
प्रशस्त
वर्ण—रक्त, पीत, श्वेत
रस—अत्यन्त मीठा
गंध—तीव्र सुगन्ध
स्पर्श—गर्म, मृदु, चिकना

पहली तीन लेश्याओं में अविवेक और अन्तिम तीन लेश्याओं में विवेक रहा हुआ है। प्रथम लेश्या में अविवेक और अन्तिम लेश्या में विवेक परकाष्ठा पर पहुँचा हुआ होता है। पहली तीन लेश्याओं में विवेक की मात्रा उत्तरोत्तर घटती जाती है, जबकि अन्तिम तीन लेश्याओं में विवेक की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। पहली तीन लेश्याओं में निबिड पापरूप बन्धन क्रमशः ज्यादा कम होता जाता है जबकि अन्तिम तीन लेश्याओं में पुण्यरूप कर्म बन्ध की अभिवृद्धि होती जाती है तथा निर्जरा का तत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

योग-लेश्या-निरोध

तेरहवें गुणस्थान के शेष अन्तर्मुहूर्त के प्रारम्भ में योग का निरोध प्रारम्भ होता है। मनोयोग तथा वचनयोग का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है तथा काययोग का अर्द्ध निरोध होता है। उस समय में लेश्या का कितना निरोध या परित्याग होता है इसके सम्बन्ध में कोई तथ्य या पाठ उपलब्ध नहीं हुआ है। अवशेष अर्द्ध काययोग का निरोध होकर जब जीव अयोगी हो जाता है तब वह अलेशी भी हो जाता है। अलेशी होने की क्रिया योग निरोध के प्रारम्भ होने के साथ-साथ होती है या अर्द्ध काययोग के निरोध के प्रारम्भ के साथ-साथ होती है – वह कहा नहीं जा सकता। लेकिन यह निश्चित है कि जो संयोगी है वह सलेशी है तथा जो अयोगी है वह अलेशी है। जो सलेशी है वह सयोगी है तथा जो अलेशी है वह अयोगी है। इस प्रकार योग और लेश्या का पारस्परिक सम्बन्ध है।

योग और लेश्या से प्राप्त लाभ –

शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावात्मक-लाभ
भावों के अनुरूप लेश्या का रंग
शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का रूपान्तरण
रसास्वाद से हानि और रस विजय से लाभ
वर्ण ध्यान से वृत्तिसंक्षय।

३. तनाव का मूल केन्द्र बन्ध हेतु का स्वरूप

योग और बन्ध

आगम के अनुसार योग और बन्ध का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जहाँ बन्ध होता है वहाँ योग का होना अनिवार्य है। सर्व प्रथमँ आत्मा में कर्मपुद्‌गल को ग्रहण करने का काम योग (मन, वचन और काया की क्रिया) का है जिसे जैन दर्शन आश्रव कहते हैं। आश्रव अर्थात् कर्म आने का स्थान।

जैसे–गरम लोहपिण्ड यदि पानी में डाला जाये तो वह चारों ओर से पानी को खींचता है उसी तरह कषाय से संतप्त जीव योग से लाये गये कर्मों को सब ओर से ग्रहण करता है।[१] इस प्रकार इन कर्म पुद्‌गलों को योग द्वारा आत्मा के साथ संयोजित करने का काम कर्म बन्ध का है।

कर्म रूप से परिणत होने वाले अणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होता है। सम्बन्धं तथा आत्मा की शुभाशुभ प्रत्येक प्रवृत्ति में मन, वाणी और शरीर का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध रहता है अतः मानसिक, वाचिक और कायिक रूप योग व्यापार ही बन्ध कहलाता है।[२]

बंध व्युत्पंत्ति

संसारी आत्मा सक्रिय है वह प्रतिक्षण कर्म बंध से आबद्ध रहती हैं। इस दृष्टि से बन्ध शब्द की व्युत्पत्ति–बंधन बँधः। जो बांधा जाता है उसे बंध कहते हैं कषाय सहित होने से जीव जिन कंर्मयोग पुद्‌गलों को ग्रहण करता है उसे बंध कहा जाता है।[३]

बंध की परिभाषा

'बन्धो जीवस्य कर्म पुद्‌गल संश्लेष'[४] अर्थात् जीव का कर्म पुद्‌गलों के साथ

---

१. राजवर्तिक–६/२/४, ५/५०६

२. स्थानांग सूत्र–३ स्था. की वृत्ति पृ. ८

३. स्थानांग सूत्र-स्था. सू. ८ की वृत्ति पृ. २५

४. समवायांग सूत्र-सम. सूत्र १ की वृत्ति पृ. ५

संयोग बंध कहा जाता है। तत्वार्थसूत्र के शब्दों में कषाय के सम्बन्ध में जीव कर्म योग्य पुदगलों को ग्रहण करता है अत: वह बंध है। जैसे दीपशिखा तैल को ग्रहण करती है वैसे ही आत्म प्रदेशों के साथ पुद्गलों का होना बन्ध होता है जैसे—दूध और पानी, लोहा और अग्नि एक दूसरे में मिश्रित हो जाते हैं ।[५]

योग प्रवृत्ति के स्वभावानुसार कर्म प्रकृति का समूह एकत्र होता है और कषाय की तरतमता के अनुसार कर्म का अनुभाग तथा स्थितिबंध होता है । इतना अवश्य समझना चाहिए कि जिन कारणों से आस्रव होता है उन्हीं कारणों से बंध भी होता है। अन्तर इतना ही है कि आस्रव द्वारा कर्म पुद्गलों की वर्गणा कर्मरूप में ग्रहीत होती है और बन्ध द्वारा वे पुद्गल आत्म प्रदेशों से आबद्ध होते हैं ।

बन्ध हेतु का स्वरूप

राजवर्तिक में योग और कषाय को बन्ध हेतु का कारण माना है ।

— आचार्य कुन्द । कुन्द ने बन्ध हेतु के विषय में एक स्थान पर मिथ्यात्व अविरति, कषाय और योग को बन्ध हेतु कहा है ।

— द्वितीय स्थान पर राग, द्वेष और मोह को बन्ध हेतु कहा है ।

— तत्त्वार्थ सूत्र में मिथ्यात्व आदि पाँच बन्ध हेतु माने हैं ।

तत्त्वानुशासन में रामसेनाचार्य ने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीन को बन्ध का हेतु माना है ।[६] आचार्य हेमचन्द्राचार्य ने कषाय, विषय, योग प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्त रौद्र ध्यान इन अशुभ कर्मों को बन्ध हेतु माना है ।[७]

इस प्रकार बन्ध हेतुओं की संख्या के विषय में तीन परम्पराएँ देखने में आती हैं। प्रथम परम्परा में कषाय और योग दो बन्ध हेतु हैं। द्वितीय परम्परा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार बन्ध हेतुओं की हैं। तीसरी परम्परा उपर्युक्त चार और प्रमाद मिलाकर पाँच प्रकार की है ।

मन, वचन और कायरूप योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है और कषाय से स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। कर्म पुद्गल जब केवल योगनिमित्त से आत्मा में आते हैं—तब से वहाँ स्थिति और अनुभाग रूप से परिणत होकर वहाँ रहते हैं—तथा

---

५. राजवर्तिक-१, ४, १७, २६, २९
६. तत्वानुशासन गा. ८ पृ. १५
७. योगशास्त्र-४१७८ पृ. १३३

मन्द, तीव्र, तीव्रतर आदि रूप में रस देने की योग्यता इनमें आती है वह कषाय के निमित्त से आती हैं।

सामान्यतः बन्ध अनिवृत्तिकरण से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाले जीवों की अपेक्षा से जानना चाहिए तथा जो विशेष रूप में उपशान्त मोह, क्षीण मोह और संयोगि केवलियों को होता है वह योग प्रत्यय ही होता है। जैनागमों में इसे इर्यापथिक बन्ध कहा है।

बन्ध के प्रकार–

बन्ध के चार प्रकार हैं–प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। कर्म पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण होते हैं और परिस्थिति के अनुसार कर्मरूप परिणाम को प्राप्त होते हैं। उसी समय उसमें चार प्रकार प्राप्त होते हैं। वे प्रकार ही बंध के भेद कहे जाते हैं। जैसे गाय के द्वारा खाया हुआ घास दूध में परिणत होता है तब उसमें मधुरता का स्वभाव निर्मित होता है। वह स्वभाव कुछ समय तक उसी रूप को धारण कर सके वैसी काल मर्यादा उसमें निर्मित होती है। इस मधुरता में तीव्रता, मंदता आदि विशेषताएँ होती हैं और इस दूध का पौद्गलिक परिणाम भी साथ ही बनता है। ठीक उसी प्रकार जीव द्वारा प्राप्त हुए कर्म पुद्गलों में भी चार प्रकारों का निर्माण होता है। वे चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेश बंध हैं।[८]

योग और बन्ध से प्राप्त हानि

दुःख प्राप्ति रूप शारीरिक वेदना,
संक्लेश भाव से मानसिक हानि,
ईर्ष्या, अहं, वैर से प्रतिपक्ष की भावना,
विषम भाव में निरन्तर रहना,

---

८. कर्मग्रन्थ भा. १ गा. २

४. काम - वासना की मुक्ति का परम उपाय – ब्रह्मचर्य

योग और ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-निवृत्ति तो है ही, किन्तु उसका व्यापक अर्थ है इन्द्रिय और मन का निग्रह करना। जहाँ भी इच्छाओं का निरोध होता है वहाँ (**इच्छानिरोधो तवो**) तप कहा जाता है। ब्रह्मचर्य सभी तपों में उत्तम तप माना गया है। इसी तप के द्वारा शरीर बल, मनोबल और आत्मबल की वृद्धि होती है। कामाग्नि में जलते हुए कामी की कामना इसी तप से निर्जरित होती है।

सम्पूर्ण दुःख का मूल स्रोत काम-वासना है। कामे कमाही, कामियं खु दुक्खं[1]—दुःख से मुक्त होने का उपाय ब्रह्मयोग है। मन, वचन, और काया के शुभ योग से चिरपुरातन और समय-समय पर होने वाले नूतन कर्म अनेक आत्मा में ऐसी गहरी जड़ जमाए होते हैं कि उनका उन्मूलन करने के लिए जन्म-जन्मांतर में साधना करनी पड़ती है। अनुराम-विराग जैसी साधारण मनोवृत्तियाँ राग और द्वेष के बीज अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित करती रहती हैं।

ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?

"सूत्रकृतांग" की आचार्यशीलांक कृत संस्कृत टीका में सत्य, तप, दया, इन्द्रियनिरोध रूप ब्रह्म की चर्या-शुद्ध अनुष्ठान में केन्द्रित होना ब्रह्मचर्य कहा है।

उमास्वाति के "तत्त्वार्थ सूत्र" ९-६ के भाष्य में गुरुकुल वास को ब्रह्मचर्य कहा है।

अणगार धर्मामृत में पर द्रव्य से रहित विशुद्ध आत्मा में जो लीनता होती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं।[2] भगवती आराधना के अनुसार जीव ब्रह्म है और शरीर सेवा से विरक्त होकर जीव में ही जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य कहा है[3] पद्मनंदि पंचविंशिका के अनुसार ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञान स्वरूप आत्मा और उसमें लीन होना ब्रह्मचर्य है।

---

१. दश. अ. २ गा. ५
२. अणगार धर्मामृत ४/६०
३. भगवती आराधना ८७८

शुभयोग को ब्रह्मविद्या कहते हैं अतः इसी हेतु साधना के क्षेत्र में जो स्थान शुभ योग का है, वही स्थान ब्रह्मचर्य का भी है। शुभ योग ब्रह्मचर्य का पूरक है और ब्रह्मचर्य शुभयोग का पूरक है। जहाँ शुभ योग होता है वहाँ ब्रह्मचर्य अवश्य रहता है और जहाँ ब्रह्मचर्य की साधना होती है वहाँ शुभ योग अवश्य होता है।

ब्रह्मचर्य शब्द में दो शब्द है—ब्रह्म और चर्य। इसका अर्थ है—ब्रह्म में चर्या। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा का शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है विचरण करना, रमण करना।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

योग-साधना में विशेष रूप से ब्रह्मचर्य की साधना को महत्त्व दिया गया है। भगवान महावीर ने अपने आचार-योग की आधारशिला रूप पंच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य को भी साधु के लिए महाव्रत और गृहस्थ के लिए अणुव्रत के रूप में स्वीकार किया है। पतंजलि ने योग दर्शन में ५ यमों में ब्रह्मचर्य को भी एक यम माना है। बुद्ध ने भी अपने पंचशीलों में ब्रहमचर्य को एक शील माना है। इस पर से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य की साधना बहुव्यापी एवं विस्तृत साधना है। जो साधक योग की साधना करना चाहते हैं और उसके फल की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें सबसे पहले ब्रह्मचर्य की साधना की ओर विशेष लक्ष्य देना पड़ता है। योग साधना में वासना, कामना, तृष्णा और आसक्ति बाधक तत्व हैं।

योग और ब्रह्मचर्य से लाभ

इन्द्रिय और मन का निग्रह,
दुःख मुक्ति का परम उपाय-ब्रह्मयोग
वीर्य ऊर्ध्वीकरण की साधना
आत्मा का विशुद्ध स्वरूप-आत्म-रमणता
जड़-चेतन का भेद ज्ञान।

५. शुभ योग का अंतिम बिन्दु-निष्पत्ति और फलश्रुति

योग और समाधि

शुभ योग के आलंबन से साधक प्रथम चिन्तन में फिर ध्यान में और अन्त में समाधि में संलीन होता है। शुभ योग समाधि की पूर्व भूमिका है और समाधि शुभ योग का अंतिम स्वरूप है, अतः शुभ योग की संलग्नता से जो समरसता रूप निष्पत्ति या फलश्रुति प्राप्त होती है, वह समाधि है।

समाधि शब्दार्थ

योग अर्थ में समाधि अंतर्निहित है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में योग शब्द का अर्थ समाधि और ध्यान दोनों किया गया है।[१] "पद्मनन्दि पंचविंशतिका में समाधि के अर्थ में साम्य, स्वास्थ्य, योग चित्त निरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है।[२]

ध्यान जब ध्येय के आवेश के प्रभाव से ध्यानभाव, ध्येय भाव और ध्यातृभाव दृष्टि से शून्य हो जाता है—केवल प्रशस्त ध्येयाकार को धारण करता है, तब उसे समाधि कहते हैं।[३] जैन योग में समाधि का स्थान शुक्लध्यान की प्रारम्भावस्था है। वास्तव में ध्यान, योग का अपर नाम ही समाधि है और उसकी उत्कृष्टता शुक्लध्यान में है। शुक्लध्यान के चार चरणों में से पूर्व के दो चरण समाधि अवस्था में होते हैं। शुक्लध्यान के अंतिम दो चरण चौदहवें गुणस्थान में अयोगी अवस्था में होते हैं, यह शुक्लध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। ऐसी अवस्था में समाधि की आवश्यकता ही

---

१. **युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।**

राजवार्तिक ६/१/१२/५०५/२७

२. **साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतो निरोधनम्।**
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थ वाचकाः

पद्मनन्दिपंचविंशतिका अधिकार-४-श्लो. ६४

३. **तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद ध्यान-ध्येय-ध्यातृ भाव दृष्टि शून्यं**
सद्ध्येयमात्राकारं भवति, तदासमाधि रुच्यते।

योगसार संग्रह-२ अंश पृ. ४६

नहीं रहती। अंतिम दो चरणों के पूर्व में समाधि का उल्लेख जैनागमों में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है और समाधि के लिए उपयुक्त स्थानों का भी अनेक स्थान पर वर्णन मिलता है किन्तु समाधि शब्द से सभी स्थान पर ध्यानविशेष ही ग्रहण हुआ है।

समाधि की परिभाषा

शीलांकाचार्य की भाषा में समाधि अर्थ में तीन परिभाषा उपलब्ध होती हैं।

१. समाधि इन्द्रिय प्राणिधानम्।[४]

२. समाधि सन्मार्गनिष्ठानरूपम्।[५]

३. मोक्षं तन्मार्ग वा प्राप्ति येनात्मा धर्मध्यानात् सा समाधि।[६]

तीनों परिभाषा सापेक्ष हैं।

शब्द रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषय-वासनाओं का उदात्तीकरण इन्द्रिय प्राणिधान है। हमारी विषय-वासना वृत्तियों का क्षयोपक्षम (सब्लीमेशन) होता है, और क्षय (ट्रान्सफोरमेशन) होता है। उससे भी आगे आवेगों का समाप्तिकरण भी होता है। जब आवेगों का संवेग और निर्वेद में रूपान्तरण होता है तब समाधि का प्रथम चरण प्रारम्भ हो जाता है।

द्वितीय परिभाषा में सन्मार्गानुष्ठान से सम्यक् अनुष्ठान या सम्यक् आचार को समाधि माना है। भौतिक जीवन मूर्च्छामय प्रगाढ़ तिमिरमय होता है। उस तिमिर में ज्योति लाने का कार्य सन्मार्गानुष्ठान से प्रारम्भ होता है और समाधि में अन्त होता है। राग और द्वेष की तीव्र ग्रन्थि का ह्रास होने पर सम्यक् क्रान्ति होती है वही क्रान्ति समाधि में प्रकाश लाती है।

तृतीय परिभाषा धर्मध्यान और धर्मध्यान से मोक्ष प्राप्ति के रूप में मिलती है।

आध्यात्मिक चेतना के अंतरंग भाव से साधक अनुकूल-प्रतिकूल, मनोज्ञ-अमनोज्ञ आवेगों का उपशम क्षयोपशम और क्षय करने में समर्थ होता है। यह समाधि की ऐसी भूमिका है इसमें साधक धर्मध्यान से शुक्लध्यान और शुक्लध्यान से पुनः धर्मध्यान की स्पर्शना करता रहता है। साधक धर्मध्यान से समाधि में स्थिर होता है किन्तु अधिक समय टिकता नहीं है अतः पुनः समाधि से धर्मध्यान में आता-जाता रहता है, इस प्रकार समाधि से अंतिम ध्येय मोक्ष तक पहुँच जाता है।

---

४. आचारांग—श्रु. १, अ. ६, उ. ४ सू. १८५ की टीका

५. सूत्रकृतांग—श्रु. १, अ. १४ की टीका पृ. १९७

६. सूत्रकृतांग—टीका अ. १०

शुभयोग का चरम ध्येय मुक्ति की प्राप्ति है। कार्य सिद्धि शुभ योग के आलम्बन से ही होती है अतः साधक की कार्यसिद्धि की सम्पूर्ण प्रवृत्ति समाधि कही जा सकती है। इस प्रकार सामान्यतः समाधि की अवस्था चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान तक कही जा सकती है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार समाधि का स्वरूप द्रव्य और भाव उभय स्वरूप में है। **"सामाधानं समाधि"** ।[७] जिस वस्तु से मन, वचन और काया को समाधान मिलता हो वह समाधि है। वस्तुतः किसी भी पदार्थ को प्राप्त कर जीवन में जो शांति और आनन्द प्राप्त होता है, उसे समाधि कहा जाता है। ऐसी समाधि को द्रव्य समाधि कहते हैं।[८]

भाव समाधि योग दृष्टियों में आठवीं "परादृष्टि" में प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि तक पहुँचा हुआ साधक समाधिनिष्ठ हो जाता है।[९] यह ऐसी अवस्था है जहाँ साधक असंग अर्थात् शरीर से भी पर हो जाता है। परादृष्टि समाधि की चरमावस्था है उसे आत्म-समाधि कहते हैं। जो सद्ध्यान रूप होने से निर्विकल्प होती है, अतः यहाँ पर ध्याता-ध्यान का भेद समाप्त हो जाता है और अभेद स्वरूप होकर वह उस त्रिपुटी में लय को प्राप्त करता है।[१०]

अभयदेव सूरि ने समाधि को तीन स्वरूप में प्रयुक्त किया है –

१. सम्यक मोक्ष मार्ग की स्थिरता[११]

२. चित्त की प्रशमवाहिता[१२]

३. तथा श्रुत और चारित्र की विशुद्धता[१३]

इन परिभाषा में स्थिरता, प्रशमवाहिता और विशुद्धि के स्वरूप से समाधि की स्वाभाविकता और सरलता का समाधान मिलता है।

आचार्य मलयगिरि ने चित्त की स्वस्थता को समाधि कहा है।[१४] चित्त की स्वस्थता होने पर ही मन एकाग्र होता है और काया स्थिर होती है।

---

७. ललित विस्तरा–पृ. ३५५

८. आवश्यक सूत्र–अ. २

९. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. १७६

१०. श्री देवचन्द्रजी चौविशी

११. सम्यग्मोक्षमार्गावस्थाने–समवायांग सूत्र–सम. २० की टीका

१२. प्रशमवाहितायामज्ञानादौ च–स्थानांग सूत्र-स्था. ४, उ. १ की टीका

१३. समाधिः श्रुतं चारित्रं च–स्थानांग सूत्र स्था. ४, उ. १ की टीका

१४. आवश्यक सूत्र मलयगिरि टीका अ. २

हेमचन्द्राचार्य ने कायोत्सर्ग को ही समाधि कहा है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने एकाग्र और निरुद्ध चित्त को समाधि कहा है।[१५]

आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में वीतराग भाव में भावित आत्मा परम समाधि को पाता है ऐसा बताया है।[१६]

योगीन्दु देव ने समस्त विकल्पों का विलय होने को परम समाधि कहा है परमसमाधि में स्थित साधक शुभ या अशुभ सभी प्रकार के विकल्पों से विमुक्त होता है।[१७]

आचार्य जिनसेन के शब्दों में चित्त जब उत्तम परिणामों में स्थित होता है तब यथार्थ समाधान होता है, इस समाधान को ही समाधि कहा है।[१८]

रामसेनाचार्य ने समरसीभाव को समाधि कहा है[१९] जिसमें ध्याता ध्येय में लीन हो जाता है। इस तद्रूप क्रिया को समाधि कहते हैं।

पूज्यपाद स्वामी के अनुसार चैतन्य स्वरूप में एकाग्र होना योग समाधि है।[२०]

इस प्रकार निरवद्य क्रिया के समस्त अनुष्ठान को योग कहते हैं। जो समाधि और सम्यक् प्रणिधान अर्थ में प्रयुक्त है।[२१]

समाधि के प्रकार

सामान्य रूप से समाधि दो प्रकार की है—१. द्रव्य समाधि, २. भाव समाधि।

१. द्रव्य समाधि—द्रव्यमेव समाधिः द्रव्य समाधिः जिस द्रव्य से समाधि प्राप्त होती है, उसे द्रव्य समाधि कहते हैं। जैसे व्यक्ति, परिस्थिति, पदार्थ अवस्था आदि के संयोग से होने वाली शांति, आनन्द, प्रसन्नता इत्यादि। अर्थात् जो भी द्रव्य संयोग से समाधान मिलता है, वह द्रव्य समाधि है।

२. भाव समाधि—जिस भाव में साधक, सम्यक् चारित्र में स्थित होता है, वह भाव समाधि हैं।

---

१५. एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरति—द्वा. ११ द्वा.

१६. नि. सा./मू. १२२

१७. परमात्म प्रकाश—२/१९०

१८. महापुराण सर्ग—२१ श्लो. २२६

१९. तत्त्वानुशासन गा. १३७

२०. समाधितन्त्र—गा. १७ की टीका पृ. ३२

२१. एकाग्रे निरुद्धे चित्ते समाधिरति—द्वा. ११ द्वा.

भाव समाधि सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के भेद से चार प्रकार की है।

दर्शन समाधि में साधक आत्म-साक्षात्कार में संलग्न रहता है।

ज्ञान समाधि में साधक आत्मा को जानता है। और–

चारित्र समाधि में स्थित साधक परमात्मा की आज्ञा में स्थिर रहता हुआ आराधना में संलग्न रहता है।

तप समाधि में स्थित साधक क्षुधा परिषह जयी और ग्लानि रहित ज्ञान ध्यान से स्वात्मा में संलीन रहता है।

समाधि के और भी दो प्रकार हैं–सविकल्प और निर्विकल्प।

सविकल्प समाधि–सविकल्प समाधि में साधक मन को विशिष्ट ध्येयतत्व पर एवं मन्त्र पर स्थिर करता है तथा शुभ संकल्प करता है कि मेरे चतुर्गति के दुखों का क्षय हो, अष्ट कर्मों का नाश हो, बोधिलाभ की प्राप्ति हो, समाधिमरण हो, जिनेश्वर भगवन्त की भक्ति-गुणानुरागी हो।

वैज्ञानिकों के अनुसार समाधि अल्फा तरंगों का एक रूप है। अल्फातरंगों के संवर्धन से आनन्द की उपलब्धि होती है। आनन्द के अवसर में व्हाइट सैल्स रेड सैल्स के रूप में रूपान्तरित होते हैं। इसलिए, प्रसन्नता में जितने रेड सैल्स बढ़ते हैं उससे अधिक मां के वात्सस्य में बढ़ते हैं, उससे अधिक गुरुवर्यों के आशीर्वाद से बढ़ते हैं, उससे अधिक परमात्मा के अनुग्रह से प्राप्त समाधि में स्थित होने से बढ़ते हैं।

हठयोग में शारीरिक श्वास, प्राणायाम आदि को समाधि कहा है।

भक्तियोग में परमात्मा की भक्ति में संलग्न रहना ही समाधि मानी है।

राजयोग में चित्तवृत्ति निरोध को समाधि कहा है।

किन्तु ज्ञानी महापुरुषों ने सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूप में संलग्न रहने वाले साधक की समाधि को मान्य किया है। ऐसी समाधि सविकल्प समाधि है।

निर्विकल्प समाधि–सविकल्प समाधि का परिपूर्ण अभ्यास होने पर ही निर्विकल्प समाधि में प्रवेश हो सकता है। सविकल्प ध्यान से ही निर्विकल्प समाधि पर पहुँचा जा सकता है, अतः सविकल्प समाधि के बिना निर्विकल्प समाधि असंभव है।

निर्विकल्प समाधि में समस्त विकल्प विलीन हो जाते हैं। अतः निर्विकल्प दशा में साधक ज्ञाता-दृष्टा रूप स्वात्मा में संलग्न रहता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य का आस्वादन करता है। क्रमशः गुण श्रेणी

पर आरूढ़ होता है तथा मन, वचन, काया का निरोध होने से शैलेशीकरण की अवस्था में स्थित होता है।

परम समाधि—निर्विकल्प समाधि में स्थित साधक परम समाधि को प्राप्त करता है। निर्विकल्प दशा चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होकर तेरह-चौदहवे गुणस्थान में पूर्ण होती है। तेरहवें गुणस्थान में स्थित साधक पूर्व कोटी तक परम समाधि में स्थित रहता है।

संयम, नियम और तप तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान जो आत्मा ध्याता है, उसे परम समाधि कहते हैं।

वीतराग भाव से युक्त निर्विकल्प समाधि कैवल्यज्ञान का बीज है।

परम समाधि से अज, अविनाशी, अजर, अमर, निराबाध, निरंजन, निराकार, परम, अरूपी, चैतन्य स्वरूप की रमणता होती है। साक्षात्कार के अनन्तर सालंबन ध्यान की अपेक्षा निरालंबन ध्यान में विशेष अनुभव होता है। यह आत्मा की सहज दशा है। आलंबन समाधि की अपेक्षा निरालंबन समाधि में अनंत गुण उत्तमता, अनन्तगुण कर्म निर्जरा एवं अनन्तगुण शक्ति की प्रभुता प्राप्त होती है।

जैनागमों में सिद्धावस्था प्राप्त होने से पूर्व चौदहवें गुणस्थान में अयोगी अवस्था होती है। यह अवस्था शुक्लध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इस अवस्था में समाधि की आवश्यकता ही नहीं रहती। महर्षि पतञ्जलि ने योगांगरूप से जिस समाधि का उल्लेख किया है वह तो जैन दर्शन के अनुसार शुक्लध्यान के आरम्भ से ही प्राप्त हो जाती है। और ध्यान तथा समाधि में जो अन्तर बतलाया है वह भी शुक्ल ध्यान के प्रथम और दूसरे चरण में ही अन्तर्निहित हो जाता है। अतः महर्षि पतञ्जलि का समाधियोग शुक्लध्यान का ही दूसरा नाम है। संप्रज्ञात-समाधि प्रथम शुक्लध्यान का प्रायः रूपान्तर ही है और द्वितीय भेद शुक्लध्यान में असम्प्रज्ञात-समाधि का अन्तर्भाव हो जाता है।

अतः मोक्ष का उपायभूत धर्म व्यापार जो कि योग के नाम से प्रसिद्ध है वह मुख्यतया शुक्लध्यान ही है और महर्षि पतञ्जलि की योग की चित्तवृत्तिनिरोध व्याख्या भी इसमें सम्यग्रूप से संघटित होती है तथा अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश भी इसके द्वारा भलीभाँति सम्पादित होता है। एवं योग के यम-नियमादि अन्य साधनों की सफलता भी इसी में पर्यवसित होती है। इसलिये शुक्लध्यान ही परमोत्तम समाधि योग है।

योग और समाधि से लाभ

समत्व की साधना, एकत्वभाव की आराधना
अनासक्त, अप्रमत्त और वैराग्य की प्राप्ति
संवेदन नियन्त्रण
जागृत अवस्था

६. वृत्तियों के निरोध का सृजन उपाय और अनुभूति रूप आनन्द

बाह्य और आंतरिक भावना

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध जोड़ने वाली जो भी प्रक्रिया है, उसे योग कहा जाता है। अपने आपको सम्पूर्ण रूप में जान लेना परमात्मा को जानना है। स्वानुभूति ही स्वतः का आनन्द है। दुःखों की निवृत्ति आनन्द का सृजन है और चित्त की एकाग्रता आनन्द का उपाय है।

योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से चित्तगत अशुद्धि की विशुद्धि होने पर स्वानुभव में संलग्न साधक को सम्यःज्ञानादि का आविर्भाव होता है। वे आठों अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१]

इनमें से प्रथम के पाँच अंग बहिरंग साधन कहे जाते हैं और अंत के तीन अंग अंतरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि प्रथम के पाँच अंग चित्तगत मलादि दोषों को दूर करने में अपना विशेष स्थान रखते हैं, जबकि अन्त के तीन सम्यग्ज्ञानादि के उदय में विशेष उपयोगी होते हैं। इन आठ अंगों का स्वरूप, सम्यग्, अनुष्ठान और फलश्रुति जैन दर्शन में निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं। जैन दर्शन में वे आठों अंग - महाव्रत, योगसंग्रह, काया क्लेश, भाव प्राणायाम, प्रति संलीनता, धारणा, ध्यान और समाधि के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१. महाव्रत (यम)

जैनागमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये संज्ञा अणुव्रत और महाव्रत शब्दों में प्रसिद्ध हैं। वैसे ही योगदर्शन में यम और बौद्ध दर्शन में शील

---

१. पातञ्जल योगदर्शन में योग के आठ अंग का विस्तृत वर्णन है वही योग जैनागमों में अन्य नामों से प्राचीन युग से प्राप्त है –

पातंजल योग	जैन योग
१. यम	१. महाव्रत
२. नियम	२. योग संग्रह
३. आसन	३. काय क्लेश
४. प्राणायाम	४. भाव प्राणायाम
५. प्रत्याहार	५. प्रतिसंलीनता
६. धारणा	६. धारणा
७. ध्यान	७. ध्यान
८. समाधि	८. समाधि

अर्थ में प्रसिद्ध हैं। जैनागमों में और पातञ्जल योगदर्शन में इस विषय में कुछ विभिन्नता भी प्रतीत होती है। महर्षि पतञ्जलि ने इनका विधि रूप में प्रतिपादन किया है और आगम में इसका निषेध रूप में विधान किया है। जैसे–हिंसा से निवृत्ति, मृषावाद का त्याग इत्यादि।

इस प्रकार हिंसा, चोरी, मैथुन और परिग्रह का–मन, वचन, काया से परित्याग करना, उससे निवृत्त होना व्रत है। निवृत्ति और प्रवृत्ति व्रत के ये दो पहलू हैं। सत्कार्य में प्रवृत्त होने के लिए सर्वप्रथम साध्य है, असत्कार्यों से निवृत्त होना। इसी प्रकार असत्कार्यों से निवृत्त होने के लिए आवश्यक है उसके विरोधी सत्कार्यों में मन, वचन, काय आदि की प्रवृत्ति करना। ये दोनों प्रवृत्तियाँ स्वतः प्राप्त हैं।

त्याग अर्थात् दोषों से निवृत्त होना। प्रत्येक आत्मा अपनी योग्यतानुसार ही त्याग अपना सकते हैं। एतदर्थ यहाँ हिंसादि दोषों की अल्प और विशेष सभी निवृत्तियों को व्रत मानकर उनके संक्षेप में दो भेद किये गये हैं जैसे– अल्प अंश में विरति वह अणुव्रत और सर्वांश विरति वह महाव्रत है।[२]

स्थानांग सूत्र में हिंसा की निवृत्ति के विषय में **"सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं"** शब्द का प्रयोग भी मिलता है।[३]

२. योगसंग्रह (नियम)

ऊपर महाव्रतों में बताया है कि पांचों व्रतों का मन, वचन और काया से परित्याग करना व्रत है। इन्हीं व्रतों का परित्याग जब तक नहीं होता है तब तक योग का संग्रह माना जाता है। संग्रह सका निग्रह करना है ; इसलिए प्राचीन युग में द्वितीय योग अंग का नाम योग संग्रह रखा गया है, जो आज के युग में नियम के रूप में प्रचलित हैं।

नियम अर्थात् इच्छाओं पर विजय।

णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं– अर्थात् जो करने योग्य हो, ऐसा नियम ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिये होता है। नियम द्वारा रागादि भावों का निवारण[४] और भोगोपभोग तथा कालादि की मर्यादा होती है जैसे–भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुंकुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत

---

२. *तत्त्वार्थसूत्र–७/२*

३. *स्थानांगसूत्र–स्था.* ५, उ. १, पृ. ३

४. *नियमसार–३/१२०*

और गीत इन विषयों में—आज, एक दिन, एक रात, एकपक्ष, एकमास, दोमास, छहमास इस प्रकार काल के विभाग से त्याग करना भी नियम कहा जाता है।[५]

श्रावकों के लिये भी अनेक नियम रखे गये हैं जैसे—मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रिभोजन, वेश्यासमागमन इत्यादि का नियम आवश्यक रूप से होता है।

नियम शब्द का एक अर्थ रक्षण भी होता है।

जैनधर्म निवृत्तिप्रधान है, अतः यम और नियम का अर्थ भी निवृत्तिपरक ही होगा। अतएव विभाव परिणति से हटकर स्वभाव की ओर रुचि होना ही यम और नियम है। यम अर्थात् ; संयम, संयम के प्रधान दो भेद हैं—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। समस्त प्राणियों की रक्षा करना, मन, वचन, काय से किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना तथा मन में राग-द्वेष की भावना न उत्पन्न होने देना प्राणिसंयम है और पंचेन्द्रियों (पाँचों इन्द्रियों) पर नियन्त्रण करना इन्द्रियसंयम है। पाँचों व्रतों का धारण, पाँचों समितियों का पालन, चारों कषायों का निग्रह, तीन दण्डों-मन, वचन, काय की विपरीत परिणति का त्याग और पाँचों इन्द्रियों को विजय करना ये सब संयम के अंग हैं। जैन यम नियमों का विधान राग-द्वेषमयी प्रवृत्ति को वश में करने के लिए ही किया गया है। अतः नियम को प्राचीन युग में योग संग्रह कहा जाता था।

३. कायाक्लेश (आसन)

योग का तीसरा अंग कायाक्लेश है। परिहार विशुद्ध चारित्र में प्रवृत्त होने वाले साधक को ध्यान के लिये कायाक्लेश की नितान्त आवश्यकता है। जैनागमों में छः प्रकार के बाह्य तप में पाँचवें कायक्लेश नामक तपोभेद में योग के इस तीसरे आसन अंग का भलीभाँति वर्णन किया गया है और उसमें अनेक प्रकार के आसनों का नाम निर्देश किया है।

स्थानांग सूत्र में सात प्रकार का कायक्लेश रूप आसन योग का निरूपण प्राप्त होता है जैसे—

सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते तं जहां-
ठाणाइए, उक्कुडुयासणिए, पडिमट्ठाइ, वीरामणिए
णेसणिज्जे, दंडाइए, लगंडसाई।[६]

कायक्लेश सात प्रकार का बताया है—कायोत्सर्ग करना, उत्कटूक आसन से

---

५. रत्नकरंड श्रावकाचार-८७-८८-८९
६. स्थानांग ७ / सूत्र ५५४

ध्यान करना, पडिमा धारण करना, वीरासन करना, निषद्या स्वाध्याय आदि के लिए पालथी मार कर बैठना, दंडवत होकर खड़े रहना, लगड-लकड़ी की भांति खड़े रहकर ध्यान करना।

उववाई सूत्र[७] में इन्हीं भेदों को विस्तार के साथ बताकर चौदह भेद कर दिये गये हैं—जो इस प्रकार हैं—

१. ठाणट्ठिइए—कायोत्सर्ग करे।
२. ठाणाइए—एक स्थान पर स्थित रहे।
३. उक्कुडु आसणिए—उत्कुटुक आसन से रहे।
४. पडिमट्ठाई—प्रतिमा धारण करें।
५. वीरासणिए—वीरासन करें।
६. नेसिज्जे—पालथी लगाकर स्थिर बैठे।
७. दंडाइए—दंडे की भाँति सीधा सोया या बैठा रहे।
८. लगंडसाई—(लगण्डशायी) लक्कड (वक्रकाष्ठ) की तरह सोता रहे।
९. आयावए—आतापना लेवे।
१०. अवाउडए—वस्त्र आदि का त्याग करे।
११. अकंडुयाए—शरीर पर खुजली न करे।
१२. अणिट्ठुहए—थूक भी नहीं थूके।
१३. सव्वगायपरिकम्मे—सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे।
१४. विभूसाविप्पमुक्के—विभूषा से रहित रहे।

कायक्लेश रूप आसन सिद्धि में सर्वप्रथम कायोत्सर्ग की साधना पर बल दिया है।

इन आसनों के अभ्यास से चित्त अपनी स्वाभाविक चंचलता का परित्याग करके एकाग्रता की ओर अग्रसर होता है। परन्तु इतना स्मरण रहे कि ध्यान में प्रवृत्त होने वाले साधक को जिस आसन से किसी प्रकार की व्यग्रता न हो और मन की शान्ति बनी रहे वही आसन उसके लिए उपयोगी है।

जैन योग में आसनों की साधना का प्रयोग कायक्लेश तप में माना गया है, कायाक्लेश तप से शारीरिक कष्ट की अपेक्षा सहिष्णुता, स्थिरता एवं दृढ़ता का संवर्धन होता है। हठयोग की सात भूमिकाओं में शरीर को स्थिरता एवं दृढ़ता प्रदान करने के लिए आसन एवं मुद्राओं का अभ्यास बताया गया है। विविध आसन आदि के

---

७. उववाई समवसरण अधिकार तप वर्णन

द्वारा शरीर को दृढ़ बनाना और फिर खेचरी आदि मुद्राओं के द्वारा उसकी चंचलता को कम कर स्थिरता का अभ्यास करना यह हठयोग की दो मुख्य भूमिकाएँ हैं।

आसन साधना से शरीर को सुदृढ़ बनाना, मुद्राओं द्वारा स्थिरता का अभ्यास करना, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय निग्रह करना, प्राणायाम द्वारा श्वास प्रक्रिया पर अधिकार जमाना इत्यादि का प्रयोग ध्यान और समाधि के अभ्यास काल में अनिवार्य हैं। अत: साधकों के लिए अधिक आसान प्रयोग अनुपयुक्त माना है। उन्होंने आसन बहुत कम बताये हैं और जो हैं वह सिर्फ साधना के उपयोग में आने वाले हैं।

आगमों में जिन आसनों की अधिक चर्चा आती है वे आसन इस प्रकार हैं।

ठाणट्ठिइए-कायोत्सर्ग

काय +उत्सर्ग इन दो शब्दों के संयोग से कायोत्सर्ग बना है। काय-शरीर, उत्सर्ग-विसर्जन, त्यांग, विवेक इत्यादि–

कायोत्सर्ग बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार से होता है।
बाह्य–शारीरिक तनाव से मुक्ति,
आभ्यंतर–दैहिक ममत्व से मुक्ति।

बाह्य प्रवृत्तियों से चंचल शरीर अनेक द्वंद्वों का शिकार बनता है। इन द्वंद्वों द्वारा अनेक प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं। तनाव से अनेक ग्रंथियाँ वृत्तियाँ उत्तेजित हो जाती हैं। अनेक प्रकार की दुविधाएँ और विषमताएँ उत्पन्न होती हैं। इन विषमताओं का शमन बाह्य कायोत्सर्ग से स्थिर होता है।

साधना काल में बाह्य वृत्तियों को स्थिर करके आंतरिक समता पर अग्रसर होकर परिसह उपसर्ग पर विजय पाना है। कषाय शमन की मिशाल समत्वयोग है। आंतरिक स्थिरता से यथार्थता की अनुभूति होती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा के संक्लेशों का विसर्जन होता है और मन, वचन, काय योग का निरोध होता है।

हेमचन्द्राचार्य ने इसे कायोत्सर्गासन कहा है।[८]

शरीर के ममत्व का त्याग करके दोनों भुजाओं को नीचे लटका कर शरीर और मन को स्थिर करना "कायोत्सर्गासन" है। शरीर की ममता ही सबसे बड़ा बन्धन है। कायोत्सर्ग में साधक–राग-द्वेष से रहित होकर अन्तर्मुखी हो जाता है। आत्मचिंतन में गहरा डूब जाता है। तब उसे शरीर की सुध भी नहीं रहती है। शरीर को मच्छर काटते हैं या कोई चन्दन आदि का शीतल लेप कर देता है किसी भी स्थिति में वह शरीर की चिंता से चलित नहीं होता। कायोत्सर्ग प्राय: जिन मुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर सीधे सम अवस्था में खड़े रहना–जिन मुद्रा है) में ही किया जाता है।

---

८. योगशास्त्र ४/३३

इसका उद्देश्य है शरीर की ममता एवं चंचलता को कम करना और स्थिरतापूर्वक आत्मलीन होना।

यह आसन खड़े होकर, बैठकर या कमजोरी की हालत में लेटकर भी किया जा सकता है। इस आसन की मुख्य विशेषता यही है कि मन, वचन एवं काय के योग अधिकाधिक स्थिर होवें।

सभी तीर्थंकर किसी न किसी आसन में कैवल्य-ज्ञान प्राप्त करते थे। जैसे–परमात्मा महावीर ने गोदोहासन में कैवल्य-ज्ञान पाया था।

४. कायोत्सर्ग का कालमान

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नहीं है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम से कम पन्द्रह बीस मिनट तो करना ही चाहिए। कायोत्सर्ग में मन को लोगस्स आदि सूत्र में लगाया जाता है, इसलिए उसका कालमान उसकी गिनती से भी किया जा सकता है, जैसे – १२ लोगस्स, २० लोगस्स, ८ लोगस्स इत्यादि कायोत्सर्ग है।

ठाणाइए–स्थान, स्थिर होकर शांत बैठना, इसमें सिद्धासन भी लगाया जा सकता है। किसी एक पैर को वृषण के पास उरू के निम्नवर्ती भाग से सटाकर बैठिए और दूसरे पैर को जंघा और उरू के बीच में रखिए। दूसरी बार में पैरों का क्रम बदल दीजिए।

१. इस आसन से वीर्य ऊर्ध्वीकरण होता है।

२. मन की एकाग्रता होती है।

३. कामवाहिनी नाड़ी पर नियन्त्रण होने से वृत्तियों का निरोध।

उक्कुडु आसाणए-[९] उत्कटिकासन–दोनों पैर और नितम्ब भूमि से लगे रहें वैसे बैठना।

उकड़् बैठना–उत्कटिकासन है। अर्थात् अंगूठों को भूमि पर टिकाकर, एड़ियों को ऊपर की ओर उठा कर, उन पर गुदा रखकर बैठना।

पद्मासन

एक जांघ के साथ दूसरी जांघ को मध्यभाग में मिलाकर रखना "पद्मासन" है। पद्मासन[१०] ध्यान और समाधि के लिए उपयुक्त आसन है। इस आसन में अनेक तीर्थंकर भगवन्तों को कैवल्यज्ञान हुआ है।

---

९. योगशास्त्र–४/१३४
१०. योगशास्त्र श्लो. १२९

पद्मासन से लाभ

१. इस आसन में ध्यान की प्रधानता
२. शारीरिक धातुओं की समानता
३. मानसिक एकाग्रता
४. जंघा, उरू आदि स्नायुओं की सशक्तता
५. इन्द्रियों पर विजय

शरीर में ग्रंथियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्मासन और योगमुद्रा द्वारा ये ग्रंथियाँ सुदृढ़ होने से विशेष रसस्रावी होती हैं, उसमें अनेक ग्रंथियाँ ऐसी हैं जैसे– पिच्यूटरी, पिनियल, थायरॉइड इत्यादि विशेष स्थान में परिवर्तन लाती हैं तथा वृत्तियों पर नियन्त्रण लाती हैं।

एड्रीनल ग्रन्थि नाभि के नीचे के स्तर पर होती है। इसका सम्बन्ध मद्य, विषय, कषाय कामनाओं से है। सिंहासन, पद्मासन, पर्यंकासन, योगमुद्रा आदि आसन से ग्रंथियों का सम्यक् स्राव होता है और देहात्मभिन्नता, मानसिक संतुलन, और वृत्तियों की निरोधता होती है।

वीरासन, सिद्धासन,पद्मासन आदि से तेजस्विता, ओजस्विता, स्थिरता, धीरता इत्यादि गुण प्रकट होते हैं। वृक्क ग्रंथि रक्त को शुद्ध बनाती है और शुक्रग्रंथि इन आसनजय द्वारा विकारों का उपशमन करती है।

सभी आसनों से ब्रह्मचर्य साधना सिद्ध होती है। मानसिक तनाव से मुक्ति होती है। आध्यात्म योग जागृत होता है। विकल्प शक्ति का अभाव होता है, संकल्प शक्ति सुदृढ़ बनती है। वीर्य का ऊध्वीर्करण होता है। प्रसन्नता और आनन्द सहज मिलता है और योग के प्रत्येक द्वार खुल जाते हैं।

५. भाव प्राणायाम (प्राणायाम)

प्राण अर्थात् बल, शक्ति, ऊर्जा, जैन दर्शन में ऐसी शक्ति के देश प्रकार प्रसिद्ध हैं। १. श्रोतेन्द्रिय बल प्राण, २. चक्षुरेन्द्रिय बल प्राण, ३. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, ४. रसेन्द्रिय बल प्राण, ५. स्पर्शेन्द्रिय बल प्राणी, ६. मन बल प्राण, ७. वचन बल प्राण, ८. काय बल प्राण, ९. श्वासोश्वास बल प्रांण और १०. आयुष्य बल प्राण, इन दशों प्राण पर विजय प्राप्त करने से अद्भुत शक्ति प्रकट होती है।

अशुभ योग और कषाय का नाश करने का उंपाय भाव प्राणायाम है। ध्यान सिद्धि के लिए भाव प्राणायाम विशेष उपयोगी है।

सांस और उच्छ्वास् को अनुशासित विस्तृत और व्यवस्थित करना तथा उसकी गति का निग्रह करना प्राणायाम है। प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने से आसन–शुद्धि, नाड़ी-शुद्धि और प्राणशक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है।

हेमचन्द्राचार्य के शब्दों में जहाँ मन है, वहाँ वायु है, और जहाँ वायु है वहाँ मन है। अतः समान क्रिया वाले मन और वायु क्षीर-नीर की भाँति आपस में मिले हुए हैं। फलतः प्राणायाम से बाह्य तेजस्विता ओजस्विता और प्राण होने पर भी निष्प्राण होने की सक्षमता का एक विराट रूप प्रज्जवलित होता है।

प्राणायाम का लक्षण और भेद

मुख और नासिका के अन्दर संचार करने वाला वायु "प्राण" कहलाता है। उसके संचार का निरोध करना "प्राणायाम" है। **"प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभभावनः"** मन, वचन और काय–इन तीनों योगों का निग्रह करना तथा शुभभावना रखना भी प्राणायाम है।[११] प्राणायाम अर्थात् प्राणश्वास्-प्रश्वास की गति उसका आयाम-विच्छेद अवरोध करना प्राणायाम है। बाहर की वायु को भीतर लेना श्वास है और भीतर की वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास और उच्छ्वास की गति का निरोध करना "प्राणायाम" कहलाता है।

महर्षियों ने प्राणवायु के विस्तार को भी प्राणायाम कहा है। उसके तीन अंग हैं।[१२]

प्राणायाम के अंग

कोष्ठक नं. ६

	मात्रा	लाभ
१. **पूरक**–बाहर से वायु को अंदर खींचना	आठ मात्रा	पुष्टि
२. **रेचक**-अंदर से वायु को बाहर फेंकना	सोलह मात्रा	व्याधियाँ क्षीण
३. **कुम्भक**–दोनों वायु का निग्रह करना	बत्तीस मात्रा	आन्तरिक शक्तियाँ जागृत

इस प्रकार अनुलोम-विलोम प्राणायाम, शीतली प्राणायाम, केवल कुम्भक प्राणायाम, उज्जाई प्राणायाम, चन्द्र प्राणायाम, सूर्य प्राणायाम, सूक्ष्म भस्त्रिका प्राणायाम इत्यादि प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं।

प्राण या विज्ञान

प्राण एक यौगिक शक्ति है। तैजस शरीर और चैतन्य शक्ति का योग होते ही प्राण-शक्ति उत्पन्न होती है। प्राण के साथ गति, ध्वनि, स्पंदन क्रिया आदि की शक्ति

---

११. महापुराण–२१/२२७
१२. ज्ञानार्णव–२९/३

का भी संचार होता है। शरीर में होने वाली सक्रियता का आधार ऊर्जा है। वैज्ञानिकों ने संशोधन द्वारा परिणामों का निर्देशन करते हुए कहा है, कि प्राण को धारण करने वाला जो प्राणी है वह एक दिन रासायनिक प्रयोग द्वारा जीवन निर्माण कर सकेगा।

शिकागो विश्वविद्यालय वैज्ञानिक **स्टैन्ली मिलर** प्रयोग के बल पर अनुमान करता है कि वायुमंडल में हाइड्रोजन, अमोनिया और मीथेन ही थे। ऑक्सीजन केवल पानी में ही था। तीनों को ट्यूब में संयोजित कर अल्ट्राबायोलेट किरणों से विद्युत को मिलाया गया। फलतः उसमें एमिनो एसिड बने। वैज्ञानिकों ने सोच लिया कि हमें सफलता मिल गई।

उन्होंने एक ग्रुप डॉ.' वी. इन्थशिक, वी. ग्रीसचेको, एन. वोरोवेव, सर ओलिवर लॉज आदि को तैयार किया। वैज्ञानिकों ने रासायनिक तत्वों द्वारा एसिड तो बना लिया, किन्तु जीव या प्राण तत्त्व के निर्माण में सफल नहीं हुए हैं।

हमारे शरीर में सक्रियता का आधार जो प्राण ऊर्जा है, इसका नाम "द बायोलॉजकल प्लाज्माबाडी" है। यह ऊर्जा शरीर ही भविष्य और टेलीपैथी का अनुभव करता है।

प्राणायाम के प्रकार

१. अनुलोम-विलोम प्राणायाम—वायु शुद्धि के लिए अनुलोम-विलोम सर्वाधिक निर्दोष प्राणायाम है।

२. शान्त प्राणायाम—साधना के क्षेत्र में शान्त प्राणायाम की नितान्त आवश्यकता है। तालु, नासिका और मुख के द्वारों से वायु का निरोध कर देना "शान्त" नामक प्राणायाम है। प्राण हमारी नाड़ियों से प्रवाहित होता है। बायें नाक के छिद्र से प्रवाहित होने वाला प्राण इडां नाड़ी यां चन्द्रस्वर कहा जाता है, दायें छिद्र से प्रवाहित होने वाला प्राण पिंगला नाड़ी या सूर्यस्वर कहा जाता है और दोनों नाड़ियों के बीच में प्रवाहित होने वाला प्राण सुषुम्ना कहा जाता है। चन्द्रस्वर शीत और सूर्यस्वर उष्ण होता है। सुषुम्ना में सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम से सुषुम्नास्वर चलने लग जाता है। अनेक प्रकार की विद्युत तरंगें भी प्रवाहमान होने लगती हैं। इन तरंगों में अल्फा तरंगें विशेष होती हैं। इनमें से बीटा, डेटा, थीटा आदि तरंगों में मानसिक तनाव विशेष रहता है। प्राणायाम द्वारा तनाव मुक्त हो कर साधक अल्फा तरंगों में तरंगित होता है। तनावग्रस्त मानव जो कार्य दस घंटे में करता है वही कार्य शान्त मानव दो घंटे में कर सकता है। क्योंकि तनाव से रक्त में लेक्टर एसिड का प्रवाह बेटा आदि तरंगों के प्रभाव से बढ़ जाता है। अतः भाव प्राणायाम से सुषुम्ना जागृत होती है और अल्फा तरंगें लम्बे अरसे तक चलती रहती हैं।

प्राणायाम से लाभ

प्राणायाम से शरीर वायु, मानसिक तनाव और अनेक व्याधियाँ आदि विशुद्ध होती हैं ये बाह्य शुद्धि है। आन्तरिक शुद्धि इन्द्रियजय, मनोजय, कषायजय इत्यादि हैं जिसका प्राणजय से रूपान्तर होता है।

इन्द्रियविजय, मनोविजय, कषायविजय–इन शब्दों से हम सुपरिचित हैं किन्तु प्राणविजय शब्द से हम सुपरिचित नहीं हैं। जैन परम्परा में ऐसी धारणा है कि प्राणायाम हमारी परम्परा में मान्य नहीं है, वह महर्षि पतंजलि तथा हठयोग की परम्परा में मान्य रहा है। क्योंकि आवश्यकनिर्युक्ति में श्वास का निरोध न किया जाए ऐसा उल्लेख मिलता है। किन्तु यह निषेध किसी विशेष स्थिति में किया गया प्रतीत होता है। भद्रबाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उसकी आधार-भित्ति भाव प्राणायाम है।[१३] अन्य अनेक आचार्यों ने ध्यान संवरयोग की साधना की है। उसमें भी भाव प्राणयाम प्रमुख होता है। महाप्राण साधना या ध्यान योग की साधना में अनेक वर्ष व्यतीत हो जाते थे तथा किसी प्रमादवश प्राणहानि भी हो जाती थी। संभव है इसी कारण आवश्यकनिर्युक्ति में श्वास-निरोध का निषेध किया गया होगा।

प्राणायाम जैन-परम्परा से असम्भव नहीं है। प्राणायाम के बिना प्राण-विजय नहीं हो सकती और उसके बिना इन्द्रियविजय, मनोविजय और कषायविजय का होना साधारणतया संभव नहीं है।

६. प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार)

आगमों में प्रत्याहार के स्थान में प्रतिसंलीनता शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है – स्वः लीनता अर्थात् आत्मा के प्रति लीनता। परन्तु विभाव में लीन आत्मा को स्वभाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही वास्तव में प्रतिसंलीनता है। इसलिए संलीनता को स्व-लीनता अपने-आपमें लीनता भी कह सकते हैं।

मन और इन्द्रियों को शब्दादि विषयों से हटाकर अपनी इच्छा के अनुकूल स्थापना करना प्रत्याहार है।[१४] प्रतिकूल–आहारः वृत्तिः प्रत्याहार। अर्थात् इन्द्रियों की बहिर्मुखता नष्ट होने पर वे अन्तर्मुखी हो जाती हैं, मन के साथ निरुद्ध हो जाती हैं, तब

---

१३. जैनागमों में दस प्राण हैं, उसमें श्वासोच्छ्वास भी एक प्राण है। चौदह पूर्वों में बारहवाँ पूर्व "प्राणायु" नाम का था उसमें भाव प्राणायाम योग आदि का स्वरूप बनाया था। भद्रबाहु स्वामी ने नेपाल जाकर महाप्राण की आराधना की थी।

१४. -ज्ञानार्णव २७/१

उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रतिसंलीनता की परम आवश्यकता है।

इन्द्रिय, कषाय तथा मन, वचन, काय आदि योगों को बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त करना संलीनता है। शास्त्र में इसे "संयम" तथा "गुप्ति" भी कहा गया है।

इन्द्रिय, कषाय व योग आदि का संयम-संकोच एवं निग्रह करना प्रतिसंलीनता है। उस दृष्टि से प्रतिसंलीनता संयम-संकोच एवं निग्रह रूप तप का परम उपाय है तथा संयम की विशुद्ध साधना है।

प्रतिसंलीनता के भेद

प्रतिसंलीनता चार प्रकार की है—

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, कषाय-प्रतिसंलीनता, योग-प्रतिसंलीनता तथा विविक्ता-शयनासन सेवना।[१५]

यद्यपि उत्तराध्ययन में प्रतिसंलीनता के स्वरूप में सिर्फ विविक्तशयनासन को ही लिया गया है। वहाँ पर मुख्य दृष्टि से साधक को ध्यान व समाधि के उपयुक्त एकांत स्थान की गवेषणा करने को कहा है, ध्यान से संयम की वृद्धि होती है, इस कारण ध्यान व समाधि में साधन रूप विविक्तशयनासन को वहाँ प्रतिसंलीनता बताकर बाकी भेदों के प्रति सहज उपेक्षा बतायी गयी है। किन्तु भगवती सूत्र आदि में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है, वहाँ उसके सभी रूपों पर विचार किया गया है। जैसे वह रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु हैं। जो उस रूप में राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है—वही वीतराग है।

७. धारणा

योग का छठा अंग धारणा है। चित्त की एकाग्रता के लिए उसको किसी एकदेश-स्थानविशेष में स्थित करना—जोड़ देना-धारणा है।[१६] यहाँ पर देश स्थानविशेष आदि शब्द से—नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक आदि यह ध्यान करने के लिए धारणा के, स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त का स्थिर करना ही "धारणा" है।

---

१५. भगवती सूत्र २५/७

१६. 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो. ३/१)

ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अतः ध्यान, आत्म-चिन्तन में स्थिर किया जाए। वस्तुतः ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने–स्थित रखने की साधना है। इसके अतिरिक्त धारणा के निमित्त निश्चित किये गये देशनिर्णय के अन्तर्गत आधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरकचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धि- चक्र, आज्ञाचक्र और अजरामरचक्र, इन सात चक्रों का भी योगग्रन्थों में उल्लेख देखने में आता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि चित्तनिरोध के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित है और एकाग्रता के लिए उसका किसी एकदेश में स्थापना करना आवश्यक है। इसलिये आगमों में किसी एक पुद्गलविशेष पर, स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करके मन की एकाग्रता (सम्पादनार्थ धारणा) का समर्थन किया है।[१७]

इन्द्रियों को और मन को विषयों से खींच लेना भी धारणा होती है। विषयों से विमुख बने हुए मन को नासिकाग्र आदि स्थानों पर स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से कुछ ऐसा साक्षात्कार होने लगता है, जो पहले कभी अनुभव में न आया हो। कभी-कभी दिव्य-गंध, दिव्य-रूप, दिव्य-रस, दिव्य-स्पर्श और दिव्य-नाद की अनुभूति होती है। किन्तु उन्हें भी इन्द्रियों के सूक्ष्म विषय मानकर मन से बाहर धकेल देना चाहिए। ऐसा करने पर मन में अपूर्व शान्ति का अनुभव होगा। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक विषयों से विरक्त मन में ही धारणा की योग्यता आती है। धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाने पर ही यथार्थ ध्यान हो सकता है।

यहाँ पर इतना अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि–प्रथम धारणा का विषय स्थूल होता है और बाद में वह सूक्ष्म और सूक्ष्मतर बनता चला जाता है। तात्पर्य यह है कि साधक को प्रथम तो बाह्यविषय में किसी स्थूल मूर्त पदार्थ को ध्येय बनाकर उसमें दृष्टि को स्थिर करना होता है। उसमें दृष्टि के परिपक्व हो जाने के बाद फिर सूक्ष्म पदार्थ को ध्येय बनाकर धारणा करनी होती है। इसी प्रकार प्रगति करते-करते वह अन्त में अपने चेतन स्वरूप को ही ध्येय बनाकर उसके साक्षात्कार में सफल हो जाता है। इतना ध्यान रहे कि योग के प्रथम पाँचों अंग मंद अधिकारी के लिए हैं, *अर्थात्* योग की प्रक्रिया को न जानने वाले के लिए विशेष उपयोगी है और पीछे के तीन अंग-धारणा, ध्यान और समाधि मध्यम और उत्तम अधिकारी के लिए उपयोगी हैं।

ध्यान–देखिए पृ. नं. १६६

---

१७. भगवती सूत्र श. ३ उ. २

समाधि–

अष्टांग योग में सप्तम स्थान ध्यान का है और अंतिम स्थान समाधि का है। अंगों की अपेक्षा ध्यान और समाधि विशेष महत्त्व के अंग हैं। इनको योग का सर्वस्व कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।[१८]

---

१८. समाधि के लिए देखिए पृ. नं ७६

तृतीय विभाग

(३) योग ऊर्जा और स्वरूप दर्शन

अध्याय १. साधना की फलश्रुति जड़-चैतन्य का विवेक ज्ञान
(ज्ञान-योग)

अध्याय २. साधना की चरमावस्था प्रीति, अनुराग, भाव-भक्ति
(भक्ति-योग)

अध्याय ३. प्रवृत्ति का परिणमन बन्ध हेतु का कारण
(कर्म-योग)

अध्याय ४. साधना का केन्द्र बिन्दु आश्रव निरोध-संवर
(संवर-योग)

अध्याय ५. आचार संविधा का प्राण विधानों में
(आज्ञा-योग)

अध्याय ६. तनाव मुक्ति का परम उपाय आंतरिक दोषों की आवश्यक आलोचना।
(आवश्यक-योग)

१. साधना की फलश्रुति जड़ - चैतन्य का विवेक ज्ञान

ज्ञान योग

ज्ञानयोग का स्वरूप

ज्ञानानुसार आचरण के समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित है और न कोई तप है। क्योंकि अनुभवात्मक ज्ञान होते ही स्थूल और सूक्ष्म, नित्य और अनित्य, योग और भोग, आसक्ति और अनासक्ति, प्रमाद और अप्रमाद अवस्था का भेद स्वतः प्राप्त होता है।

शास्त्रवार्ता समुच्चय में **"ज्ञानयोग स्तपः"**[१] तप को ही ज्ञानयोग कहा है। **"भव कोडी संचय कम्मं कवसा निज्जरिज्जइ"**[२] क्योंकि ज्ञान युक्त तप में करोड़ों भव के संचित कर्म को तोड़ने की शक्ति विद्यमान हैं।

जिस प्रकार भूमि रहित बीज फलित नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानयोग के अभाव में मन, वाणी और कर्म रूप सद्प्रवृत्ति के संस्कार फलित नहीं होते। अतः ज्ञानयोग ही जड़ और चैतन्य का भेद ज्ञान कराने में समर्थ है।

सम्पूर्ण साधना का समावेश ज्ञानयोग में निहित है क्योंकि सभी साधना का फल अवश्य मिलता ही है। चाहे हेय साधना हो या उपादेय हो, हर प्रवृत्ति का स्वतन्त्र प्रभाव होता ही है। जैसे पुण्य से सुख मिल सकता है, किन्तु चिर शांति तथा स्थायी प्रसन्नता नहीं मिल पाती। चिर शांति और स्थायी प्रसन्नता की प्राप्ति ज्ञानयोग से ही प्रकट होती है।

जहाँ मन, वचन और कायरूप शुभयोग सत्प्रवृत्ति है वहाँ ज्ञानोपयोग होता ही है, जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान टिक नहीं सकता जैसे सूर्य की प्रथम किरण आते ही अन्धकार टूटता जाता है, वैसे ही ज्ञान होते ही अज्ञान टूटता जाता है।

हेतु की दृष्टि से–

ज्ञानी के ज्ञान में जो अनुभूत है वही जाना जाता है, माना जाता है, और स्वीकारा

---

१. शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लो. २१ पृ. ७४
२. उत्तराध्ययन ३०/६

जाता है। अतः असंयमी की दृष्टि में जो हेय है वही संयमी की दृष्टि में उपादेय है। यही ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में अंतर होता है।

कायवाङ्‌मनः कर्मयोगः स आस्रवः[३]

कायिक, वाचिक और मानसिक शुभाशुभ प्रवृत्ति योग कहलाती है और वही आस्रव हैं। अतः आस्रव और अनास्रव की प्रवृत्ति शुभ और अशुभ योग पर आश्रित है। आस्रव जन्य दुःख, धन, सैत्ता और भोग्यपदार्थों के विषय में होते हैं। अतः अज्ञानी की दृष्टि में ये कर्मबन्ध के हेतु होने पर भी भौतिक सुख के हेतु होते हैं और वे ही पदार्थ विषय सुखों से पराङ्मुख ज्ञानी की दृष्टि में अध्यात्म चिंतन का विषय बनकर कर्म निर्जरा का हेतु बन जाता है।

किसी भी वस्तु, परिस्थिति, घटना, प्रवृत्ति और भावना व्यक्ति के सम्बन्ध में समान रूप से परिणमन नहीं होती हैं। दो व्यक्तियों की भी योग्यता और रुचि समान नहीं मिल पाती जो परिस्थिति ज्ञानी के ज्ञान में सर्व हितकारी है, वही अज्ञानी के लिए स्वार्थ भाव में होती है। इस प्रकार सर्वात्मभाव देहभाव में, वैराग्यभाव भोग प्राप्ति में, और त्यागभाव रागभाव में बदल जाता है।

आचार्य अमितगति ने योगसार में ज्ञानी के लिए ठीक ही कहा है कि जिस इन्द्रिय विषय के सेवन से अज्ञानी अनंत भव संसार भोगता है वहाँ ज्ञानी उसी विषयों के ज्ञान से अन्तर्मुहूर्त मात्र में संसार मुक्त होते हैं [४]

अज्ञान का आवरण टूटने पर ज्ञान प्रज्ज्वलित होता है और भ्रम टूट जाता है। कोई आग्रह अवशेष नहीं रहता। अवशेष रहता है यथार्थ, केवल सत्य।

ज्ञान दृष्टि

यथार्थ की एक धारा है सम्यग्दर्शन और दूसरी धारा है सम्यग्ज्ञान ; ज्ञान आत्मा का गुण है। वह गुणी के अभाव में नहीं रह सकता। जहाँ गुणी है वहीं गुण परिलक्षित होता है, अतः जहाँ गुण की अनुभूति होती है वहाँ गुणी का अस्तित्व अवश्य होता है। क्योंकि गुण-गुणी का तादात्म सम्बन्ध है।

मैंने जान लिया, मैं जानता हूँ या मैं जानूँगा। इस प्रकार जो तीनों काल में "मैं" का प्रयोग हुआ है वह आत्मा है और जान लिया, जानता हूँ या जानूँगा यह प्रयोग आत्मा का गुण ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

---

३. तत्वार्थ सूत्र ६/१, २

४. योगसार–६/१८

अज्ञान का आवरण हटते ही स्व और पर का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता है। अन्य व्यक्ति के शरीर में स्थित आत्मा को हम ज्ञान द्वारा ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं। पदार्थ को जानने की, कार्य करने की, जीतने की, त्यागने की, भोगने की, ग्रहण करने की, छोड़ने की इत्यादि सर्व प्रवृत्ति में हेय और उपादेय का बोध ज्ञान द्वारा ही उद्‌भूत होता है।

मैं ज्ञान के द्वारा अपना सुख, दुख का संवेदन करता हूँ, उसी तरह अन्य व्यक्ति के लिए भी ज्ञान और संवेदन होता है, अतः सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। निश्चयपूर्वक प्रत्येक आत्मा में रहता है। इसलिए कहा जाता है कि यह ज्ञानवान है।

इन्द्रियाँ पौद्‌गलिक है अतः पुद्‌गल निर्मित पदार्थों को ही देख सकती हैं, अतः इन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान माना जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है।

जब तक अज्ञान अवस्था होती है, इन्द्रियादि विषयों की मूर्च्छा छायी रहती है, बाह्य प्रवृत्ति विद्यमान रहती है, भौतिकता की रुचि जागृत रहती है, तब तक साधक अतीन्द्रिय ज्ञान की सत्ता को पाने में सफल नहीं रहता। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का कुहरा चारों ओर छाया हुआ रहता है। मन, वाणी और शरीर के आवर्त्त में उस अज्ञानी में जो भी प्रक्रिया होती है, स्पंदन होते हैं, संवेदना होती है, वह इन्द्रियों का, मन का, प्राण का, शरीर का बन्धन होता है। ज्ञान दृष्टि के उद्‌घाटन से ही सत्य उपलब्ध होता है। शुभ योग से ज्ञान की दिशा को गति मिलती है।

ज्ञान की कसौटी

अप्पणा सच्चमेसेज्जा– स्वयं सत्य की खोज करो। सत्य की खोज के लिए ज्ञान योग की आवश्यकता है। आज जो वैज्ञानिक यन्त्रों से खोज करता है, वही खोज ध्यानी अपने ज्ञान से करता है। ज्ञानयोग से चित्त की चंचलता स्थिर होती है, विकल्पों का जाल टूटता है और यथार्थ का साक्षात्कार होता है। अस्थायी मन ज्ञान को नहीं पा सकता। ज्ञान को पाने के लिए मन का स्थिरीकरण ही उपयुक्त है। जानने योग्य क्या है इसे खोजते-खोजते ही उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। जहाँ ज्ञाता ज्ञेय पर अपने ज्ञान का उपयोग लगाता है वहाँ ज्ञान ध्यान रूप हो जाता है। ज्ञान और ध्यान में कोई अन्तर नहीं। किसी एक ज्ञेय पर एकाग्र होना ही ज्ञानी के लिए ध्यान है।

जानना और देखना–ज्ञाता-दृष्टा यह मेरा स्वभाव है, मैं सोचता हूँ, बोलता हूँ, मैं खाता हूँ ये क्रिया अवश्य हैं किन्तु स्वाभाविक नहीं हैं। जो प्रवृत्ति सांयोगिक होती है वह किसी न किसी अज्ञान का रूप लेकर ही आती है। आत्मा का स्वभाव जानना और

देखना है, किन्तु जब वह स्वभाव अन्य के संयोग की अपेक्षा रखता है, तब स्वभाव विभाव में तथा ज्ञान अज्ञान में परिणत हो जाता है। मन का कर्म, वचन का कर्म, शरीर का कर्म अस्वाभाविक है। जहाँ अस्वाभाविकता है वहाँ बंधन है, ऐसा कार्य कारण का नियम है। कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता है। बन्धन भी कारण के बिना नहीं होता है। जहाँ अस्वाभाविक प्रवृत्ति होगी वहाँ बन्धन होगा, वैभाविक क्रिया होगी वहाँ अज्ञान होगा ही।

जहाँ योग और बन्धन दोनों एक हो जाते हैं वहाँ हमारी स्वाभाविकता अस्वाभाविक हो जाती है। अतः जहाँ योग है वहाँ बन्धन है, जहाँ बन्धन है वहाँ योग है। एक को देखकर दूसरे को भी जाना जाता है जैसे जहाँ सूर्य है वहाँ प्रकाश है, जहाँ प्रकाश है वहाँ सूर्य है।

हमारी कोई भी प्रवृत्ति हो फिर वह मन सम्बन्धी हो, वचन सम्बन्धी हो या काय सम्बन्धी हो, प्रवृत्ति प्रवृत्ति है, बन्धन बन्धन है। प्रवृत्ति है तो बन्धन है ही। बन्धन है तो प्रवृत्ति का क्रम है ही। दोनों को मुक्त कराने वाला यदि कोई है तो वह है ज्ञान। अकेला ज्ञान कुछ नहीं कर सकता अतः ज्ञान योग से प्रवृत्ति और बन्धन का विवेक ज्ञान जागृत होता है।

ज्ञानयोग से प्रवृत्ति निवृत्ति में रूपांतरित होती है। पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। जो भी कार्य करो समाप्त होता है किन्तु कार्य की प्रतिक्रिया समाप्त नहीं होती, ध्वनि समाप्त होती है किन्तु प्रतिध्वनि समाप्त नहीं होती। इसी प्रकार बंध समाप्त होता है किन्तु अनुबंध समाप्त नहीं होता। बन्ध योग से होता है और अनुबंध योग से जमे हुए संस्कार से चलता है, इस प्रकार क्रिया और प्रतिक्रिया रूप तेरहवें गुणस्थान संयोगी केवली तक चलता रहता है। इस अवस्था में साधक ज्ञानयोगी कहा जाता है।

योग का मतलब है चित्त वृत्ति का निरोध, इस मार्ग पर चलने वाला स्वेच्छा से आगे बढ़ सकता है। जब वृत्तियाँ तीव्रता का रूप धारण करती हैं। मन उतना ही विक्षिप्त रहता है। इस विक्षिप्त मन को केंन्द्रित करने के लिए एकाग्रता विशेष आवश्यक है। जैसे सूर्य के प्रकाश को बादल आवृत्त करते हैं, वैसे ही वृत्तियाँ ज्ञान पर सवार हो जाती हैं। किन्तु बादल सम्पूर्ण सूर्य को आवृत्त नहीं कर पाते। वैसे ही वृत्तियाँ ज्ञान पर आवरण जरूर करती हैं, फिर भी सम्पूर्ण ज्ञान आवृत्त नहीं होता उसकी कोई न कोई किरण प्रज्ज्वलित रहती है अन्यथा जड़ और चैतन्य की भिन्नता प्रतीत नहीं हो पायेगी।

आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं, ज्ञानावरण उन सबको आवृत्त किए हुए है। ये आत्मप्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं और प्रत्येक आत्मप्रदेश में ज्ञान का आलोक छाया हुआ है। मानव अपनी वृत्तियों का निरोध करके जैसे-जैसे आवरण को हटाता है वैसे-वैसे ज्ञानशक्ति प्रस्फुटित होने लगती है। आवरण की क्षमता विलीन होते ही स्थूल शरीर में ज्ञान की अभिव्यक्ति के केन्द्र निर्मित हो जाते हैं।

ज्ञान के भेद

सामान्य तौर पर ज्ञान के पाँच भेद माने जाते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। मात्र मतिज्ञान ही इतना व्यापक है कि सारा संसार क्रम इसी की कड़ी में जुड़ा हुआ है। हम किसी पदार्थ को जानते हैं, पदार्थ का जानना-मानना ये संस्कार है, ये संस्कार मतिज्ञान का प्रथम चरण "अवग्रह" है। पदार्थ का सामान्य बोध पूर्वकृत संस्कार--वासना से उद्भूत होता है। पश्चात् तर्क पैदा होता है क्या है प्रश्न पैदा होता है। निर्णय के लिए संशोधन होता है, वहाँ मतिज्ञान का द्वितीय चरण "ईहा" का बोध होता है। तर्क-वितर्क की उलझनें सुलझ जाती हैं, निर्णय विवाद को समाप्त करता है, तब किसी एक निष्कर्ष पर सत्ता प्राप्त होती है, वह है मतिज्ञान का तृतीय चरण "अवाय"। निश्चयात्मक ज्ञान, प्राप्त होने पर कोई शंका तर्क विमर्शन शेष नहीं रहता तब मतिज्ञान का चतुर्थ चरण "धारणा" बनती है। यह धारणा ही स्मृति बन जाती है। वही संस्कार के रूप में जम जाती है। इस प्रकार संस्कार का क्रम जन्म-जन्मांतर में चलता रहता है। इसी संस्कार से स्मृति उभरती है। कड़ी से कड़ी जुड़ती है और इसी से राग और द्वेष का जन्म होता है। **"रागो य दोसो वि य कम्मबीयं"**[५] राग और द्वेष ही ज्ञान का आवरण रूप हेतु है।

ज्ञानयोग प्रत्यक्ष ज्ञान है। जब तक आवरण होता है वह तब तक परोक्ष ज्ञान ही रहता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही रहता है, स्मृति जन्य ज्ञान ही रहता है। वासना और संस्कार जन्य ज्ञान अज्ञान होता है। जैसे ही परिस्थिति पदार्थ, परिणाम उभरकर हमारे सामने आता है, हमारी स्मृति उजागर हो उठती है। हमारा स्मृतिज्ञान जवाब देता है यह वही है। स्मृति, शब्द के रूप में हो दृश्य के रूप में हो, ज्ञात हो या अज्ञात रूप में हो, सचित्र हमारे सामने अंकित होती है। इस परिस्थिति में आत्मा स्मृति से सम्बन्धित होकर जुड़ जाती है। अतः राग-जन्य या द्वेष-जन्य ज्ञान आवृत्त होता है। यह आवर्त्त का क्रम चलता रहता है यही संसार है।[६] ज्ञान योगी इस आवर्त से पर होता है। ज्ञान योग में इस आवर्त्त से पर होने का सामर्थ्य है।

---

५. उत्तराध्ययन सूत्र ३२/७

६. आचारांग अ. २ उ.१ सू. ६३

ज्ञानयोगी दूसरों के मन के विचार जान लेता है। आगम में मनयोगी के मानस का चिन्तन विशद् रूप में मिलता है, आगम को श्रुतज्ञान कहा जाता है। सम्पूर्ण रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधिज्ञानी जानता है और देखता भी है। मन:पर्यवज्ञानी मनोगत भावों को जानता और देखता है। नंदिसूत्र में कहा है कि मन:पर्यवज्ञानी अतीत और अनागत काल को पल्योपम के असंख्यातवे भाग को वर्तमान की तरह जानता है और देखता है।[७] ज्ञानयोगी अपने ज्ञान से मनोगत भाव को जानते और देखते हैं। वैसे ही वाणीगत भावों का व्यापक रूप यथार्थ स्वरूप को भी जानते और देखते हैं। इस प्रकार कायिक चेष्टा से सर्वभावों को उजागर कर सकते हैं।

हम पुस्तकीय ज्ञान को ज्ञान मान बैठे हैं। पढ़कर, रटकर, जो स्मृति के आधार पर कार्य को क्रियान्वित किया जाता है यह स्मृति मतिज्ञान है।

आधुनिक विज्ञान केवल मक्खी के ही इतने प्रकार बताते हैं कि उनकी प्रक्रिया समूह व्यवस्था आदि का अध्ययन या ज्ञान प्राप्त करें तो सारी जिन्दगी खत्म हो जाय तो भी पूरा नहीं होगा। केवल पत्ता, भाजी को ही देखो कितने प्रकार हैं उनके वनस्पति विज्ञान के अध्ययन में ही जीवन समाप्त हो जायेगा और वनस्पति का ज्ञान अधूरा रह जायेगा।

एक डॉक्टर के लिए शारीरिक चिकित्सा, रोग का निदान, रोगों का इलाज दवाओं का ज्ञान आवश्यक है। एक वकील के लिए कानून का, साक्षियों का, मानसिक स्थिति का ऊट्पटांग (Cross Examination) वाणी एवं वैभव का ज्ञान आवश्यक है। व्यापारी के लिए ग्राहक का, माल आदि का, बाजार की मंदी-तेजी का ज्ञान उपयोगी माना जाता है। उसी प्रकार ज्ञान योग वही माना जाता है जो आत्म-सम्बन्धी हो क्योंकि बाह्य ज्ञान बौधिक उपज है ज्ञानयोग आत्मिक उपज है।

तेजाब मिश्रित पानी के साथ विद्युत का प्रयोग करके एक रूप बने हुए हाइड्रोजन और ऑक्सीजन वायु को वैज्ञानिक अलग कर सकता है उसी प्रकार जड़ और चैतन्य जो एक रूप प्रतीत होते हैं उनका भेद ज्ञान स्वाध्याय और ध्यान के सहयोग से होता है।[८]

ज्ञान प्राप्ति के लिए बुद्धि की निर्मलता-मन की विशुद्धता, अन्तःकरण की

---

७. नंदिसूत्र ३७

८. तत्त्वानुशासन अध्याय ३, श्लोक ७ (८१)

विशालता, संयम की सार्थकता, संकल्प शक्ति की सुदृढ़ता, चित्त की शान्तता तथा एकाग्रता की सम्पदा नितांत आवश्यक है ऐसी स्थिति में ही ज्ञान की प्राप्ति होती है।[९]

इस प्रकार जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है। दर्शन से श्रद्धा करता है। चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।[१०]

वैज्ञानिक दृष्टि से हमारे शरीर में जो पिनियल और पिच्युटरी दो ग्लेण्डस है। इनके द्वारा हमारा ज्ञान विकसित होता रहता है। इन्हीं दोनों ग्लेण्ड्स से चेतना का ऊर्ध्वीकरण होता है। जिस चेतना में शक्ति के साक्षात्कार की क्षमता आती है उस चेतना का नाम है ज्ञान। ज्ञान स्वयं साक्षात् अनुभव है। वह इन्द्रियातीत है, बुद्धि से पर है, अलौकिक फलश्रुति है।

जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया। जेण विजाणति से आयो।[११]जो आत्मा है, वह विज्ञाता है जो विज्ञाता है वह आत्मा है, क्योंकि मति आदि ज्ञानों से आत्मा स्व पर को जानता है।

ज्ञान योग का फल

"ज्ञानस्य फलमं विरति" ज्ञान का फल विरति है। विरति अर्थात् व्रत नियम। अज्ञान टूटते ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त होते ही व्रत नियम की आराधना होती है। इस प्रकार **णाणेन विजानहुंति चरण गुणा**[१२]ज्ञान विहीन कोई भी क्रिंया कांड-तप-जप की सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञान दो स्वरूप में फलित होता है—१. बुद्धि, और, २. अनुभव। बुद्धि का काम है तर्क करना और अनुभव की प्राप्ति का कार्य है ध्यान और संयम। जो अनुभव के गर्त में डुबकी लगाता है, गोता खाता है वही जानता है कि ध्यान क्या है, संयम क्या है ? जो केवल तर्क करता है समुद्र के तट पर खड़ा रहकर केवल अनुभव शब्द का उपदेश देता है वह क्या जाने भीतर में क्या है। हमारा ज्ञान बाहरी स्वरूप तक सीमित रहा है अतः बौद्धिक फल जरूर पाता है। किन्तु भीतर का ज्ञान सम्यक् ज्ञान है और उसका फल कैवल्य ज्ञान है।

ज्ञान से स्व स्वरूप का बोध और यौगिक पर्यायों का परिवर्तन होता है। स्व स्वरूप का बोध और यौगिक पर्यायों के परिवर्तन से ज्ञानी ज्ञान दर्शन का अनुभव

---

९. विंशतिविंशिका १, गाथा १७-२०

१०. उत्तराध्ययन २८/३५

११. आचारांग-अध्य. ५, उद्दे. ६, सू. १७१

१२. उत्तराध्ययन २८/३१

करता है। उसके सामने घटनायें आती हैं वह जानना है भोगना नहीं। ज्ञान योग का फल है जानना और देखना। केवल ज्ञाता, केवल दृष्टा ज्ञानी के लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय। न किसी का संयोग है, न किसी का वियोग है। परिस्थिति घटना के रूप में घटित होती रहती हैं। परिवर्तन परिस्थिति के अनुरूप बदलता है। ज्ञान ज्ञान स्वरूप में विद्यमान रहता है। ज्ञेय का पर्याय ज्ञान नहीं होता और ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय नहीं होता। दोनों भिन्न होते हैं। एक ज्ञेय है और एक ज्ञान है। ज्ञानी, ज्ञेय को जानता है और देखता है। उसके लिए ज्ञान ज्ञान ही रहेगा और ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा। अगर इतना हो जाय तो ज्ञान योग फलित हो जायेगा। फिर खाते हैं तो क्या, बैठे हैं तो क्या, चलते हैं तो क्या, बोलते हैं तो क्या ज्ञाता सदा जागृत है। क्योंकि उसके जीवन में ज्ञान घटित हो जाता है।

१. योग एक प्रयोग है ज्ञान की कसौटी का

अभ्यास क्रम में

अपने आपको जानो और पूछो

क्या आपको अस्तित्त्व का बोध है ?
क्या शरीर और आत्मा भिन्न है ?
क्या ज्ञान बाह्य प्रवृत्ति में है ?
क्या ज्ञानी को कल्पना, स्मृति, विकल्प सताते हैं ?

२. साधना की चरमावस्था प्रीति, अनुराग, भाव - भक्ति

भक्ति-योग

भक्ति शब्दार्थ

भक्ति शब्द 'भज' धातु को क्तिन् प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न हुआ है ।[१] इसकी व्युत्पत्ति भजनम् भक्तिः भज्यते अनया इति भक्तिः भजन्ति अनया इति भक्तिः इत्यादि रूप में की जा सकती है ।

भक्ति के पर्यायवाची शब्द

जैसे **पाइअसद्द**[२]**—महण्णव** में निशीथ चूर्णि[३] में **चेइअ वंदण**[४] महाभाष्य में भक्ति को सेवा कहा गया है ।

भक्ति के पर्यायवाचियों में श्रद्धा का स्थान भी सेवा की तरह विशेष है जैसे श्री हेमचन्द्राचार्य कृत प्राकृत व्याकरण में, आचार्य समन्तभद्र कृत समीचीन धर्मशास्त्र में और तत्त्वार्थ सूत्र में भक्ति को श्रद्धा कहा है ।[५]

आचार्य पूज्यपाद ने भक्ति के स्थान पर अनुराग को स्थान दिया है । उन्होंने अरिहंत, आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन में भावविशुद्धि युक्त अनुराग को भक्ति कहा है ।[६] आचार्य सोमदेव के अनुसार जिन, जिनागम और तप, तथा श्रुत में तत्पर आचार्य के प्रति सद्भाव इत्यादि से विशुद्धि सम्पन्न अनुराग को भक्ति कहा है ।[७]

पूज्यपाद श्री रूपगोस्वामी के अनुसार—

स्वाभाविक अनुराग को ही भक्ति कहा है ।

---

१. अभिधान राजेन्द्रकोश भा. ५, पृ. १३६५
२. पाइअसद्दमहण्णवो—पृ. ७९६
३. निशीथचूर्णि—१३०
४. चैइअ—वंदण महाभासं पाद टिप्पण—१
५. आचार्य हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृत व्याकरण
६. सर्वार्थसिद्धि—६१२४ का भाष्य पृ. ३३९
७. Yasastilak and Indian Culture p. 262
८. हरिभक्ति रसामृतसिन्धु पृ. ८७-८८

आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वालों को सच्चा योगी कहा है।[९] उनके अनुसार आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के प्रति भक्ति करने वाला सम्यक्दृष्टि कहा जाता है।

भक्ति और ज्ञान

सेवा, श्रद्धा और अनुराग की तरह ज्ञान और भक्ति का भी अविनाभावी सम्बन्ध है। ज्ञान के बिना भक्ति अन्धभक्ति है, क्योंकि ज्ञान और भक्ति दोनों का लक्ष्य एक है—मोक्ष प्राप्त करना। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार ज्ञान आत्मा में विद्यमान है, किन्तु गुरु की भक्ति करने वाला भव्य पुरुष ही उसको प्राप्त कर पाता है।[१०]उन्होंने भाव पाहुड में भगवान जिनेन्द्र से बोधि अर्थात् ज्ञान देने की प्रार्थना की है।[११]आचार्य समन्तभद्र के अनुसार भक्ति वही कार्य करती है जो कार्य पारस करता है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा स्वर्णरूप हो जाता है उसी प्रकार भगवान की भक्ति से सामान्य ज्ञानी कैवल्य ज्ञानी हो जाता है।[१२]

भक्ति योग का महत्त्व

जैन योग में भक्ति योग का महत्त्व उच्च कोटि का है। अरिहंत: सिद्ध परमात्मा की भक्ति ही साधक को योगी-महात्मा बनाने में समर्थ रहती है। हरिभद्रसूरि ने योग बिन्दु में **"योगीवृन्दारकवन्दनीयौं"**[१३]कहकर भगवन्त की भक्ति की है। योगमार्ग की प्राथमिक भूमिका भक्ति ही है ऐसा प्रमाण उन्होंने योगदृष्टि समुच्चय नामक अपने ग्रन्थ में किया है। जैसे **"जिनेषकुशलंचितं"**[१४]अर्थात् जिनेश्वर भगवन्तों के प्रति भक्तियुक्त चित्त को योगबीज कहा जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में **"अर्हते योगिनाथाय"**[१५]अर्थात् योगियों के नाथ कहकर भगवन्त की स्तुति की है।

भक्तियोग में अनुरक्त बने हुए मानतुंगाचार्य का परमात्मा के प्रति जो सद्भाव है वह भक्तामर स्तोत्र में मननीय है। जैसे **"भक्त्या मया रुचिर वर्ण विचित्रपुष्पाम्"**[१६]यहाँ आचार्य स्वयं कहते हैं कि प्रभु तेरा गुणगान करने में मैं असमर्थ हूँ फिर भी जो कुछ भी

---

९. अष्टपाहुड में मोक्षपाहुड गा. ५२
१०. बोधपाहुड गा.२२
११. भावपाहुड गा. १५२
१२. स्तुतिवींद्या श्लो. ६, पृ. ७०
१३. योगबिन्दु गा. १
१४. योगदृष्टि समुच्चय गा. २३
१५. योगशास्त्र गा. १
१६. *भक्तामर स्तोत्र श्लो. ६*

हो जाता है वह भक्तिवशात् हो जाता है। वादिराजमुनि ने भी इसी प्रकार भक्तियोग में संलीन होकर भक्ति की मस्ती में गाया है कि–

त्वं सर्वेशः सकृय इति च त्वामुपेतो स्मि भक्त्याः ---- ।
त्यकर्तव्यं तदिह विषयेयदेव एव प्रमाणम् ॥[१७]
यहाँ साधक भक्तिपूर्वक परमात्मा को समर्पण हो जाता है ।
श्री सिद्धसेनदिवाकर के अनुसार श्री भक्ति का महत्व विलक्षण है जैसे–
भक्त्या नते भयि महेश। दयां विधाय दुःखांकुरो दलनतत्परतां विधेहि।[१८]

प्रभु ! आप शरणागत प्रतिपालक हो, दयालु हो और समर्थ भी हो। अतः भक्तिभाव से विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे दुःखों को दूर करने के लिए तत्पर होवें ।

समर्पण, आदरभाव एवं भक्ति से युक्त ऐसे साधक के विशिष्ट लक्षणों को अभिप्रेत करते हुए वे कहते हैं–

भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्यदेहदेशाः ।
पादद्वयं तव विभो। मुवि जन्म भाजः[१९]**।**

अर्थात् जिन्होंने अन्य काम को छोड़ दिये हैं और भक्ति से प्रकट हुए रोमांचों से जिनके शरीर का प्रत्येक अवयव व्याप्त है, ऐसे साधक भक्ति भाव में भावित हो जाते हैं। अतः इस क्रिया को अमृत क्रिया कहते हैं। भक्तियोग के लक्षणों में अमृत क्रिया का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमृत क्रिया के ऐसे लक्षण दर्शाते हुए एकीभाव स्तोत्र में कहा गया है ।

आनन्दाश्रुस्नपितवदनं गदगदं चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयिदृढमनाः स्तोत्रमंत्रर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिर्र देहवल्मीकमध्या–
न्निष्कास्यते विविधविषमव्याधयः का द्रेवयाः ॥[२०]

अर्थात् भगवन् ! जो मनुष्य शुद्ध चित्त से आपकी भक्ति करता है उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ।

---

१७. एकीभाव स्तोत्र श्लो. ११
१८. कल्याणमंदिर स्तोत्र श्लो. ३९
१९. कल्याणमंदिर स्तोत्र श्लो. ३४
२०. एकीभाव स्तोत्र श्लो. ३

भक्तियोग का परिणाम (आवश्यकता)

अध्यवसायों की विशुद्धि के बिना की जाने वाली भक्ति साधक को परिणाम की सफलता तक नहीं पहुँचा सकती है। अध्यवसायों की विशुद्धता से ही प्राणिधान अर्थात् चित्त की एकाग्रता हो सकती है। अतः **"प्राणिधानं कृते कर्म, मन्येतीव्र-विपाकवत् ।"**

प्रणिधान द्वारा की जाने वाली क्रिया ही तीव्रविपाक याने उत्कट फलदायी होती है। किन्तु यह सब कुछ तभी होता है, जब साधक की भक्ति के प्रति रुचि हो। भक्तिपूर्वक रुचि को प्रीति अनुष्ठान भी कहते हैं। बिना प्रीति के भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती अथवा स्थायी नहीं रह सकती। अतः अनुष्ठानों में भक्ति से प्रथम प्रीति को स्थान दिया गया है। अतः यहाँ भक्तियोग के विवेचन में प्रीतियोग को समझना बहुत आवश्यक है। प्रीति और भक्ति को बहुधा एक समझने की भ्रान्ति इसी से टूट सकती है।

"प्रीति एवं प्रीति अनुष्ठान तथा भक्ति अनुष्ठान"

जिसमें अधिक प्रयत्न हो और जिससे करने वाले का अधिक हित हो ऐसी प्रीति–रुचि होती है और अन्य प्रयोजनों को त्याग कर जिसे एकनिष्ठा से करते हैं, वह प्रीति अनुष्ठान है।

विशेष गौरव (महत्त्व) के योग से बुद्धिमान पुरुष की अत्यन्त विशुद्ध योग वाली क्रिया प्रीति अनुष्ठानवत् होने पर भी उसे भक्ति अनुष्ठान कहते हैं।

दोनों अनुष्ठान में अन्तर–भक्ति अनुष्ठान को विशेष रुचि के साथ किया जाने वाला अनुष्ठान प्रीति अनुष्ठान है, किन्तु भक्ति अनुष्ठान में साधक कुछ विशिष्ट अभ्युदयवाला होता है। यद्यपि आदर एवं महत्त्व प्रीति अनुष्ठान में भी होता है, किन्तु भक्ति अनुष्ठान में यह आदर और गौरव के साथ हृदय में अंकित हो जाता है। प्रीति में समान भाव होता है, उदाहरणार्थ एक पुरुष का अपनी पत्नी के प्रति स्नेह भाव प्रीति कहलाता है और माता के प्रति स्नेह भाव भक्ति कहलाता है। यह दोनों पात्र भिन्न हैं पुरुष का स्नेह भाव दोनों के प्रति है, वह दोनों का पालन-पोषण एवं रक्षण करता है, किन्तु दोनों के प्रति रहे हुए स्नेह-भाव में अन्तर है। एक के प्रति प्रीति है और दूसरे के प्रति भक्ति है। प्रीति में समर्पण भाव परस्पर रूपेण होता है। परन्तु भक्ति में समर्पण भाव एकपक्षीय एवं उच्चकोटि का होता है।

यह तो हुआ लौकिक परिणाम, किन्तु भक्ति से साधक अलौकिक सिद्धि भी पाता है। श्री जिनभद्रगणि जी कहते हैं–जिनवर की भक्ति करने से पूर्व संचित कर्मों

का क्षय हो जाता है।[२१] भक्तिपूर्वक ध्यान में संलीन होने से जन्म-जन्म के निबिड कर्मबन्धन सहज विमोचन हो जाते हैं।[२२]

अरिहंत भक्ति से बोधिलाभ की प्राप्ति

श्री अरिहंत जिनवर की भक्ति से दर्शन विशुद्धि की प्राप्ति होती है। दर्शन विशुद्धि के बिना अरिहन्त भक्ति संभव नहीं होती। इस प्रकार दर्शन विशुद्धि द्वारा अरिहन्त भक्ति से अनेक लाभ होते हैं।[२३] जैसे प्रवचन की आराधना, सन्मार्ग की दृढ़ता, कर्त्तव्यता का निश्चय, शुभाशय की वृद्धि तथा सानुबन्ध–शुभ अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। भगवान की भक्ति मुक्ति की दाता है। भक्ति और मुक्ति का परस्पर साध्य-साधक का सम्बन्ध है। मुक्ति साध्य है, भक्ति साधक है। भगवद् भक्ति के प्रभाव से दुखक्षय, समाधि मरण और बोधिलाभ की प्राप्ति होती है।[२४]

भक्ति अर्थात् प्रकृष्ट नमन, काया से नमन, वचन से स्तवन, मन से सत् चिंतवन, अर्थात् मन, वचन, काया का सानुकूल वर्तन भक्ति की पराकाष्ठा है। भगवंत को भाववंदन उत्कृष्ट भक्ति है। अरिहन्त परमात्मा की भक्ति रूप महिमा को शास्त्रकार भगवन्तों ने इस तरह बताया है –

भत्तीए जिणवराणं पदमामाए खिणपिज्ज दोसाणं
आरुग्ग बोहिलामं समाहि मरणं च पावेति [२५]

तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो जहाँ और जिस प्रकार अरिहन्त परमात्मा की आज्ञा का पालन होता है, वह अरिहन्त भगवन्त की भक्ति के ही प्रकार हैं। अतः परमात्मा के प्रति जो श्रद्धा, विनय, वैयावृत्य, सद्भाव, सेवा, समर्पण, वंदन, पूजन, सत्कार, सन्मान, प्रमाण, प्रशंसा, प्रार्थना, प्रमोद, प्राणिधान, स्मरण, स्तवन, कीर्तन, कथा, उत्सव, उपासना, आदर, आराधना, एकाग्रता, शरणागति, वात्सल्य और योग इत्यादि भक्ति के ही प्रकार हैं। इस प्रकार भक्ति का स्वरूप व्यापक और अनेक अपेक्षाओं से परिपूर्ण है।

---

२१. भत्तिए जिणवराणं खिज्जन्ती पुव्वसंचिया कम्मा।
गुणपगरिसबहुमाणो कम्मवणदवाणलो जेण ॥
श्री जिनभद्रगणीजी **श्री जिनभद्रगणीजी**

२२. कल्याणमन्दिर स्तोत्र-श्री सिद्धसेन दिवाकर श्लो. ८

२३. कल्याणमन्दिर स्तोत्र-८/३, ४/१८९/५

२४. कित्तिय वंदिस महिया-जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा,
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहि वर मुत्तमं दिन्तु ॥-लोगस्स सूत्र स्वाध्याय गा. ६

२५. आवश्यक निर्युक्ति।

प्रभु भक्ति में लीन बने हुए अनेक कविगण भक्ति रस में आप्लावित होकर काव्यों का सर्जन करते हैं। प्राचीन काव्यों का आलम्बन प्राप्त कर अनेक भक्त आत्मा भगवद् भक्ति के अनुरागी होते हैं। आत्मकल्याणकारी मार्ग में प्रयाण करने की इच्छा वाले मुमुक्षु आत्मा का आशय शुभ होने पर भी भूमिका भेद से एवं क्षयोपशम की भिन्नता से अपनी-अपनी क्षमतानुसार जीव अरिहन्त परमात्मा की भक्ति में अधिकाधिक सुस्थिर होते हैं। इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा के अनन्य भक्ति भाव स्वरूप में आप्लावित आत्मा अरिहन्त स्वरूप को प्राप्त करता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने शक्रस्तव में स्पष्ट किया है कि– **"यो जिनः सो हमेव च"** ।[२६] हम सब ऐसी परमात्म भक्ति में संल्लीन होवें और हम सभी को ऐसा महत् पद प्राप्त होवे कि हम शक्ति में लीन होकर भगवान् हो जावें।

"भक्ति की अचिन्त्य शक्ति

ऐसे तो भक्ति वैराग्य और ज्ञान की पूर्व भूमिका है। भक्ति के अभाव में ज्ञान और वैराग्य अस्थिर होते हैं। कई महर्षियों ने तो भक्ति में तल्लीन होकर मुक्ति से भी भक्ति को श्रेष्ठ स्थान दिया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने एक स्थान पर "भक्तिभागवती बीज" कहकर भक्ति को वीतराग का, मोक्ष का, सम्पदा (लक्ष्मी) का, बीज माना है। प्रभु भक्ति अवश्य मुक्ति का साधन है, उपाय है और मोक्ष प्राप्ति का कारण है। मुमुक्षुओं के लिये मोक्ष प्राप्ति यह कार्य है और प्रभु भक्ति यह कारण है। अतः जिसे कार्य की इच्छा हो, उसे अनवरत आदर, सत्कार और भावोल्लास से भक्तिमय होना आवश्यक है। वही कार्य सिद्धि का महामन्त्र है। अरिहंतों में जो गुणानुराग स्वरूप भक्ति होती है वह अरहन्त भक्ति कहलाती है।[२७] ऐसी गुणयुक्त भक्ति ही सर्वकल्याणकारिणी होती है, जिन गुणों को प्राप्त करने का ध्येय है, वे समस्त गुण परमात्मा में पराकाष्ठा तक पहुँचे हुए हैं। उन गुणों का भक्तियुक्त चिन्तन समस्त दुःख, दारिद्र दौर्भाग्य, आपत्ति और विपत्ति संरक्षण रूप है। अरिहन्त, आचार्य बहुश्रुत और प्रवचन इनमें भावों की शुद्धता के साथ अनुराग रखना अरिहन्त भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति और प्रवचन भक्ति है।[२८] इन भक्तियों का तात्कालिक फल चित्त की प्रसन्नता, मस्तिष्क की सांत्वना और हृदय की पवित्रता है एवं परम्परा से उसका फल सद्गति और मोक्ष है।

---

२६. सिद्धसेन दिवाकर कृत शक्रस्तव।

२७. धवला–८/३, ४/८९-९०/४

२८. सर्वार्थसिद्धि–६/२४/३३९/४
राजवार्तिक–६/२४/१०/५३०/६
चारित्राचार–५१/३, ५५/१
भावपाहुड टीका–७७/३२१/१०

प्रभु भक्ति की लीनता में परमात्मा की अनन्त करुणा, ''सवि जीव करूँ शासन रसी'' की उत्कृष्ट भावना एवं परोपकार प्रविणता कारणभूत है। गुण प्रकर्षण और अचिन्त्य शक्ति से ही यह सारा कार्य होता है। भगवद् भक्ति से अनन्त जन्मों के कर्मों का क्षय होता है, और करोड़ों वर्षों के तप का फल मिलता है और सर्व कामनाएं सिद्ध होती हैं। जन्म, ज़रा और मृत्यु का भय टलता है। अनेक प्रकार के कष्ट, विघ्न और दुविधाएँ दूर होती हैं। मंगल और कल्याण का वरदान मिलता है। दुर्जन सज्जन हो जाता है। भव जल तरण, शिव सुख मिलन और आत्मोद्धार करण सहज हो जाता है। भक्ति रूप साधना से अज्ञान अन्धकार का नाश होता है, विषय कषाय मंद होते हैं और सत्प्रवृत्ति की प्रेरणा मिलर्ती है। फलतः उत्तम जन्मों की परम्परा से अल्प समय में घाती कर्मों के नाश से केवलज्ञान और सर्व कर्मों के नाश से अन्त में मुक्ति मिल जाती है। इन अलभ्य लाभों की परम्परा का मूल हेतु भक्ति की तन्मयता है।

भक्ति के प्रकार

अध्यात्मसार में उपाध्याय यशोविजयजी ने भक्ति के चार प्रकार बताए हैं—

(१) **आर्त**—संसार के दुःखों से त्रस्त जीवात्मा।

(२) **तत्त्वजिज्ञासु**—दुःखनाश, सुखप्राप्ति की अभिलाषा रहित परमात्म अनुग्रह प्राप्त कर परम तत्व का जिज्ञासु।

(३) **धनेच्छु**—धनादि की कामना वाले जीवात्मा।

(४) **ज्ञानी**—कर्मयोग और भक्तियोग द्वारा परमात्मा को ही परम सत्य मान उन्हीं का अस्तित्व स्वीकार करने वाला ज्ञानी।

इन चारों में धनेच्छु को छोड़कर शेष तीन प्रशंसनीय हैं, क्योंकि उन तीनों का ध्येय परमात्मतत्व है। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि धनेच्छु भक्ति अर्थ आदि की प्राप्ति के हेतु होती है। अतः ऐसी भक्ति विष अनुष्ठान कही जाती है उसे परमात्म भक्ति कैसे कहा जा सकता है? तथा उपाध्यायजी के अनुसार उसे प्रशंसनीय भी कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान ऐसे है कि यहाँ जो धनेच्छू अर्थात् धन के अर्थी को प्रशंसनीय कहा है वह वस्तु विशेष के रूप में कहा है। यहाँ वस्तुलक्ष्य परमात्मा है। धन का अर्थी होने पर भी यहाँ भक्त धन के लिए कहीं याचना करने नहीं जाता किन्तु परमात्मा की भक्ति में लीन रहता है। अतः उसका लक्ष्य भक्ति होने से वह प्रशंसनीय है।[२९]

---

२९. आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चंचित चतुर्विधाः।
उपासकास्त्रयस्तत्र धन्या वस्तुविशेषतः ॥

—अध्यात्मसार [illegible] ५०१, पृ. ३३४

भक्ति का चौथा नंबर ज्ञान का है। ज्ञानी वही होता है जो रागादि विक्षेपों से रहित शान्त चित्तवाला, सर्वज्ञ परमात्मा की नित्य भक्ति करने वाला और पूर्वोक्त तीनों प्रकार के उपासकों से विलक्षण कोटिवाला होता है। ऐसा साधक सदाशय वाला होने से, ब्रह्म स्वरूप के निकट पहुँचता है।[३०]

योग एक विरक्ति है भक्ति में खोने की
अभ्यास क्रम में
अपने आपको खोजो
भक्ति की लीनता एकाग्रता लाती है ?
कैसी भक्तिः स्वार्थ या परमार्थ
भक्ति की मस्ती स्वाभाविक या कृत्रिम
भक्ति एक में है या अनेक में।

३०. ज्ञानी तु शान्तविक्षेपों नित्यभक्तिर्विशिष्यते।
अत्यासन्नोह्यसो भर्तुरन्तरात्मा सदाशयः ॥

—वही गा. ५७२, पृ. ३३५

३. प्रवृत्ति का परिणमन बन्ध हेतु का कारण

कर्मयोग

कर्म का अर्थ

कर्म का शाब्दिक अर्थ, कार्य प्रवृत्ति या क्रिया है। सामान्यतः हम जो कुछ भी करते हैं, वह कर्म है। उठना, बैठना, खाना, पीना, सोना इत्यादि। जीवन व्यवहार में हम जो कुछ करते हैं वह कर्म कहलाता है। व्याकरण की दृष्टि से देखा जाये तो पाणिनि ने भी कहा है कि **कर्तुरीप्सिततमं कर्म**[१] जो कर्ता के लिए अत्यन्त इष्ट हो यह कर्म है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जीव द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं, अर्थात् आत्मा की रागद्वेषात्मक क्रिया चुम्बक के समान होने से आकाश प्रदेशों में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म के सूक्ष्म पुद्गल आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों में संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[२]

कर्म पौद्गलिक है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हों, उसे पुद्गल कहते हैं।[३] पृथ्वी, पानी, हवा आदि पुद्गल से बने हैं। जो पुद्गल कर्म बनते हैं, अर्थात् कर्म रूप में परिणत होते हैं, वे एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज अर्थात् धूलि है, जिसको इन्द्रियाँ (यन्त्र आदि की मदद से भी) नहीं जान सकती है, किन्तु सर्वज्ञ केवलज्ञानी अथवा परम् अवधिज्ञानी उसको अपने ज्ञान से जान सकते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल जब जीव द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, तब उन्हें कर्म कहते हैं।

संसारी जीव सक्रिय होने से मन, वचन और काया के योग से शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करता रहता है। इस प्रवृत्ति का परिणाम कर्म बन्ध कहा जाता है। हर प्रवृत्ति का परिणाम कर्म बंध का हेतु है। कर्म के साथ-साथ बंध होता ही है। क्योंकि प्रत्येक क्रिया परिणाम तत्काल लाती है। फिर उसका उपभोग जब कभी भी होवे। बन्ध उसी क्षण

---

१. पाणिनि व्याकरण–१/४/४८ (राजवर्तिक)
२. परमात्म प्रकाश १/६२
३. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ५, सूत्र २३
(ख) व्याख्या प्रज्ञप्ति–श. १२, उ. ५, सू. ४५०

होता है और उसका उपभोग दीर्घकाल तक चलता है। क्रिया होते ही क्रिया का बन्ध होता है, बन्ध होने के पश्चात् अनेक कर्मों का क्षय होता है और अनेक कर्मों का संचय होता है। संचित कर्म कब सक्रिय होंगे इसका कोई नियम नहीं है।

आज बीज बोया है इसलिए कि मीठे फल मिलेंगे किन्तु आज ही फल का वह अधिकारी नहीं हो सकता, जब काल परिपक्व होगा तब फल मिलेंगे। कर्म का जो बन्ध हुआ है वे कर्म सत्ता काल में पड़े रहेंगे। इस सत्ता काल को अबाधा काल कहते हैं। यहाँ कर्म का अस्तित्व है किन्तु उदय में आने का समय परिपक्व नहीं हुआ है। परिणाम की क्षमता जब तक उदित नहीं होती तब तक सत्ता में कर्म पड़े रहते हैं।

लकड़ी में अग्नि का अस्तित्व है किन्तु जब तक संयोग नहीं मिलता अग्नि प्रज्ज्वलित नहीं होती। कर्म सत्ता में पड़े हैं जब तक काल परिपक्व नहीं होता कर्म उदय में नहीं आते। स्थिति बन्ध पूर्ण होते ही कर्म उदय में आते हैं, भोगे जाते हैं और नष्ट होते जाते हैं। इस प्रकार रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति से कर्म का बन्ध होता है और यथा समय भोगने पर टूटते हैं। बन्धन और मुक्ति दोनों प्रक्रिया का चक्र परिभ्रमण करता है। हमारी वासना कर्म को आकर्षित करती है और कषाय द्वारा बंध करती है। आकर्षण होता है मन, वचन और काया की चंचलता के द्वारा और बन्ध होता है काषायिक वृत्ति द्वारा। इस प्रकार पुरातन कर्म अपना फल देकर अलग हो जाते हैं और अभिनव कर्मों का बन्ध होता रहता है.।

जैसे सरिता में प्रवाहमान जलकण भिन्न-भिन्न हैं, विराट जलराशि बह जाती है, फिर भी पीछे से आने वाले जल कण उसके प्रवाह को चालू रखते हैं। उसी तरह पूर्व के आबद्ध कर्म अपने समय पर फल देकर क्षय होते रहते हैं और नये कर्म स्थान ग्रहण करके कर्म, प्रवाह को चालू रखते हैं।

इस प्रकार आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध है अकेले कर्म से सम्बन्ध नहीं होता है, प्रवाह की तरह नये और पुराने कर्म की बन्ध और मुक्त दोनों अवस्था प्राप्त होती है।

जैन दर्शन की मान्यता है कि संसारी आत्मा स्वयं कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा ही अच्छे या बुरे कर्मों को करता है और उसका उसी रूप में फल भोगता है और प्रयत्न से उन कर्मों को बिना भोगे भी तोड़ सकता है। कर्मों को भोगता हुआ जीव चारों गतियों में नाना रूप धारण करता है और मुक्त होने पर सिद्धत्व स्वरूप को भी प्राप्त करता है। जीव जैसे कर्म बन्धन को बांधने में समर्थ है वैसे ही कर्मबन्धन से मुक्त होने में भी समर्थ है। कर्म का आदि है तो अंत भी है।

कर्म बन्ध के हेतु

कर्मबन्ध के दो हेतु हैं राग और द्वेष। इन दोनों के द्वारा मोह प्रबल होता है। फलतः जानना और देखना दोनों प्रवृत्ति पर आवरण छा जाता है। इस आवरण से मिथ्या दृष्टि, बहिर्वृत्ति, और दुर्बुद्धि उजागर होती है। यह निर्विवाद है कि जब तक मिथ्यात्व का उदय होगा आकांक्षा जीवित रहेगी, आकांक्षा प्रमाद को जन्म देती है। यह प्रमाद ही दुःख है और दुःख ही संसार है। इस प्रकार कर्म के बन्धन से संसार परिभ्रमण होता है। कहा भी है—संसार अध्रुव है अशाश्वत है और प्रचुर दुख से भरा हुआ है।[४] इस प्रकार दुःख कर्म बन्ध का परिणाम है।

दुःख का सम्बन्ध राग से भी है और द्वेष से भी है। इन्हीं सम्बन्ध से क्रोध, काम, मद, लोभ, रूप आसक्ति पुष्ट होती है। माया और लोभ का राग में और क्रोध और मान का द्वेष में समावेश होता है। इस प्रकार कर्म से रागद्वेष और रागद्वेष से कर्म बन्ध होता ही रहता है। इस चक्रव्यूह की गति वीतराग दशा में ही रुकती है अन्यथा चलती ही रहती है।

इस प्रकार कर्म का आकर्षण केन्द्र राग-द्वेष है। कर्म की तीव्रता और मंदता राग-द्वेष पर निर्भर है। कर्म संक्रमण की प्रक्रिया राग-द्वेष है। राग-द्वेष जितने तीव्र होंगे कर्म परमाणु उतने ही तीव्र चिपकते रहेंगे। अतः राग-द्वेष से वैरभाव होता है, राग-द्वेष से विरोध भाव होता है, राग-द्वेष से मानसिक अशान्ति होती है, राग-द्वेष से मानसिक बीमारी होती है और राग-द्वेष से संक्लेश होता है।

कर्म के हेतु—भाव और द्रव्य

राग और द्वेष से जिन कर्मों का आकर्षण होता है वे हमारे भावों पर निर्भर होते हैं। मन वचन और काया के अशुभ योग से, अशुभ लेश्या और अशुभ अध्यवसाय भाव कर्म कहे जाते हैं। कर्म, कर्म का बन्ध, कर्म का अनुबन्ध आदि का विस्तृत वर्णन करने से कोई लाभ नहीं है। लाभ है हमारे भावों का निरीक्षण करने में। राग-द्वेष का क्षण भाव कर्म हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षण भावकर्म है। भाव-कर्म ही द्रव्य कर्मों को प्रभावित करता है। द्रव्य कर्म भाव को उत्तेजित करता है। इस प्रकार भाव का प्रभाव द्रव्य पर और द्रव्य का प्रभाव भाव-कर्म पर होता रहता है।

हमें इस भाव कर्म को रोकना है। ध्यान द्वारा, साधना द्वारा, अप्रमत्तता द्वारा जागृति द्वारा इन भावकर्मों को निष्प्राण करना है। जब तक भाव कर्म जिन्दा है तब तक

४. उत्तराध्ययन अ. ८, गा. १

द्रव्य कर्म जिन्दा है। भाव कर्म के प्रति जागृत होना ही हमारी साधना है, ध्यान है, जागृति है।

इस प्रकार भाव कर्म राग और द्वेष के रूप में उभरते हैं और द्रव्य कर्म चंचलता का नर्तन करता है। इन कर्मों को रोकने के दो ही उपाय हैं— समभाव और स्थिरता। निर्विचार और निर्विकल्प की साधना करने से मन की चंचलता शान्त होती है। व्यक्त और अव्यक्त रूप से वाचिक मौन की साधना वाणी की चंचलता को स्थिर करती है। कायोत्सर्ग के विधान से काया की चंचलता कम होती है। मन, वचन और काया की चंचलता अल्प होते ही कर्म बन्ध की प्रक्रिया का परिवर्तिन होता है। समत्व की साधना प्रवाहित हो जाती है। साधना का सार ही समता है।

कर्म के हेतु-आश्रव

आत्मा और कर्म पुद्गल दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं। आत्मा कभी कर्म को आकर्षित नहीं करता किन्तु कर्म को आकर्षित करने का माध्यम है आश्रव। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आश्रव के पाँच हेतु हैं।

१. मिथ्यात्व

कर्मयोग में बाधक तत्व मिथ्यात्य है। सत्य को सत्य की दृष्टि से नहीं दखना, यथार्थ को यथार्थ की दृष्टि से नहीं परखना, अज्ञान है। जब जानने और देखने पर आवरण होता है तब मिथ्यात्व आता है। मिथ्यात्व के उदय से भोग को सुख मानता है। और त्याग को दुःख, त्याग में सुख और भोग में दुख की मान्यता को वह गलत मानता है। यह अवस्था बुद्धि की विपर्यास अवस्था है। इस अवस्था में सत्य को विपरीत ग्रहण किया जाता है ; जैसे आत्मा में देह बुद्धि स्वीकार करना। ज्यों–ज्यों देह बुद्धि सबल तथा स्थायी होती जाती है, भोगेच्छाओं की जिज्ञासा जागृत होती जाती है।

२. अविरति

कर्मयोग में बाधकतत्त्व है अविरति–अविरति अर्थात् गुप्त वासना, इच्छा, चाह, ईर्षा में मृगमरीचिका की तरह भोग में सुख को खोजना। संयोग की लालसा और वियोग में विवाद अनुकूल की प्राप्ति के लिए दौड़ धूप, प्रतिकूलता के नाश के लिए दौड़धूप, मान मिल गया खुश हो गया, अपमान मिला नाखुश हो गया। जहाँ पदार्थों के प्रति ममत्व, भोगेच्छा है वहाँ अविरति है और जहाँ ममत्व और भोगेच्छा का अभाव है, वहाँ विरति है।

३. प्रमाद

कर्म योग में बाधक तत्व-प्रमाद भी है। भोगेच्छाओं की लालसा का तीव्र होना

प्रमाद है। अविवेक प्रमाद को जन्म देता है। अतीत का होना और अनागत की चिन्ता ही प्रमाद है। मद् विषय, निन्दा, विकथा इत्यादि इन्द्रिय जन्य उपभोग प्रमाद है।

४. कषाय

कर्मयोग में बाधक तत्व कषाय भी है—क्रोध, मान, माया और लोभ, चार कषाय कहे जाते हैं। इष्ट पदार्थ का योग और उसके सुख की अनुभूति तथा प्रतिकूल पदार्थ का योग और उससे दुख की अनुभूति इन दोनों से कषाय की पुष्टि होती है। बुरे विचारों से, बुरी भावनाओं से, बुरे आचरणों से कषाय के अनेक द्वार खुल जाते हैं। एक बुराई हजारों बुराइयों को पैदा करती है, एक संक्लेश अनेक संक्लेशों को जन्म देता है। एक दु:ख अनेक दु:खों को पैदा करता है।

कोहो पीइं पणासेइ

क्रोध प्रीति का नाश करता है। अतः साधक के भीतर रहने वाला आनन्द का प्रवाह सूख जाता है। क्रोध होने पर मैत्रीभाव समाप्त होता है, शरीर की शक्ति क्षीण होती है, धैर्य समाप्त हो जाता है, निराशा छा जाती है, प्रतिभा नष्ट होती है, चिन्तन शक्ति का ह्रास होता है तथा शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है। नाभि के पास एड्रिनल ग्रन्थि है, जब वह उत्तेजित होती है तो वृत्तियाँ उजागर होती हैं और क्रोध आदि कषाय प्रज्ज्वलित करती है।

५. योग

कर्म योग में बाधक तत्व योग भी है-मन, वचन और काया की चंचलता को योग कहा है। हमारे मन में अनेक विकल्पों का जाल पैदा होता है। इच्छाएँ पूर्ण होवें या न होवें हमारी उससे तृप्ति होवे या न होवे पर इच्छाएँ समाप्त नहीं होती। सम्पूर्ण इच्छाओं का उद्‌गम स्थान मन ही है।

जिस प्रवृत्ति के मूल में राग-द्वेष और मोह की वृत्ति है, वस्तुतः वह प्रवृत्ति भी कर्म रूप क्रिया है। राग और द्वेष के निमित्त से उत्पन्न होने वाली क्रिया राग प्रत्ययिकी और द्वेष प्रत्ययिकी क्रिया है। दशवें गुणस्थान में जीव कषाय की अपेक्षा क्रियाशील है। जहाँ लेश्या है, वहाँ किसी न किसी प्रकार की क्रिया अवश्य है, अतः सलेशी जीव सक्रिय है, योग की अपेक्षा से भी जीव संयोगी है, अतः वह भी सक्रिय है।

"क्रिया और ध्यान"

तेरहवें गुणस्थान की शेष अबस्था में सूक्ष्म काय योग से सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान होता है। यहाँ तक सब ध्यानों में जीव सक्रिय होता है, अर्थात् शुक्लध्यान के तृतीय पाद तक सक्रिय रहता है। चतुर्थ पाद में सर्व क्रियाएं विच्छिन्न हो जाती हैं।

चौथे ध्यान में निमग्न जीव क्रिया रहित होता है। इसीलिए तीसरे ध्यान में तो जीव सूक्ष्म कायिक क्रिया सहित ही रहता है।

"क्रिया का अभाव"

अयोग अर्थात् निरोध क्रिया **"शैलेषीकरण योग निरोधात् नौ एजते"** योग का निरोध होने से शैलेशी अवस्था में ऐर्यापथिक और एजनादि क्रियाएं बन्द हो जाती हैं क्योंकि क्रियाओं का न होना अक्रिया है। कर्म के शोधन से अक्रिया होती है। अक्रिया से निर्वाण अर्थात् कर्मों से मुक्ति होती है, तत्पश्चात् जीव सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है तथा परिनिर्माण को प्राप्त कर सर्व दुःखों का अन्त करता है। सिद्ध-गतिगमन रूप पर्यवसान फल अर्थात् अन्तिम फल को प्राप्त करता है।

संसार समापन्न और असंसार समापन्न के अनुसार जीव सक्रिय और अक्रिय होता है। असंसार समापन्न जीव सिद्ध होते हैं, और वे अक्रिय होते हैं। संसार समापन्न जीव शैलेशी प्रतिपन्न तथा अशैलेषी प्रतिपन्न ऐसे दो प्रकार हैं। शैलेषी प्रतिपन्न ही अक्रिय है।

अतः प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीव सक्रिय हैं। वे प्रतिक्षणं कोई न कोई क्रिया करते रहते हैं, किसी भी क्षण में अक्रिय नहीं होते हैं, अतः सर्व आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन होता ही रहता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग से होने वाली स्थितियाँ

कर्मयोग	ज्ञानयोग
१. कर्म की प्रधानता में कर्म योग।	१. ज्ञान की प्रधानता में ज्ञान योग।
२. आवश्यकादि सत् क्रियाओं की अपेक्षा।	२. इन्द्रिय और मन के शमन की अपेक्षा
३. देशविरति श्रावक धर्म की स्पर्शना	३. सर्वविरति मुनि महात्माओं की स्पर्शना।
४. सावद्य योग की प्रवृत्ति	४. निरवद्ययोग की प्रवृत्ति।
५. स्वर्गादि फल का संकल्प	५. मोक्ष फल का संकल्प।
६. चित्तशोधक रहित	६. चित्त शोधन।
७. कर्मयोग अभ्यास दशा	७. समाधि दशा।
८. स्थान, उर्ण, अर्थ युक्त कर्म योग	८. सालंबन और निरालंबन ध्यान
९. प्रकृष्ट पुण्य कर्मोदपादक कर्मयोग	९. विशिष्ट निर्जरा।

१०. प्रमत्त दशा ।	१०. अप्रमत्त भाव की रमणता ।
११. ध्यान स्वरूप तप की अल्पता ।	११. ध्यान स्वरूप तप से विशुद्धि ।
१२. अतिचार शुद्धिकरण रूप आवश्यकादि क्रिया की आवश्यकता।	१२. अतिचार शुद्धिकरण रूप प्रक्रिया ।

क्रिया योग का स्वरूप

ज्ञान और क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों के संयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। क्रिया योग में ज्ञान की गौणता और क्रिया की प्रधानता होती है, और ज्ञानयोग में क्रिया की गौणता होती है।[५] ज्ञान योग की साधना के लिए क्रियायोग भूमिका स्वरूप है। क्रिया योग के अभ्यास से ही साधक क्रमशः ज्ञानयोग को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। जैसे कनकोपन याने सोने और पाषाण-रूप मल का सम्बन्ध अनादि काल का है और बद्ध कर्म का स्वभाव जीव को रागादि रूप से परिणमाने का है। जैसे कोई व्यक्ति वस्त्र में तेल लगाकर धूल में सुखा दे तो वह धूल वस्त्र में चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि से जब संसारावस्थापन जीव के आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन-हलन-चलन होता है, उस समय अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ सम्बन्ध होने लगता है। जैसे अयोगोलक—अग्नि से संतप्त लोहे का गोला प्रतिसमय अपने सर्वांग से जल को खींचता है, उसी प्रकार संसारी छद्मस्थ जीव अपने मन, वचन, काया की चंचलता से मिथ्यात्व आदि कर्मबन्ध के कारणों द्वारा प्रतिक्षण कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है। दूध-पानी, अग्नि-लोहे का गोला, स्वर्ण-पाषाण आदि का जैसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार का जीव और कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ उन सभी कर्मपुद्गलों में से आवश्यक क्रियायोग को स्वीकार किया गया है। व्यवहार से या निश्चय से आवश्यक कर्मयोग करने पर व्यवहार और निश्चयतः चित्तविशुद्धि होती है ऐसा कारण कार्यभाव की अपेक्षा से कहा गया है। कर्मयोग की साधना से भय, द्वेष, खेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, निन्दा आदि दोषों का नाश होता है।

३. योग एक स्राव है कर्म के बन्धन का

अभ्यास क्रम में

अपने आपको देखो

---

५. अध्यात्मसार-श्लो. ५१८

वृत्ति की प्रवृत्ति सुषुप्त या जागृत,
कर्तृभाव-कर्त्तव्यदृष्टि की भ्रान्ति में,
क्रियमान कर्म में संतुलन,
कर्म से अकर्म में जाने का उपाय।

४. साधना का केन्द्र बिन्दु आश्रव निरोध - संवर

संवर योग

संवर शब्दार्थ

संवर शब्द "सम्" उपसर्गपूर्वक "वृ" धातु से बना है। "सम्" पूर्वक "वृ" धातु का अर्थ रोकना होता है। जिस प्रवृत्ति के द्वारा कर्म के बन्धन को रोका जाय वह "संवर" है। "सु" धातु का अर्थ बहना होता है। अतः "आ-स्रव" का अर्थ कर्मपुद्गलों का आत्मा में बहना ऐसा होता है। कर्मपुद्गलों के इस स्राव का रुंधन ही "संवर" है। जैसे-जैसे आत्मदशा विशुद्ध होती जाती है, वैसे-वैसे कर्मबन्ध अल्प होते जाते हैं। आस्रव का निरोध होता जाता है और गुणस्थान की भूमिका होती जाती है। अतः आस्रव निरोध ही संवर कहा जाता है।

"संव्रियते-निरुध्यते कर्मणः कारणं प्राणातिपातादि येन परिणामेन स संवरः" अर्थात् कर्म के कारण रूप-प्राणातिपातादि का आत्मा के साथ जिस परिणाम विशेष का निरोध होता है, उसे संवर कहते हैं। अथवा **"निरुद्धासवे संवरो"** अर्थात् आत्मा मे जिन कारणों से कर्मों का आना रुक जाता है, उसे संवर कहते हैं।

आस्रव का निरोध होने पर आत्मा में जिस पर्याय की उत्पत्ति होती है, वह शुद्धोपयोग है, इसलिए उत्पाद की अपेक्षा से संवर का अर्थ "शुद्धोपयोग" होता है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में उपयोग का रहना या स्थिर होना संवर योग है।[१] पर्याय की अपेक्षा से यह कथन निश्चयनय का है। उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा में जब जीव का उपयोग रहता है, तब नये विकारी आस्रव का निरोध अर्थात् पुण्य-पाप के भाव रुकते हैं। इस अपेक्षा से संवर का अर्थ नये पुण्य-पाप के भाव का निरोध होता है।

शुद्धोपयोग रूप निर्मल भाव प्रकट होने पर आत्मा में आने वाले नये कर्म रुकते हैं। अतः कर्म की अपेक्षा संवर का अर्थ होता है नये कर्म आस्रव का रुकना। इस प्रकार यहाँ संवरयोग का अर्थ अनेक दृष्टि से हुआ है।

---

१. समयसार श्लोक १८१

संवर की परिभाषा

कुंदकुंदाचार्य के अनुसार संवर की व्याख्या इस प्रकार मिलती है कि—भेद विज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष और मोह का अभाव होता है, ऐसा लक्षण जिसका है, उसे संवर कहते हैं ।[२]

द्रव्यसंग्रह सटीक के अनुसार कर्मों के आस्रव को रोकने में समर्थ स्वानुभव में परिणत जीव के जो शुभ तथा अशुभ कर्मों के आने का निरोध है, वह संवर है ।[३]

इस प्रकार आत्मा का शुद्ध पर्याय होने पर आस्रव का निरोध होता है तथा आत्मविजय की प्राप्ति से संवर तत्व उत्पन्न होता है। यह संवर रूप ज्योति अर्थात् पररूप से भिन्न स्व सम्यक् स्वरूप में निश्चल रूप से प्रकाशमान, चिन्मय, उज्ज्वल और निज रस से परिपूर्ण हो जाती है तब उसे संवर कहते हैं ।[४]

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में बारह अनुप्रेक्षाओं का उल्लेख मिलता है, उनमें संवर को अनुप्रेक्षा भी कहा है,[५] वहाँ पंडित उग्रसेन कृत टीका पृष्ठ २१८ में संवर का अर्थ इस प्रकार प्राप्त होता है। जैसे—

जिन पुण्य पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चितदीना,
तीन ही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥

अर्थात् जो साधक पुण्य-पाप से पर होकर स्वानुभव में स्थित होता है, वह साधक आने वाले कर्मों को रोकता है और संवर की प्राप्ति करवाता है। द्रव्य और भाव संवर के आधार पर जयसेनाचार्य ने भी अपना मंतव्य प्रस्तुत किया है—

अत्र शुभाशुभ संवर समर्थः
शुद्धोपयोगो भाव संवरः,
भाव संवराधारेण नवतर कर्म निरोधो द्रव्य संवर इति तात्पर्यार्थः[६] **।**

यहाँ शुभाशुभ भाव को रोकने में समर्थ जो शुद्धोपयोग है वह भाव संवर है, भाव संवर के आधार पर नवीन कर्मों का निरोध होना द्रव्य संवर है।

---

२. समयसार/आ./१८३/क. १२६
३. द्रव्यसंग्रह/टीका/२८/८५/१२
४. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गा. २०५
५. *पंचास्तिकाय गा. १४२ की टीका*
६. *पंचास्तिकाय गा. १४४ की टीका*

श्री अमृतचन्द्राचार्य ने संवर की परिभाषा को अनेकान्त की अपेक्षा से प्रस्तुत किया है–

"शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः शुद्धोपयोगः"

शुभाशुभ परिणाम के निरोध से जो संवर होता है, वह शुद्धोपयोग है।"[७] इस प्रकार संवर से आस्रव का निरोध होता है, तथा आस्रव बंध का कारण होने से संवर होने पर बन्ध का भी निरोध होता है।[८]

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में कहा है कि शुद्धात्मा को जानने और अनुभव करने वाला जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है, और अशुद्ध आत्मा को जानने एवं अनुभव करने वाला जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त होता है।[९] इस प्रकार आत्मा का जो भाव ज्ञान दर्शन रूप उपयोग को प्राप्त कर योगों की क्रिया से विरक्त होता है, और नवीन कर्मों के आस्रव को रोकता है, वह संवर तत्व है। शुभाशुभपरिणामनिरोध रूप संवर और शुद्धोपयोग रूप योगों से संयुक्त भेदविज्ञानीजीव अनेक प्रकार के अंतरंग बहिरंग सद् असद् अनुष्ठान तथा तप द्वारा उपाय करता है इससे निश्चय ही अनेक कर्मों की निर्जरा होती है।[१०] राग-द्वेष मोह रूप जीव के विभाव का न होना और दर्शन ज्ञान रूप चेतन भाव का स्थिर होना संवर है, यह ज़ीव का निजी स्वभाव है। इससे पुद्गल कर्मजनित भ्रमण दूर होता है और कर्म की निर्जरा एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।[११]

जितना प्रमाण सम्यग्दर्शन का होता है, उतना ही प्रमाण संवर का होता है, और जितना प्रमाण राग-द्वेष का होता है, उतना प्रमाण बन्ध का होता है। इस प्रकार ज्ञान और चारित्र के प्रमाणानुसार संवर का प्रमाण होता है।[१२]

संवर धर्म है, जीव जब सम्यग्दर्शन प्रगट करता है तब संवर प्रारम्भ होता है, सम्यग्दर्शन के बिना कभी भी यथार्थ संवर नहीं होता। सम्यग्दर्शन प्रकट करने के लिये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव तत्वों का स्वरूप यथार्थरूप से जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद जीव के आंशिक वीतरागभाव और आंशिक

---

७. श्लोकवार्तिक संस्कृत टीका २ पृष्ठ-४८६
८. समयसार गा. १८६
९. पंचास्तिकाय-गा. १४४
१०. अष्ट पाहुड–भावप्राभृत–गा. ११४
११. अष्ट पाहुड–भावप्राभृत–गा. ११४
१२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गा. २१२ से २१४

सरागभाव होता है, वहाँ ऐसा समझना कि वीतराग भाव के द्वारा संवर होता है और सरागभाव के द्वारा बंध होता है।

कई आचार्य अहिंसा आदि शुभास्रव को संवर मानते हैं। किन्तु यह भूल है। शुभास्रव से तो पुण्यबंध होता है। जिस भाव द्वारा बंध हो उसी भाव के द्वारा संवर नहीं होता। किन्तु आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है उतने अंश में संवर है और बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है, जितने अंश में सम्यग्ज्ञान है उतने अंश में संवर है, बंध नहीं तथा जितने अंश में सम्यक्चारित्र है उतने अंश में संवर है, बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध है।[१३]

इस विषय में प्रश्न उपस्थित होता है कि सम्यग्दर्शन संवर है और बन्ध का कारण नहीं तो फिर सम्यक्त्व को भी देवायुकर्म के आस्रव का कारण क्यों कहा ? तथा दर्शन विशुद्धि से तीर्थंकर कर्म का आस्रव होता है ऐसा क्यों कहा ?

इसका अभिप्राय यही है कि तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त होता है और तीन प्रकार के सम्यक्त्व की भूमिका में यह बन्ध होता है। वास्तवं में (भूतार्थनय से-निश्चयनय से) सम्यग्दर्शन स्वयं कभी भी बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु इस भूमिका में रहे हुए राग से ही बन्ध होता है। तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण भी सम्यग्दर्शन स्वयं नहीं, परन्तु सम्यग्दर्शन की भूमिका में रहा हुआ राग बन्ध का कारण है। जहाँ सम्यग्दर्शन को आस्रव या बंध का कारण कहा हो वहाँ मात्र उपचार (व्यवहार) से कथन है ऐसा समझना, इसे अभूतार्थनय का कथन भी कहते हैं। सम्यग्ज्ञान के द्वारा नयविभाग के स्वरूप को यथार्थ जानने वाला ही इस कथन के आशय को अविरुद्ध रूप से समझता है।

निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव के चारित्र की अपेक्षा से दो प्रकार हैं- सरागी और वीतरागी। उनमें से सराग-सम्यग्दृष्टि जीव राग सहित हैं। अतः राग के कारण उनके कर्म प्रकृतियों का आस्रव होता है और ऐसा भी कहा जाता है कि इन जीवों को सरागसम्यक्त्व है, परन्तु यहाँ ऐसा समझना कि जो राग है वह सम्यकत्व का दोष नहीं किन्तु चारित्र का दोष है। जिन सम्यग्दृष्टि जीवों को निर्दोष चारित्र हैं उनको वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है, वास्तव में ये दो जीवों को सम्यग्दर्शन में भेद नहीं किन्तु चारित्र के भेद की अपेक्षा से ये दो भेद हैं। जो सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र के दोष सहित हैं उनको सराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है और जिस जीव को निर्दोष चारित्र है उनके वीतराग सम्यक्त्व है ऐसा कहा जाता है। इस तरह चारित्र की सदोषता या

---

१३. देखिए पुरुषार्थ सिद्धयुपाय गाथा २१२ से २१४

निर्दोषता की अपेक्षा से ये भेद हैं। सम्यग्दर्शन स्वयं संवर है और यह तो शुद्ध भाव ही है। इसीलिये यह आस्रव या बंध का कारण नहीं है।

संवर साधना और प्रक्रिया

कर्म का केन्द्र बिन्दु है आस्रव और साधना का केन्द्र बिन्दु है संवर। अनन्त काल से आस्रव में घिरा हुआ साधक घोर अंधकार में सोया है उसे पता ही नहीं कि प्रकाश का द्वार कहाँ है। आस्रव और संवर दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। जहाँ आस्रव होता है वहाँ संवर नहीं रहता, जहाँ संवर होता है वहाँ आस्रव नहीं टिकता। आस्रव अंधकार है, संवर प्रकाश। जैसे-जैसे अंधकार टूटता है, प्रकाश छा जाता है। प्रकाश के रहने पर अंधकार को अवकाश नहीं। राग-द्वेष को स्थान नहीं। संवर प्रकाश है। निरावरण चैतन्य का अनुभव है। निरावरण सम्यक् की साधना है। सम्यक् साधना ही संवर साधना है। संवर की साधना शांति की साधना है। निर्विकल्प की साधना है। सूक्ष्म साधना है, शुभयोग की साधना है, स्वाधीनता की साधना है।

संवर बीज रूप से तो स्वतः सभी भव्यात्मा में विद्यमान है, किन्तु जब व्यक्ति भोग्य पदार्थों में आबद्ध हो जाता है तब आसक्ति, लोभ, मोह आदि विकारों में बदल जाता है। जैसे नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विकृत हो जाता है और अनेक विषैले कीटाणु पैदा करता है। इसी प्रकार आस्रव चारों ओर से संवर को घेरता है और विषैले कीटाणुओं को फैलाता है। इस विकृति का नाश करने के लिए प्रायोगात्मक उपाय ही आवश्यक हैं।

संवर के क्षेत्र में चार प्रक्रिया समर्थ हैं—त्याग, वैराग्य, पश्चाताप, प्रायश्चित्त। इन्द्रियों की विजय, शब्द रूप, रस, गंध आदि विषयों के त्याग से है। त्याग संवर की प्रक्रिया है। वैराग्य-त्याग करने पर जो संज्ञाएँ जागृत हैं उन पर वैराग्य होता है। जैसे उपवास आहार के त्याग से होता है, किन्तु पश्चात्ताप आहार के स्वाद से किये हुए पापों का होता है। पाप करना बुरा है किन्तु पाप होने के पश्चात् पश्चात्ताप न होना महापाप है। स्वस्वरूप को छोड़कर राग-द्वेष की प्रक्रिया पाप है। राग-द्वेष के अनुभव से संक्लेश के तंतु जुड़े हुए हैं, इस तंतु को तोड़ने के लिए पश्चाताप ही एक साधना है, पश्चाताप ही एक संवर है। पश्चाताप होने पर ही प्रायश्चित होता है। संकल्प करें कि राग-द्वेष जिससे पैदा होवें वैसी प्रक्रिया न करना प्रायश्चित संवर है।

संवर के कारण

तीन गुप्ति, पांच समिति, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाबीस परीषहजय और पाँच चारित्र इन छह कारणों से संवर होता है। जिस जीव के सम्यग्दर्शन होता है उसके ही संवर के ये छह कारण होते हैं।

४. योग एक पद्धति है,
संवर में जाने की
अभ्यास क्रम में
वृत्ति शोधन का उपाय समझो
काम, क्रोध आदि विषय-कषाय का प्रतिकार
गलत आदतों पर नियन्त्रण
क्रिया-प्रतिक्रिया से अक्रिया
निवृत्ति की साधना विकल्पों का शोधन ।

५. आचार संविधा का प्राण विधानों में

आज्ञा योग

जैन वाड्.ग्मय में जैन आचार विधानों में आज्ञायोग का स्थान अपूर्व है। जैनागमों में धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान को मोक्ष का हेतु माना गया है। आज्ञायोग धर्मध्यान के चार भेदों (आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय) में प्रथम हैं।[१] अतः जैन वाड्.ग्मय में आज्ञायोग का स्थान सर्वोपरि है, सर्वोत्तम , एवं मोक्ष सिद्धि का परम उपाय रूप है।

आज्ञायोग क्या है ?

आज्ञायोग याने जिनेश्वर भगवन्त का जिनवचन, जिनागम या जिनाचार का भाव युक्त बहुमान, आदर, सत्कार और पुरस्कार। आज्ञा बहुमान का बाह्यलिंग आचार विधि है। जिन आज्ञा विधि और उसका विशुद्ध अनुष्ठान ही निरतिचार आज्ञापालन है।

विशेषावश्यक भाष्य में अनुष्ठान को ही आज्ञा कहा है।[२] अनुष्ठान, आदेश, निर्देश, कर्त्तव्य, आचारविधि इत्यादि आज्ञा के ही पर्यायवाची शब्द हैं।

"आज्ञायोग की चिन्तन-विधि"

यथाशक्य आज्ञा जिनवचन का बहुमान शुभ धर्मध्यान रूप अनुष्ठान है। वीतराग भगवन्तों से प्ररूपित आगमानुसार पदार्थों का निश्चय करना, श्रवण करना, चिन्तन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।[३]

साधु जीवन आचार विधि का प्राण है। आचार विधि युक्त सदनुष्ठान से चारित्र

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र–९/३७
 (ख) ज्ञानार्णव श्लोक ५ पृ. ३३७, सर्ग ३३
 (ग) आवश्यक निर्युक्तेखचूर्णि पृ. ८०
 (घ) योग शास्त्र दशम प्रकाश श्लो. ७ पृ. २५, ६
 (ङ) अध्यात्मसार श्लोक ३६ पृ. ३५३
 (च) शास्त्रवार्ता समुच्चय–९/२०

२. अभिधान राजेन्द्रकोष पृ. १३०

३. ज्ञानार्णव–सर्ग ३३ श्लोक ८

मोहनीय कर्म के क्षयोपक्षम के अभाव में छठवाँ गुणस्थान संभवित नहीं। चरित्र मोहनीय के क्षयोपशम से वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होता है, क्योंकि इन दोनों का अविनाभावी सम्बन्ध है। जिन-आज्ञा विधि युक्त आचार से सम्पूर्ण पाप वृत्ति रूप विष का नाश होता है। जैसे बाह्य विष भयंकर होने पर भी विधियुक्त मन्त्र जप से निष्फल होता है, उसी तरह अविधि से उत्पन्न कर्म का अनुबन्ध आज्ञा योग से ही हटाया जा सकता है। विधियुक्त आलोचना–प्रायश्चित्त इत्यादि अनुष्ठानों का समावेश भी आज्ञायोग में हो जाता है। ध्यानशतक में जिनेश्वर भगवन्तों की आज्ञा चिन्तन विषयक तेरह विशेषण बताये हैं। जैसे–

(१) सुनिपुण, (२) अनादिनिधन, (३) भूतहिता, (४) भूतभावना, (५) अनर्घ्य, (६) अमिता, (७) अजिता, (८) महत्त्व, (९) महानुभाव, (१०) महाविषय, (११) निरवघ, (१२)अनिपुण दुर्ज्ञे और (१३) नयभंग[४]

योगशास्त्र में सर्वज्ञों की आज्ञा को ही सर्वोपरि मानकर उसका तात्त्विक रूप से अर्थों का चिन्तन करना आज्ञा ध्यान कहा गया है, क्योंकि सर्वज्ञ की आज्ञा तर्क एवं युक्तियों से अबाधित, पूर्वापर विचारों से अविरोधी, सूक्ष्मतास्पर्शी एवं असत्य भाषण रहित होती है।[५]

"आज्ञा योग ही धर्म है"

आज्ञायोग याने आगम युक्त विधि का धर्मयोग। शासन मान्य विधि युक्त धर्म से किया हुआ समस्त अनुष्ठान आज्ञायोग है। समस्त विभाग से आत्मा को व्यावृत्त कर स्वभाव में अनुरक्त होना जिन भगवन्त की प्रमुख आज्ञा है। आज्ञायोग का प्रमुख सूत्र है **"आणाएधम्मो आणाए तवो"** आज्ञा ही धर्म है और आज्ञा ही तप है। जिन आज्ञा का आराधन सिद्ध पद का सर्वश्रेष्ठ उपाय है और विराधन संसार का हेतु है। आज्ञा को ही श्रीमद् राजचन्द्र जी ने परम् पुरुष की प्रमुख भक्ति कहा है। इसी प्रकार जिन भगवन्तों ने हेय स्वरूप आश्रव और उपादेय स्वरूप संवर को भी शाश्वत आज्ञा का स्वरूप दिया है। वीतराग स्तव में श्री हेमचन्द्राचार्य ने आज्ञा को "आर्हती मुष्टिका" विशेषण दिया है। आश्रव से बन्ध और संवर से मोक्ष रूप "आर्हती मुष्टि" रूप आज्ञा की आराधना, उपासना और साधना में तत्पर तन्निष्ठ ऐसे अनन्तजीव अतीत में परिनिवृत्त हुए हैं, वर्तमान में क्षेत्र पर्यायानुसार परिनिर्वाण मोक्ष को प्राप्त कर रहे हैं, और अनागत काल

---

४. ध्यानशतक श्लोक ४५/४ पृ. १४४

५. योगशास्त्रश्लोक–८/९ पृ. २५७ दशम प्रकाश

में निर्वाण को प्राप्त करेंगे। यह नियम सत्य है।[६] "जिन वचन की आज्ञा का आराधक" अन्तर्मुहूर्त में कैवल्यज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार क्षीणमोह पर्यन्त सर्वज्ञ की आज्ञा का अवलम्बन आवश्यक है। अतः कर्म रूपी कैद से मुक्त होने के लिये आज्ञा ही सर्वोत्तम है।[७]

"जिनाज्ञा ज्ञेय स्वरूप में विरोधी पाँच हेतु"

१. मतिदौर्बल्यता अर्थात् बुद्धि की जड़ता हो या मन की विक्षिप्त दशा हो,

२. दोनों स्थिति में उपदेश श्रवण करते समय मन में सम्यक् अवधारणा नहीं होती,

३. अगर जड़ बुद्धि न हो तो भी विक्षिप्त और यातायात दशा होने से सम्यक् भाव की परिणति नहीं होती।

४. बुद्धि हो किन्तु तथाविध आज्ञार्थ का अभाव हो तो यर्थाथ बोध का प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

५. यदि बुद्धि एवं यथार्थ दोनों की संप्राप्ति हो किन्तु ज्ञेय की गहनता हो तब भी यथार्थ बोध नहीं होता है।

विधि सेवन से लाभ

जिनेश्वर भगवन्त अचिन्त्य चिन्तनीय है[८] अतः उनकी आज्ञा को मान्य करने वाला, धर्म का आदर करने वाला, विधि तत्पर और उचितवृत्ति वाला है।[९] धर्म के प्रति बहुमान होने पर ही विधि तत्परता पर श्रद्धा होती है। क्योंकि विधि प्रयोग भाव प्रधान है, श्रद्धा का सम्बन्ध संवेगादि शुभ आत्मपरिणामस्वरूप की पुष्टि करता है। तात्पर्य यह है कि वह धर्म का अनुरागी हो अर्थात् अन्य पुरुषार्थ की अपेक्षा धर्म की प्रधानता रखता हो तभी वह धर्माचरण में उपयोगी, अच्छा संवेग संभ्रमादि भावोल्लासी हो सकता है। भावोल्लास के सद्भाव से अर्थात् विधियुक्तता से उचित वृत्ति संभव है। विधि के अभाव में उचित वृत्ति का भी अभाव होता है। अर्थात् इस लोक सम्बन्धी ही नहीं, परलोक में अहित होने से कृत्य करने वालों का दूर से ही परित्याग करना चाहिए।[१०] आज्ञा का बहुमान करने से त्रिभुवन गुरु श्री अरिहन्त परमात्मा का सच्चा

---

६. वीतराग स्तव श्लोक ४ से ७, पृ. ३५१ से ३५८

७. वही ८, पृ. ३५९

८. सिद्धसेन दिवाकर कृत सक्रस्तव

९. ललित विस्तरा पृ. १३

१०. ललित विस्तरा पंजिका पृ. १५

बहुमान होता है, लोक संज्ञा का परित्याग होता है और वास्तविक धर्म का आचरण होता है। अतः जिनाज्ञासुसारिता में धर्मानुराग सुरक्षित रहता है।[११]

"अविधि के सेवन से महाअकल्याण"

विधिवत् सम्यक्त्व का आसेवन करने वाले महाकल्याण को प्राप्त होते हैं, किन्तु अविधि के आसेवन से अनधिकारी जीव महत् अकल्याण को प्राप्त होते हैं। अविधि से अनुष्ठान करने वाले पक्षपाती स्व मत की पुष्टि हेतु अपना प्रस्ताव रखते हैं कि अविधि से होने वाले अनुष्ठान से तीर्थ का रक्षण होता है। यह असत् आलम्बन है क्योंकि अविधि युक्त धर्मानुष्ठान करने से मृषावाद का पाप और शुद्ध क्रिया का लोप, उभय हानि होती है। विपरीत विधि से अशुद्धता की वृद्धि, सूत्रोक्त क्रिया का अभाव, अतिक्रम, अतिचार और अनाचार का आसेवन इत्यादि दोष भी उपस्थित होते हैं।

आज्ञा विराधन अनुष्ठान में स्वेच्छा से प्रवृत्ति करने पर उस महाविधि की लघुता होती है। इससे पूज्य की पूजा स्वरूप शिष्टाचार का परित्याग होता है। अर्थात् अर्हन्त भगवन्त का सर्व आदेश शिरोधार्य करना यही शिष्ट पुरुषों का आचार है, उसका लोप होता है। फलतः दूसरे उपाय से भी संभावित ऐसे जो शुभ अध्यवसाय और इससे जनित विशिष्ट कर्म क्षय एवं कल्याण स्वरूप इष्ट फल, उनकी सिद्धि की भी अवश्य रुकावट हो जाती है। आज्ञा भंग से कल्याणकारी वास्तविक शुभ अध्यवसाय की भूमिका ही नष्ट प्रायः हो जाती है।

पूर्वधर महात्माओं ने आत्महितार्थ धर्मानुष्ठान का उपदेश दिया है। उसका विनाश या अशुद्ध व्यवहार से अधर्म की वृद्धि और उससे महामोह कर्म का जो अनुबन्ध होता है उससे भी अविधि के उपदेशकर्त्ता महान् दोष के पात्र होते हैं। उत्सूत्र प्ररूपणा शरणागत का शिरोच्छेद्वत् है।[१२] "लोक एवं प्रमाणम्" इस उक्ति के अनुसार जो लोक संज्ञा गतानुगतिक प्रेरणा है, यह भी हानिप्रद है। क्योंकि जहाँ तक सर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्तों का रहस्य गीतार्थों से ज्ञेय नहीं तब तक विधि युक्त अनुष्ठान उपादेय नहीं हो सकता[१३]

जो शिथिलाचारी गुरु भोले शिष्यों को धर्म के नाम से अपने जाल में फंसाते हैं और अविधि (शास्त्रविरुद्ध) धर्म का उपदेश करते हैं उनसे जब कोई शास्त्रविरुद्ध उपदेश न देने के लिये कहता है तब वे धर्मोच्छेद का भय दिखाकर उद्धत हो बोल

११. ललित विस्तरा पंजिका पृ. १८
१२. योगविंशिका गा. १४/१५ षोडषक १० गा. १४/१५
१३. योगविंशिका गा. १६

उठते हैं ''जैसा चल रहा है वैसा चलने दो, वैसा चलते रहने से ही धर्म टिक सकेगा। बहुत विधि (शास्त्रअनुकूलता) का ध्यान रखने में शुद्ध क्रिया तो दुर्लभ ही है, अशुद्ध क्रिया भी जो चल रही है वह छूट जायेगी और अनादिकालीन अक्रियाशीलता (प्रमाद्वृत्ति) स्वयं लोगों पर आक्रमण करेगी, जिससे धर्म का नाश होगा। ''इसके सिवाय वे अपने अविधि मार्ग के उपदेश का बचाव यह कहकर भी करते हैं कि ''जैसे धर्मक्रिया नहीं करने वाले के लिए हम उपदेशक दोषभागी नहीं होते। क्योंकि हम तो क्रियामात्र का उपदेश देते हैं, जिससे कम से कम व्यावहारिक धर्म तो चालू रहता है और इस तरह हमारे उपदेश से धर्म का नाश होने के बदले धर्म की रक्षा ही हो जाती है।''

ऐसा निरर्थक बचाव करने वाले उन्मार्गगामी उपदेशक गुरुओं से ग्रन्थकार कहते हैं कि एक व्यक्ति की मृत्यु स्वयं हुई हो और दूसरे व्यक्ति की मृत्यु किसी अन्य के द्वारा हुई हो इन दोनों घटनाओं में बड़ा अन्तर है। पहली घटना का कारण मरने वाले व्यक्ति का कर्म मात्र है, इससे उसकी मृत्यु के लिए दूसरा कोई दोषी नहीं है। परन्तु दूसरी घटना में मरने वाले व्यक्ति के कर्म के उपरान्त मारने वाले का दुष्ट आशय भी निमित्त है, इससे उस घटना का दोषी मारने वाला भी है। इसी तरह जो लोग स्वयं अविधि से धर्मक्रिया कर रहे हैं उनका दोष धर्मोपदेशकर्ता पर नहीं है, पर ज़ो लोग अविधिमय धर्मक्रिया का उपदेश सुनकर उन्मार्ग पर चलते हैं उनकी जवाबदारो उपदेशक पर अवश्य है। धर्म के जिज्ञासु लोगों को अपनी क्षुद्रस्वार्थवृत्ति के लिए उन्मार्ग का उपदेश करना वैसा ही विश्वासघात है जैसा शरण में आये हुए का सिर काटना। जैसा, चल रहा है ऐसा चलने दो यह दलील भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी अपेक्षा रखने से शुद्ध धर्मक्रिया का लोप हो जाता है।

विधि-मार्ग के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहने से कभी किसी एक व्यक्ति को भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोक में अमारीपटह बजवाने की सी धर्मोन्नति हुई समझना चाहिए अर्थात् विधिपूर्वक धर्मक्रिया करने वाला एक व्यक्ति भी अविधिपूर्वक धर्मक्रिया करने वाले हजारों लोगों से अच्छा है।

अनार्यों से आर्य थोड़े हैं, आर्यों में भी जैनों की संख्या कम है। जैनों में भी शुद्ध-श्रद्धा वाले कम हैं और उनमें भी शुद्ध चारित्रवाले कम हैं। और कोई शुद्ध चारित्र वाले में भी समभावी अत्यन्त अल्प होते हैं।

क्रिया बिल्कुल न करने की अपेक्षा कुछ न कुछ क्रिया करने को ही शास्त्र में अच्छा कहा गया है, इसका मतलब यह नहीं कि अविधि मार्ग में ही प्रवृत्ति करने लगना। अगर असावधानीवश कुछ भूल हो जाये तो उस भूल से डरकर विधि मार्ग को

ही नहीं छोड़ देना चाहिए किन्तु भूल सुधारने की कोशिश करते रहना चाहिए। प्रथमाभ्यास में भूल हो जाना सम्भव है पर भूल सुधार लेने की दृष्टि तथा प्रयत्न हो तो वह भूल भी वास्तव में भूल नहीं है। इसी अपेक्षा से अशुद्धक्रिया को भी शुद्ध क्रिया का कारण कहा गया है। जो व्यक्ति विधि का बहुमान न रखकर अविधि क्रिया करता है उसकी अपेक्षा नहीं करने वाला किन्तु विधि के प्रति बहुमान रखनेवाला, श्रेष्ठ है।[१४]

४. योग एक विधान है परमात्मा की आज्ञा का
स्व निरीक्षण की क्षण
अभ्यास क्रम में
अनुशासन दूसरों की अपेक्षा अपने पर,
आज्ञा सबके लिए समान है,
सत्य की खोज आज्ञा विधि से,
आंतरिक मलिनता का विशोधन।
आज्ञायोगवत् लेना।

---

१४. पातञ्जल योग वृत्ति—पृ. १२६-१३२

६. तनाव मुक्ति का परम उपाय:आंतरिक दोषों की आवश्यक आलोचना

आवश्यक योग

प्रत्येक आवश्यक अनुष्ठान को योगियों ने योग क्रिया कहा है। आवश्यक प्रक्रियाओं से योग सिद्ध हो सकता है। इसलिए ही साधुओं को यह क्रिया सुबह-शाम अनिवार्य रूप से अवश्य करनी पड़ती है। शास्त्र में भी ऐसा विधान है कि प्रथम और चरम तीर्थंकर के साधु आवश्यक योग क्रिया नियम से करें। अतएव यदि वे उस आज्ञा का पालन न करें तो साधु पद के अधिकारी ही नहीं समझे जा सकते।

"आवश्यक" किसे कहते हैं ?

अवश्य करणाद् आवश्यकम्। जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसी को आवश्यक" कहते हैं।

आवश्यक के पर्याय

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के पर्याय शब्द प्राप्त होते हैं जैसे–आवश्यक, अवश्य करणीय, ध्रुव-निग्रह विशोधि, अध्ययन षट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग इत्यादि।[१]

अनुयोग द्वार सूत्र में कहा है कि भाव आवश्यक में रहने वाला साधक अंतर्दृष्टि में स्थित, व्यवहार से पर, अध्यात्म में लीन, समभाव में आसीन रहता है। अन्तर्दृष्टि वाले साधक वंदन, नमस्कार आदि गुणों से गुणानुरागियों की स्तुति प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार भाव आवश्यक करने वाले अन्तर्आत्म योगी बार-बार ध्यानकायोत्सर्ग आदि अनुष्ठानों में क्रियान्वित रहते हैं। ध्यान द्वारा चित्त शुद्धि करते हुए वे आत्मस्वरूप में विशेषतया लीन हो जाते हैं। भावआवश्यक का स्वरूप अनुयोगद्वार सूत्र में इस प्रकार है–

"जं णं" इमे समणो वा समणी वा सावओं वा साविया वा लोगुत्तरियं भावावस्सयं"

अनुयोगद्वार सूत्र में और भी आवश्यक सूत्र के छ: प्रकार दर्शाये हैं–सामाइयं, चउवीसत्थओं, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र २६. भा. १ पृष्ठ १७८

१. **सामायिक**—समभाव, समता।

२. **चतुर्विंशतिस्तव**—वीतराग देव की स्तुति।

३. **वन्दन**—गुरुदेवों को वंदन।

४. **प्रतिक्रमण**—संयम में लगे हुए दोषों की आलोचना।

५. **कायोत्सर्ग**—शारीरिक ममत्व का त्याग।

६. **प्रत्याख्यान**—आहारादि की आसक्ति का त्याग।

१. सामायिक योग—सम् उपसर्गपूर्वक गति अर्थवाले इण् धातु से समय शब्द होता है। सम का अर्थ एक ही भाव और यिक का अर्थ गमन है। एक ही भाव रूप बाह्य परिणति से विमुख होकर आत्मा के समीप आना समय कहा जाता है और समय का भाव सामायिक[२]। सामायिक करने वाला साधक-राग और द्वेष के वश न होकर समभाव-माध्यस्थ भाव में स्थिर रहता है, अर्थात् सबके साथ आत्मतुल्य व्यवहार करता है।[३] ऐसी सामायिक को हम तीन स्वरूप में देख सकते हैं – १. सम्यक्त्व सामायिक, २. श्रुतसामायिक और ३. चारित्र सामायिक। तीनों प्रकार की सामायिक से समभाव में स्थित रहा जा सकता है। चारित्र सामायिक भी अधिकारी की अपेक्षा से देश और सर्व में दो प्रकार के हैं। देश सामायिक चारित्र-गृहस्थों को और सर्व सामायिक चारित्र-साधुओं को होता है।[४] समता, सम्यक्त्व शान्ति सुविहित आदि शब्द सामायिक के पर्याय हैं।[५]

२. चतुर्विंशतिस्तव योग—चौबीस तीर्थंकर, जो कि सर्वगुणसम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति-कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है। इस आवश्यक के द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद हैं। तीर्थंकरों की पूजा अर्चना आदि द्रव स्तव है और उनके वास्तविक गुणों का कीर्तन आदि भावस्तव है।[६] भावस्तव द्वारा साधक के अहंभाव का नाश होता है, सद्गुणों के प्रति अनुराग होता है, और पाप कर्मों से उन्मुक्त होता है।

३. वंदन योग—मन, वचन और काया द्वारा पंच अंग से प्रणाम करना वंदन है। वंदन द्वारा पूज्यों के प्रति बहुमान प्रगट किया जाता है। आगमों में वंदन के चिति-कर्म, कृति-कर्म पूजा-कर्म आदि पर्याय प्रसिद्ध है।[७]

---

२. सर्वार्थसिद्धि—७-११
३. आवश्यक वृत्ति—पृ. ५३
४. आवश्यक निर्युक्ति—७९६
५. आवश्यक वृत्ति—पृ. ४९२
६. आवश्यक निर्युक्ति—गा. ११०३
७. आवश्यक निर्युक्ति—गा. ११०६

जैन धर्मानुसार द्रव्य और भाव, उभय चारित्र सम्पन्नमुनि, त्यागी, वैरागी, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर तथा गुरुदेव आदि वंदनीय हैं।[८]

४. प्रतिक्रमण योग—"प्रतीपं क्रमण प्रतिक्रमण", अयमर्थः — शुभ योगेभ्यो ऽशुभ योगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमाणात्प्रतीपः क्रमणम्।[९] हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र के **तृतीय प्रकाश** की सोपज्ञवृत्ति में एक व्युत्पत्ति है।

शुभ योग से अशुभ योग में पहुँचने पर पुनः शुभ योग प्राप्त करना प्रतिक्रमण कहा जाता है।[१०]

द्वितीय व्याख्या में आचार्यश्री ने प्रतिक्रमण का भाव इस प्रकार बताया है कि—रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्ग है। क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौटता है तो वह भी प्रतिफल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहा जाता है।

तीसरी व्याख्या में भी अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर प्रत्येक शुभ योग में प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के प्रतिवरण, परिहरण, करण, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शोधित इत्यादि समानार्थक शब्द हैं।[११] इसी आवश्यक निर्युक्ति में इन शब्दों के भावों को आत्मसात करने हेतु समझाया गया है।[१२]

५. कायोत्सर्ग योग—प्रतिक्रमण आवश्यक के पश्चात् कायोत्सर्ग[१३] का स्थान है। कायोत्सर्ग शब्द दो शब्दों के योग से बना है—इसमें काय और उत्सर्ग ये दो शब्द हैं।

---

८. आवश्यक निर्युक्ति—गा. ११९५
९. योगशास्त्र तृतीय प्रकाश वृत्ति देखना।
१०. आवश्यक निर्यक्ति—गा. ५५३
११. आवश्यक सूत्र—पृ. ५५३
१२. आवश्यक निर्युक्ति—गा. १२४२
१३. इसमें साधक कुछ समय के लिए शरीर को स्थिर कर, जिन मुद्रा धारण करके खड़ा हो जाता है, और मन में संकल्प करता है कि—तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित करणेणं, विसोही करणेणं विसल्ली करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं। अर्थात् संयम जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आत्मा को विशुद्ध करने के लिए, शल्य रहित करने के लिए, पाप कर्मों का निर्धात उन्हें नष्ट करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूँ इत्यादि।

कायोत्सर्ग द्वारा साधक अपनी भूलों के लिए प्रायश्चित्त करता है, मन में पश्चाताप करता है और शरीर की ममता को त्याग कर उन दोषों को दूर करने के लिए कृत संकल्प बनता है।

दोनों का मिलकर अर्थ होता है काया की ममता का त्याग। देह का नहीं किन्तु देहबुद्धि का विसर्जन करना कायोत्सर्ग का उद्देश्य है।

कायोत्सर्ग से प्राप्त लाभ

कायोत्सर्ग से शारीरिक और बौद्धिक जड़ता दूर होती है। सप्त धातुओं में अनेक धातुओं की विशेषता विनष्ट होती है। संकल्प शक्ति दृढ़ होती है। विकल्पों से विमुक्ति होती है। अनुकूल और प्रतिकूल वातावरण में समभाव की शक्ति प्रकट होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव जागृत होते हैं। भावना और ध्यान का अभ्यास भी कायोत्सर्ग से ही पुष्ट होता है। अविचार का चिन्तन भी कायोत्सर्ग से विशुद्ध होता है। इस प्रकार देखा जाय तो कायोत्सर्ग बहुत महत्त्व की क्रिया है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पांच फल बताये हैं—

(१) **दैहिक जड़ता की शुद्धि**—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष मिट जाते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होने वाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है।

(२) **बौद्धिक जड़ता की शुद्धि**—कायोत्सर्ग में चित्त एकाग्र होता है और बौद्धिक जड़ता नष्ट होती है।

(३) **सुख-दुख तितिक्षा**—सुख-दुख सहने की शक्ति प्राप्त होती है।

(४) **शुद्ध भावना** का अभ्यास होता है।

(५) **ध्यान की योग्यता** प्राप्त होती है।

६. **प्रत्याख्यान आवश्यक**—आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—प्रत्याख्यान करने से संयम होता है, संयम से आस्रव-निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का नाश होता है। तृष्णा के नाश से अनुपम उपशमभाव अर्थात माध्यस्थ परिणाम होता है और अनुपम उपशमभाव से प्रत्याख्यान की शुद्धि होती है।[१४] उपशमभाव से चारित्र धर्म प्रगट होता है, चारित्र धर्म से कर्मों की निर्जरा होती है और उससे अपूर्वकरण प्राप्त होता है। अपूर्वकरण से कैवल्य ज्ञान और कैवल्य ज्ञान से शाश्वत सुख रूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।[१५]

६. योग का निरोध अयोग की पृष्ठ भूमिका पर—

अभ्यास क्रम में

---

१४. आवश्यक निर्युक्ति—गा. १५९५

१५. *आवश्यक निर्युक्ति—गा. ११९५*

आंक्रमण-अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करे
स्वानुभूति का चिन्तन, मनन
ममत्व की मूर्च्छा से पर
कायोत्सर्ग में स्थिरीकरण,
इच्छाओं का निरोध-तप,

चतुर्थ विभाग

(४) दृष्टि योग का आदि बिन्दु तनाव और चरम बिन्दु मुक्ति

अध्याय १. दृष्टि योग से अयोग दर्शन

अध्याय २. दृष्टिओं के विकास क्रम में उत्तरोत्तर संवर्धन

१

दृष्टि योग से अयोग दर्शन

१. साधना का प्रवेश द्वार – इच्छायोग स्वाभाविक संरक्षा की क्षमता-शास्त्रयोग आत्मवीर्य के अंतिम चरण की दो रेखा–
   (i) धर्म संन्यास
   (ii) योग संन्यास
२. औघदृष्टि और योगदृष्टि की भेद रेखा
३. दृष्टिओं से रूपान्तरण
   १. विवेक का अभाव,
   २. अज्ञानता होने पर भी गुणानुरागी के प्रति जिज्ञासा,
   ३. योग उपाय का प्रथम चरण,
   ४. समापत्ति का प्रादुर्भाव,
   ५. आत्मानुभव का आस्वादन,
   ६. आत्मसंप्रेक्षण, आचार शुद्धि, एकाग्र बुद्धि और स्थिरीकरण का प्रारम्भ
   ७. तत्त्वप्रतिपत्ति, विवेक ज्ञान विशुद्धि और असंगानुष्ठान की प्राप्ति,
   ८. अनाशक्ति की संप्राप्ति, निर्विकल्प की प्राप्ति और निर्वाण का आनन्द ।
४. चौदह गुणों का क्रमारोह

१. दृष्टियोग से अयोग दर्शन

योग दृष्टियों से अयोग तक पहुँचने के लिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने जो अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है वह जैन दर्शन के लिए एक नयी दिशा है। योगदृष्टिओं को प्राप्त करने के साथ-साथ आचार्यश्री ने पिछली चार दृष्टियों के समय पाये जाने वाले विशेष आध्यात्मिक विकास को इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग ऐसी तीन योग भूमिकाओं में विभाजित करके उक्त तीनों योग भूमिकाओं का रोचक वर्णन किया है।

समर्थ साधकों के लिए ही साधना मार्ग में प्रवृष्ट होने की इच्छा या रुचि जागृत होती है। रुचि एक ऐसा रासायनिक तत्त्व है कि प्राप्त होते ही समाधान की खोज में साधक निकल पड़ता है वह है शास्त्रयोग जो समाधान को जन्म देता है और उसका पूर्ण विकास है सामर्थ्य योग जिसके द्वारा साधक अपनी पूर्णता प्राप्त कर पाता है।

इच्छायोग

इच्छायोग अर्थात् पूर्ण इच्छा से भाव नमस्कार[१] प्रतिक्रमणसूत्र में भी **"इच्छामिणंमंते", "इच्छामिखमासमणो, "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्"** इत्यादि इच्छा प्रदर्शक पद से प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार इच्छायोग मंगलाचरण है साथ योग का प्रथम सोपान है और साधना का प्रवेश द्वार है।

इच्छायोग में धर्म प्रवृत्ति की इच्छा का प्राधान्य होता है और क्रिया शुद्ध गौण मानी जाती है।

क्रिया तीन प्रकार की होती हैं—

१. **विषय शुद्ध क्रिया**—क्रिया का लक्ष्य तो शुद्ध है किन्तु कार्य अशुद्ध है।

२. **स्वरूप शुद्ध क्रिया**—लौकिक दृष्टि से शुद्ध है।

३. **अनुबन्ध क्रिया**—इस क्रिया में चित्त की प्रशान्तवाहिता ध्येय निष्ठा और तत्वसंविज्ञा का प्राधान्य होता है।

---

१. प्रतिक्रमण सूत्र

शास्त्र योग

शास्त्र शब्द दो धातुओं से बना है। "शास्" और त्रैड् शास् अर्थात् अनुशासन और त्रैड् अर्थात् पालन। अनुशासन का उचित पालन आचार संविधा या आज्ञायोग में समावित होता है। अतः शास्त्र वही है जिसमें आत्महित शिक्षा का सामर्थ्य हो, स्वाभाविक संरक्षण की क्षमता हो[2] और सर्वज्ञ प्रणीत सत्यता हो।

सर्वगुणसम्पन्न केवली भगवन्त ही सर्वज्ञ होते हैं अतः सर्वज्ञों की वाणी ही शास्त्र है।[3] शास्त्र से उचित ज्ञान और ज्ञान से अभय, अद्वेष, अखेद आदि की अवस्था और मिथ्या अज्ञान समझा जाता है।

शास्त्रयोगी क्रमशः ज्ञानाध्ययन द्वारा विकास को प्राप्त करता हुआ यथाप्रवृत्तिकरण, पश्चात् अपूर्वकरण और ग्रंथिभेद करता हुआ अनिवृत्तिकरण से आगे सम्यक्त्व प्राप्त करता है। विशुद्धि का प्रादुर्भाव होते ही अप्रमत्तयोग तीव्र बोध से प्रयुक्त होता है और शास्त्रानुसार अखण्ड साधना सधती है। फलस्वरूप वही शास्त्र जीवन बन जाता है कैवल्यज्योति प्रगट हो जाती हैं।

आकृति नं. ३

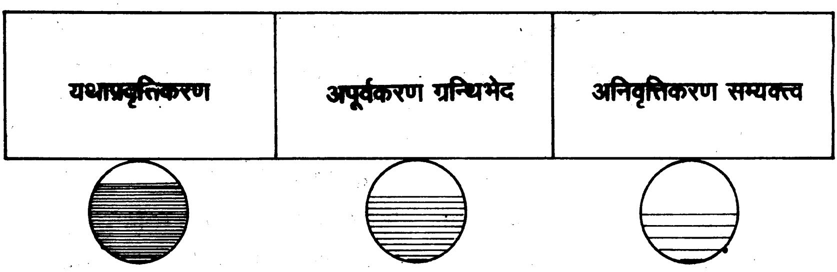

सामर्थ्य योग

सामर्थ्य साधक का स्वयं का स्वात्म स्वभाव है। असमर्थता के आवरणों को तोड़कर योग पद्धति द्वारा, शास्त्रयोग के अवलम्बन द्वारा जब साधक स्वात्म स्वभाव की सिद्धि स्वरूप सामर्थ्य को जगाता है जब सामर्थ्य योग सिद्ध होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के भेदों में अभेद सिद्धि से स्वात्म स्वभाव स्वरूप सामर्थ्य योग को इच्छायोग से प्रारम्भ कर शास्त्रयोग की सहायता से सिद्ध किया है।

---

२. प्रशमरति–श्लो. १८८

३. ज्ञानसार–श्लो. ३ शास्त्राष्टक

सामर्थ्ययोग का अर्थ है—आत्मा मे इतनी शक्ति (सामर्थ्य) प्रकट कर, जिससे अप्रमत्त योग की प्राप्ति होवे। आत्मा में असंख्यकाल से निहित विषय कषायादि दुष्ट भावों का नाश होवे। क्योंकि सामर्थ्ययोग उच्चगुणस्थानों में ही प्राप्त होता है। इसके मुख्यतया दो भेद हैं—(१) धर्मसंन्यास सामर्थ्ययोग और (२) योगसंन्यास सामर्थ्ययोग। ७वाँ गुणस्थान छोड़ने से ८वाँ गुणस्थान प्राप्त होने पर धर्म संन्यास – सामर्थ्ययोग आता है, जिसमें सातवें गुणस्थान तक करने के बाह्य धर्मानुष्ठान छोड़ देने होते हैं, जबकि योगसंन्यास सामर्थ्य योग में १३वें गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तब मन, वचन, काया के निरोध करने की क्रिया शुरू होती है। वहाँ से ठेठ शैलेशीकरण के अन्तिम समय तक की अवस्था होती है।

आयोज्यकरण

आयोज्यकरण – योगसंन्यास योग की पूर्वावस्था है। अचिन्त्य वीर्य शक्ति से और असाधारण सामर्थ्य से केवली भगवन्त समुद्घात करते हैं। केवली समुद्घात से पूर्व आयोज्यकरण होता है।

केवली समुद्घात

जिस केवली भगवन्त की वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म से अधिक हो उन केवली भगवन्त को कर्मों के समीकरण के लिए समुद्घात करना पड़ता है[४] अथवा वेदना आदि निमित्तों से कुछ आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात है[५]।

शैलेशीकरण

आयोज्यकरण एवं समुद्घात का परिणाम योगसंन्यास है। इसमें मन-वचन-काया का सर्वथा निरोध होता है। यह योगसंन्यास मोक्ष प्राप्ति के उतने निकट काल में उत्पन्न होता है कि जितना समय पंच-हस्वाक्षर के उच्चारण में लगते हैं। योगसंन्यास में आत्मा की मेरू पर्वत की भाँति, निष्प्रकंप अवस्था हो जाती है। शैलेशी अवस्था में योग का निरोध होने से आत्मप्रदेश स्थिर अकंपित हो जाते हैं और कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार आयोज्यकरण से शैलेशीकरण और शैलेशीकरण से योगसंन्यास की संप्राप्ति होती है।[६] और योगसंन्यास से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

---

४. योगशास्त्र अ. ११, गा. ५०
५. राजवार्तिक-१/२०/१२/७७/१२, गोम्मटसार-५४३/९३९/३
६. ललित विस्तरा पं. टी. पृ. ५५

कोष्ठक नं. ७

प्रथम अपूर्वकरण	ग्रंथिभेद		सम्यकत्व
द्वितीयअपूर्वकरण	क्षपक श्रेणी: ८ गु, ९ ण, १० स्था, १२ न		केवल ज्ञान
आयोज्यकरण	समुद्घात	शैलेशीकरण	मोक्ष

कोष्ठक नं. ८

इच्छायोग	**शास्त्रयोग**	**धर्मसंन्यास सामर्थ्ययोग**	**योगसंन्यास सामर्थ्ययोग**
तीव्रइच्छा गुणस्थान से प्रमाद	तीव्रशास्त्र बोध-श्रद्धा अप्रमाद	प्रातिभ केवल ज्ञान ज्ञान क्ष प क श्रेणी द्वितीय अपूर्व करण	मन, वचन, काय, त्याग शैलेशी-मोक्ष करण
१ ४ ५ ६		७ ८ ९ १० १२ १३	

इच्छादि योग का कोष्ठक

कोष्ठक नं. ९

योग का नाम	**प्राधान्यता**	**मुख्य लक्षण**	**पात्र योगी**	**गुणस्थान**
इच्छायोग	इच्छा प्रधान	सत्य, धर्म, इच्छा, श्रुतार्थ, सम्यक्त्व, ज्ञानयुक्त, प्रमादजन्य एवं विकलता।	सत्यधर्म इच्छुक श्रुतज्ञानी, सम्यक्त्व ज्ञानी किन्तु प्रमाद युक्त	४ ५ ६ (उपलक्षण से व्यवहार से १)
शास्त्र-योग	शास्त्र प्रधान	शास्त्रपटुता श्रद्धा-अप्रमत्ता	शास्त्रपटु, श्रद्धालु अप्रमादी	६ ७
धर्म संन्यास	सामर्थ्य प्रधान	शास्त्र से पर विषय प्रातिभ-स्वसंवेदन-अनुभवज्ञान, क्षयोपशम धर्म का त्याग	क्षयक श्रेणीगत	८ ९ १० १२ १३
योग संन्यास	सामर्थ्य प्रधान	मन, वचन, काया के योग का त्याग अयोग परम योग	अयोगीकेवली	१४ शैलेशी अवस्था में

दृष्टियोग

दृष्टि का अर्थ बताते हुए योगदृष्टि समुच्चय में कहा गया है कि सत् समीचीन श्रद्धा युक्त बोध का नाम यथार्थदृष्टि है[१]। इसके द्वारा विचार युक्त श्रद्धा रखने, निर्णय करने एवं सत्य पदार्थ का ज्ञान करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ज्यों-ज्यों दृष्टि की उच्चता प्राप्त होती है त्यों-त्यों बोध एवं चारित्र का विकास होता जाता है। आत्मविकास के क्रमानुसार कर्मों का क्षयोपशम होता रहता है और उसके अनुसार साधक का दर्शन सुस्पष्ट होता रहता है। इस आत्मविकास क्रमोन्नति के असंख्य भेद हैं, उन असंख्य भेद में से हरिभद्रसूरि ने प्रमुख ८ दृष्टियों के माध्यम से योगमार्ग को स्पष्ट किया है।

जिस प्रकार पातंञ्जल योगसूत्र में आत्मविकास अर्थात् चारित्र विकास की चरम अवस्था रूपमोक्ष की सिद्धि के लिए योग रूपसाधन के यम नियमादि आठ अंग बतलाए गये हैं उसी प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनाभिमत निम्न आठ योगदृष्टि का उल्लेख किया है।

(१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कान्ता, (७) प्रभा और (८) परा।

आकृति नं. ६

दृष्टि की आकृति

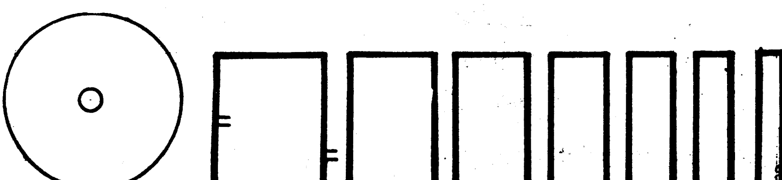

ओघदृष्टि एवं योगदृष्टि

सामान्यतया दृष्टि दो प्रकार की होती है। ओघदृष्टि और योगदृष्टि। ओघ अर्थात् विवेकशून्य दृष्टि। जनसमूह का सामान्य ज्ञान[७] जिसमें विचार अथवा विवेक का अभाव होता हो, वह ओघदृष्टि कहलाता है। इसमें गतानुगतिकता का सद्भाव एवं अभाव होता है। अतः विवेकशून्य परम्परागत (रूढ़िगत) मान्यताओं का स्वीकार करना ओघदृष्टि है।

---

७. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. १७

योगदृष्टि का स्वरूप औघदृष्टि से विपरीत होता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आठ दृष्टियों का समावेश योगदृष्टि में होता है। इन आठ दृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियाँ मिथ्यादृष्टि जीवों को भी हो सकती हैं। इसमें पतन की भी संभावना हो सकती है अतः यह प्रतिपाति है। अंतिम चार दृष्टियाँ नियमतः चारिसभवनी न्याय के अनुसार[८] सम्यग्दृष्टि को ही होती हैं और वे अप्रतिपाती हैं – इससे पतन कभी नहीं होता[९]। प्रथम चार दृष्टियाँ अस्थिर हैं जबकि अंतिम चार स्थिर हैं। हालांकि प्रथम चार दृष्टिवालों का वर्तमान, गति से प्रगति की ओर होता है। सत्संग, सत्शास्त्र आदि निमित्तों द्वारा जीव का विकास होता है, किन्तु प्रथम चार दृष्टि तक इतना ख्याल होवे कि वे कभी पतित भी हो जाता है। बहिरात्म, दशा, क्षिप्त विक्षिप्त और यातायात से मनोगत भाव उलझन में कभी विकास क्रम रुक जाता है अतः प्रथम चार दृष्टि को अपूर्ण भी कह सकते हैं।

कोष्ठक नं. १०

प्रतिपाति और अप्रतिपाति

	मि	थ्या	त्व		स	म्य	क	त्व	
दृष्टि	१	२	३	४	५	६	७	८	मुक्ति

प्रतिपति	अप्रतिपति	अप्रतिपति ही
सापाय	निरपाय	निर अपायही
भवभ्रमण	मुक्ति प्रति	अखंड प्रयाण

यहाँ सहस्र दृष्टियों में से प्रमुख आठ दृष्टियों के अनुशीलन की चर्चा की गई है।

---

८. योगबिन्दु - ११९

९. योगदृष्टि समुच्चय - गा. १९

२. दृष्टिओं के विकास क्रम में उत्तरोत्तर संवर्धन

१. मित्रा दृष्टि

मित्रा, यह प्रथम दृष्टि है। राग-द्वेष की मात्रा अल्प होने के कारण इस अवस्था में जो बोध होता है, उसकी उपमा अग्निकण से दी गई है। जिसका प्रकाश क्षणिक होता है। इस स्थितिवाला मनुष्य अच्छी तरह नहीं समझ सकता कि क्या इष्ट और क्या अनिष्ट है। फिर भी वह आत्मशिक्षा के लिए अहिंसा करता है। शुभ कार्यों में रुचि उत्पन्न होने के कारण उनमें अखेद और अद्वेष गुण जागृत होने लगते हैं। समस्त प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, अद्वेष भाव, निर्विकारभाव रखने लगता है। उसमें प्रगति के बीज, योग बीज आरोपण होने लगते हैं, राग-द्वेषादि घटने लगते हैं और परिणामों में भी निर्मलता आने लगती है। जिससे उसके परिणाम "यथा प्रवृत्तिकरण" द्वारा अपूर्वकरण कर ग्रंथि भेद के निकट पहुँच रहे हैं।

दर्शन की मंदता, योग का प्रथम अंग यम, खेद जैसे दोषों का त्याग अखेद और अद्वेष जैसे गुणों की सहज प्राप्ति से तप, त्याग, वैराग्य भक्ति, भाव वंदन आदि योग बीजों का संयोग प्राप्त होता है।

योगबीज का प्राप्ति काल

योगबीज साधक को तभी प्राप्त होते हैं जब कर्मरूप भावमल क्षीण होता है तथा चरम पुद्गल परावर्तन जितना काल मोक्षमार्ग के लिए शेष रहता है। यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा भावमल का क्षय होता है[१]।

योग बीज के अनुसंधान से योगावंचक, क्रियावचक और फलावंचक समाधियोग फलित होता है। जैसे—लक्ष्यभेदी बाण लक्ष्य को भेदता है और कार्य की सिद्धि करता है वैसे ही साधक के अपने शुद्ध आत्मसिद्ध रूप लक्ष्य को अनुलक्षित योग, क्रिया एवं फल अवंचक होता है, जिससे साधक अवश्य अपने स्वसाध्य स्वरूप प्रवृत्ति को अविसंवादरूप से सिद्ध करता है।

---

१. योगदृष्टि समुच्चय-श्लो. ३२

अवंचक विधि

यहाँ प्रवृत्तियाँ तीन हैं—(१) लक्ष्यताकना, (२) लक्ष्य को अनुसंधान पर्यन्त पहुँचाना और (३) कार्य की फलश्रुति।

योगावंचक योगबीजों का संयोग, सद्गुरु का संयोग तथा मन की विशुद्धि का होना योगावंचक है। जैसे—निशान ताकने के लिए बाण का धनुष के साथ संयोग-अनुसंधान होना।

क्रियावंचक सद्गुरु को भावयुक्त वंदन, नमस्कार एवं प्रणाम तथा वचन और शरीर की आगमानुसार प्रवृत्ति क्रिया अवंचक है। जैसे—निशान को अनुसंधान पर्यन्त पहुँचाने की क्रिया।

फलावंचक उपर्युक्त सद्गुरु का संयोग तथा वंदन नमस्कार आदि से प्राप्त लाभ द्वारा कर्म क्षय तथा कार्य की फलश्रुति फलावंचक है।

क्रिया-वंचक निशान को अनुसंधान पर्यन्त पहुँचाने पर भी क्रिया का असाध्य रूप होना।

फला-वंचक कार्य की फलश्रुति होने पर भी विफल होना।

आकृति नं. ७

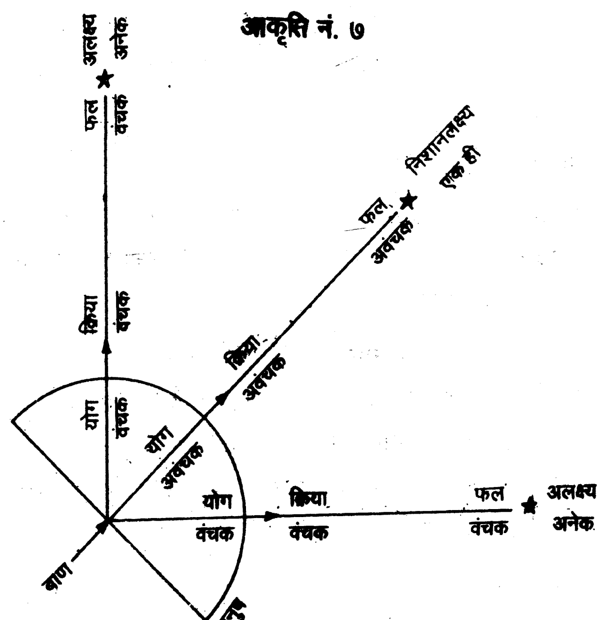

वंचकत्रय का स्वरूप

वंचक अर्थात् धूर्त गुरु का संयोग योगवंचक है, अनेक साधनों की उपलब्धि होने पर भी तथारूप योग्यता का अभाव होने से क्रिया करने पर भी असाध्य रूप होती है अतः यह क्रिया वंचक है, इष्ट कार्य साधक न होने से बाधक होता है अतः फल भी अनिष्ट प्राप्त होता है इसे फला-वंचक कहते हैं ।

योगबीज से भावमल की अल्पता, भावमल की अल्पता से सत्गुरु आदि को प्रणाम, वंदन, नमस्कार, वंदन नमस्कार से अवंचक त्रय की प्राप्ति और अवंचक त्रय से शुभ निमित्त का संयोग । इस प्रकार यहाँ कार्यकारण परम्परा है ।

यह सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राप्ति के समय जीवों द्वारा यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण – ऐसे तीन करण किये जाते हैं । अतः इस प्रथम दृष्टि को प्राप्त साधक चरमपुद्गलपरावर्त में अपूर्व ऐसा चरमयथाप्रवृत्तिकरण तक पहुँचता है । यहाँ भावमल की अल्पता और ग्रन्थिभेद की समीपता होती है । गुणों में प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्वगुणस्थान का यह अधिकारी होता है[२] । इस प्रकार इस मित्रादृष्टि में स्थित साधक उपर्युक्त साधना को सिद्ध करने में सफल होता है ।

आकृति नं. ८

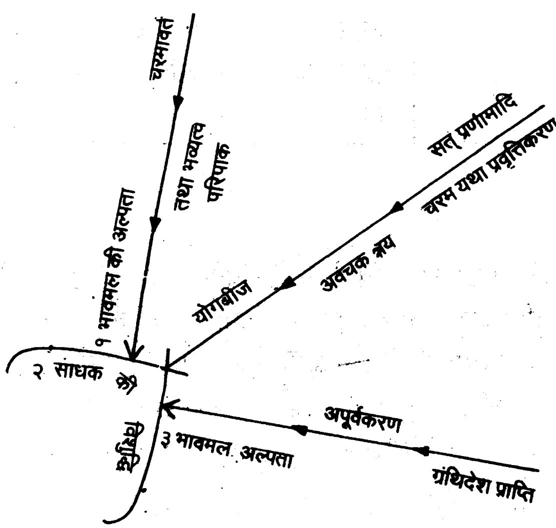

---

२. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. ३६ से ४०

मित्रादृष्टि का कोष्ठक

कोष्ठक नं. ११

दर्शन	योगांग	दोष त्याग	गुण प्राप्ति	योग बीज ग्रहण	प्राप्ति क्रम	समय	गुणस्थान
तृण अग्नि वत्मंद	यम	अखेद	अद्वेष	१. जिन भक्ति २. सद्गुरुसेवा ३. भव उद्वेग ४. द्रव्यअभिग्रह पालन ५. आगमानुसार लेखन बीजकथा श्रवणश्रद्धा एवं शुद्ध उपादेय भाव	भावमल आप्लता गुर्वादि को प्रमाणादि अवंचक प्राप्ति शुभनिमित्त योगबीज आदि	अंतिम पुद्गल परावर्त में अंतिम यथाप्र-वृत्ति-करण में ग्रंथिभेद निकट होने तक	प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान

२. तारा दृष्टि

मित्रा दृष्टि की अपेक्षा राग-द्वेष का प्रभाव अपेक्षाकृत कुछ हल्का हो गया है, ऐसे साधक की तारा दृष्टि कहलाती है। इसकी उपमा उपलों की चिंगारी से दी गई है। यहाँ साधक अहिंसादि यमों की अपेक्षा अधिक उन्नतकारी नियमों का पालन करता है तथा ध्यान द्वारा मन केन्द्रित करता है, जिज्ञासा और उचित आचरण से वैराग्य और कर्त्तव्य पालन में दृढ़ रहता है। जिससे गुणवानों के प्रति जिज्ञासा प्राप्त होती है।

इस दृष्टि वालों की प्रवृत्ति मन-वचन-काया के विशुद्ध योग की ओर विशेष होती है, वह निरन्तर चिन्तन करता रहता है कि मैं बन्धन से मुक्त कब हो जाऊँ ? इस संसार में महात्माओं की प्रवृत्ति अनेक प्रकार की होती है यह समस्त प्रकृति को मैं कैसे जान सकूँ ; इत्यादि चिन्तन, इस तारादृष्टि वालों का होता है।

कोष्ठक १२

तारा दृष्टि का कोष्ठक

दर्शन	योगांग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	अन्य गुण समूह
गौमय अग्नि कणवत	नियम	उद्वेग त्याग अनुद्वेग	जिज्ञासा	योग कथाप्रीति, योगीजन प्रति आदर सत्कार बहुमान हितोदय, उपद्रवनाश, शिष्ट संमतता, भवभय पलायन । उचित आचरण, अनुचित अनाचरण । गुणानुरागी के प्रति जिज्ञासा निज गुण हानि से खेद । भव वैराग्य, शिष्ट प्रमाण ।

३. बलादृष्टि

साधक के चित्त की उज्ज्वलता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है। साधक का प्रकाश प्रज्ज्वलित होता जाता है। ऐसी दृष्टि बलादृष्टि कहलाती है। इसे काष्ठ की चिनगारी की उपमा दी गई है। योग क्रिया में वह आसन क्रिया अपनाता है और चित्त को विक्षेप रहित करता है, उसमें सत्यतत्त्व जाने कि मैं कौन हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, और संसार क्या है। दुःखों से छुटकारा किस प्रकार हो सकता है इत्यादि जानने समझने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप ज्ञानी गुरू की वह खोज करने लगता है। उसकी स्वाभाविक वृत्तियाँ ही ऐसी हो जाती हैं कि उसे असत् तृष्णा पैदा ही नहीं होती और वह सदा सर्वत्र सुख-शांति का अनुभव करता है। विकट परिस्थिति का संयोग और वातावरण क्यों न हो. वह घबराता नहीं है, किन्तु सावधानी से चित्त की स्थिरता से कार्य करता है। धार्मिक क्रिया भी एकाग्रतापूर्वक करता है। मित्रा दृष्टिं में जो योग बीज प्राप्त हुये थे, यहाँ अंकुरित होने लगते हैं, अतः जिससे साधक की सुश्रूषा शक्ति बदलती हो, वह बला दृष्टि है।

बला दृष्टि

कोष्ठक १३

दर्शन	योगांग	दोष त्याग	गुण प्राप्ति
बोधकाष्ठ अग्निवत्	योग का तृतीय अंग-आसन	क्षेप दोष का त्याग निर्विघ्न कार्य	शुश्रूषा बोध प्रवाह जल स्रोत के समान युवान पुरुष की सुश्रूषा जैसी तीव्र योग उपाय कौशल

४. दीप्रा दृष्टि

राग-द्वेष की मंदता कर्ममल की अल्पता तथा चित्त के परिणाम की निर्मलता हो जाने पर दीप्रा दृष्टि प्राप्त होती है। इस दृष्टि को प्रदीप के प्रकाश की उपमा दी गई है। जैसे दीपक का प्रकाश अधिक स्थाई और स्पष्ट होता है उसी प्रकार इस दृष्टि वाले का बोध तीन दृष्टियों की अपेक्षा अधिक स्थाई और अधिक सामर्थ्यवान होता है। आचरण की दृष्टि से शुद्धता अवश्य है, परन्तु जिस प्रकार प्रदीप का प्रकाश पर वस्तु अर्थात् तेल पर अवलम्बित है उसी प्रकार यह बोध भी परावलम्बित है, निज की आत्मा पर अवलम्बित नहीं है। इसलिये वह पूर्ण रूप से स्थाई नहीं है। जैसे हवा से दीपक बुझ सकता है वैसे वही साधक बाहरी कारणों से क्षिप्तविक्षिप्त हो सकता है। यहाँ भी सब क्रियाएँ भाव शून्य केवल द्रव्य रूप ही होती हैं। इस दृष्टि तक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। इस दृष्टि में प्राणायाम योग होता है। अतः साधक बाह्य भाव छोड़कर अंतरभाव की ओर आगे बढ़ता है और उसी में स्थिर रहता है। इस दृष्टि में प्रथम बताए हुए जो योगबीज के अंकुर हैं वह सहज स्पष्ट रूप में पल्लवित होते दृष्टिगोचर होते हैं।[३]

धर्म के प्रति प्रीति

बाह्य भावना के त्यागरूप भाव रेचक प्राणायाम की प्राप्ति होने से इस दीप्रादृष्टि में स्थित योगी महात्मा को धर्म के प्रति उत्कृष्ट प्रीति उत्पन्न होती है।

---

३. (द्वा. २२ द्वा. तारादित्रय-द्वात्रिंशिका श्लो. १९, पृ. १३५)

तत्वश्रवण।

तत्वश्रवण में अत्यधिक श्रद्धा एवं प्रीति होने से तत्व चिन्तन का अचिन्त्य प्रभाव मोक्षबीज को पल्लवित करता है। किन्तु इतना ध्यान रखना कि यहाँ क्षारजलवत् भवयोग जानना और तत्वश्रवण को मधुरजल जानना[४]।

समापत्ति

विवेकी साधक को इस संसार की असारता का अनुभव होता है। वह क्षण भर के लिए भी सांसारिक वृत्ति में इच्छा और वांछा नहीं करता। ऐसा साधक वैराग्य भावना से भावित होता है[५]।

गुरुभक्ति के सामर्थ्य से अर्थात् ध्यान स्पर्शना से सम-सम्यक् आपत्ति प्राप्ति, समापत्ति प्राप्त होती है। यह समापत्ति तीन कारणों से विकसित होती है –

(१) निर्मलता
(२) स्थिर एकाग्रता
(३) तन्मयता[६]।

तात्पर्य यह है कि चित्त की निर्मलता होने पर ही चित्त की स्थिरता होती है और चित्त की स्थिरता होने पर ही तन्मयता होती है। इस प्रकार आत्मभाव के बिना तात्विक *समापत्ति ग्राह्य, ग्रहण और गृहीत के भेद से तीन प्रकार की होती हैं।*

(द्वा. २० द्वा श्लो., ९ पृ. १२०) इस समापत्ति के और भी चार प्रकार प्राप्त होते हैं। (१) सवितर्क, (२) निर्वितर्क, (३) सविचार, (४) निर्विचार, ये समापत्ति संप्रज्ञातससमाधि (सविकल्प) है। उसे ही "सबीज" समाधि कहा जाता है। अंतिम निर्विचार समापत्ति की निर्मलता से अध्यात्मप्रसाद की प्राप्ति होती है। जिससे ऋतम्भराप्रज्ञा उत्पन्न होती है। वह श्रुत-अनुमान से अधिक होता है। ऋतम्भराप्रज्ञा से संस्कारांतर का बाधक ऐसा तत्व संस्कार उत्पन्न होता है और उसके निरोध से असंप्रज्ञात् (निर्विकल्प) नामक समाधि उत्पन्न होती है। इस असंप्रज्ञात से कैवल्य प्राप्त होता है। इस प्रकार निर्विचार समापत्ति अध्यात्म प्रसाद ऋतम्भराप्रज्ञा तत्वसंस्कार असंप्रज्ञातसमाधि केवल्य ऐसा क्रम है। द्वा. २० द्वा. श्लो. ११, १२, १३ के अनुसार सम्पन्न नहीं हो पाती[७]।

---

४. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. ६२।

५. ज्ञानार्णव श्लो. ९, १४, ३०, ३१, २३ अनित्य भावना प्रकरण।

६. द्वा. २० द्वा. श्लो. १०, पृ. १२०।

७. तात्त्विकी च समापत्तिर्नात्मनो भाव्यतां विना॥ द्वा. २०, द्वा. श्लो. १५।

वेद्यसंवेद्यपद

१. वेद्यसंवेद्यपद भिन्नग्रन्थि, देशविरति, और क्षायिक सम्यग्दृष्टि वाले साधक को ही प्राप्त होता है। क्योंकि इस दीप्रादृष्टि में पौद्गलिक भाव होने के कारण असत् प्रवृत्ति की ओर जीवात्मा की स्थिति होती है। जिससे उस आत्मा को सूक्ष्म बोध रूप फलों की प्राप्ति नहीं होती है। जीवात्मा में मालिन्यता होने से तत्वविषयक बोध की प्राप्ति भी नहीं होती। फिर भी यह दृष्टि अवंध्यबीज रूप होने से कभी-कभी बोध को प्राप्त कर लेती है[८]।

प्रथम चार दृष्टिओं में अवेद्य संवेद्य पद की प्रबलता होती है और वेद्यसंवेद्य पद मात्र पंछी प्रतिबिम्बवत् अर्थात् जैसे जल में पंछी के प्रतिबिम्ब को देखकर कोई अज्ञानी जलचर प्राणी भ्रान्तिवश उसे पकड़ने जाता है[९] और ऐसी चेष्टा निष्फल ही होती है वैसे ही प्रथम चार दृष्टिओं में वेद्यसंवेद्यपद तदाभासरूप अतात्विक होता है।

अवेद्यसंवेद्यपद

वेद्यसंवेद्यपद से यह पद विपरीत है, साथ-साथ वज्र जैसा अभेद्य भी है विशेष रूप से ग्रह पद भवाभिनन्दी जीवों में पाया जाता है। भवाभिनन्दी–क्षुद्र, लोभी, दीन, मत्सरवंत, मयाकुल, शठ, अज्ञानी, आसक्त, निष्फल आरम्भ युक्त, असत् परिणामयुक्त लक्षणवाला होता है।[१०]

अवेद्यसंवेद्यपद मिथ्यात्व और वेद्यसंवेद्यपद सम्यक्त्व है। सम्यक्गुण का प्रथम चार दृष्टिओं में अभाव होने से अवेद्यसंवेद्यपद परमार्थ दृष्टि से हेय है, योगियों के लिए वेद्यसंवेद्य पद ही उपादेय है।

कोष्ठक नं. १४

अवेद्य संवेद्य और वेद्य संवेद्य पद की तुलना

नाम	अवेद्य संवेद्य पद	वेद्य संवेद्य पद
किस दृष्टि में	प्रथम चार में अवेद्य संवेद्यपद प्रबल वेद्य सवेद्य अतात्विक	अंतिम चार में वेद्य संवेद्यपद नहीं होता वेद्य संवेद्यपद तात्विक।
कारण	ग्रंथिभेद	ग्रंथिभेद ।

८. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. ७६, योगबिन्दु श्लो. ८७, पृ. १७४।

९. योगदृष्टि समुच्चय श्लो. ६६।

१०. योगबिन्दु श्लो. ८७, पृ. १७४। योगदृष्टि समुच्चय श्लो. ७६।

व्याख्या	वेद्य संवेद्य नहीं होता परमार्थ से अपद ।	वेद्यसंवेद्य होता है परमार्थ से पद ।
पात्र	भवाभिनन्दी साम्प्रतदर्शी मिथ्या दृष्टि ।	मुमुक्षु, निश्चय सम्यग्दृष्टि ।
बोध	स्थूल-असत्, क्योंकि अपाय शक्ति मालिन्य एवं अतात्विक ।	सूक्ष्म-सत् क्योंकि अपाय शक्ति मालिन्य नहीं अपाय दर्शन तात्विक ।
पाप प्रवृत्ति	पाप प्रवृत्ति होती है।	नहीं होती अगर हो तो अंतिम तप्त लोह पदन्यास जैसी
लक्षण	विपर्यास, विवेकान्धता, अतिमोह, विषय, कुतर्क, ग्रह	अविपर्यास सदविवेक, अमोह ग्रह से रहित ।
परिणाम	संसार प्रति अनुद्वेग, भोगासक्ति कृत्याकृत्य भ्रांति	संवेगातिशय-परम वैराग्य अनाशक्ति अभ्रान्ति ।
प्रवृत्ति-निवृत्ति	असत् चेष्टा प्रवृत्ति, सत्चेष्टा निवृत्ति	सद् चेष्टाप्रवृत्ति, असत् चेष्टा-निवृत्ति
स्वरूप	अधरूप	सम्यग्दर्शन रूप
फल	आत्मबंधन, दुर्गतीपात	अबन्ध, सुगति प्राप्ति ।
गुणस्थान	प्रथम	चतुर्थ-देशविरति इत्यादि ।

यहाँ चतुर्थ दृष्टि में देवों की भक्ति के दो भेद बताये हैं – (१) चित्र और (२) अचित्र । संसारी देवों की भक्ति अचित्र प्रकार की है क्योंकि उनका स्वरूप अचित्र प्रकार का है, और उस भक्ति में मोहवश इष्ट देवों के प्रति राग और अनिष्ट देवों के प्रति द्वेष होता है किन्तु संसारातीत पद मुक्त तत्व की जो भक्ति है, वह अचित्र है और वह सम्मोह के अभाव से समप्रधान होती है[११]। इस प्रकार अवेद्य सवेद्य पद से चित्र भक्ति और वेद्य संवेद्य पद से अचित्र भक्ति की आराधना सफलता से मिलती है।

११. योगदृष्टि समुच्चय-श्लो. ११० से ११४

चित्राचित्र भक्ति

कोष्ठक नं. १५

	चित्र भक्ति	अचित्र भक्ति
देव	लोकपालादि संसारी देव	मुक्त परमात्मा
भक्त	संसारीदेव कायगामी, भवाभि-नंदी संसारासक्त ।	संसारातीत अर्थगामी, भवभोग विरक्त मुमुक्षु
लक्षण	मोहगर्भित होने से इष्टदेव में राग, अनिष्ट में द्वेष ।	असंमोह भाव के कारण समसार पूर्ण समभाव
चित्राचित्र	१. संसारिदेव के चित्रस्थान के साधन उपाय चित्र, विचित्र ।	सदाशिव परब्रह्म, सिद्धात्मा आदि नाम भेद फिर भी निर्वाण तत्व का
कारण	२. चित्र आशय से चित्र फलभेद	परम पद का अभेद स्वरूप
फल	संसार ।	मोक्ष

४. दीप्रादृष्टि

कोष्ठक नं. १६

दर्शन	योगांग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	अन्यान्य विशेषता	गुणस्थान
दीप प्रभा सम दिव्य प्रकाश	उत्कृष्ट प्रीति प्राणायाम	उत्थान निर्मलता स्थिर एकाग्रता तन्मयता	श्रवण धर्म के प्रति प्रीति अतात्त्विक	संसाराभिमुख शक्ति मालिन्य सत् मिश्र असत प्रवृत्ति	प्रथम

५. स्थिरादृष्टि

पाँचवीं दृष्टि, ग्रंथि भेद-अर्थात् राग, द्वेष इत्यादि के परिणामस्वरूप तीव्र कर्मगांठ के निर्जरित होने पर सम्यक् दृष्टि प्राप्त होने पर होती है। इसकी उपमा रत्न के प्रकाश से दी गई है। रत्न का प्रकाश पराधारित नहीं होता स्वाधीन तथा स्थायी होता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में बोध आत्मानुभव अर्थात् आत्मा और शरीर में क्या भेद है। इस भेद ज्ञान के सन्मुख होता है। फलतः साधक के कषाय शान्त होने के

कारण चित्त में प्रसन्नता होती है और उच्च योग अंग प्रत्याहार अंगीकार करता है। जिससे पूर्ण विश्वास का मार्ग मिलता है।

इस दृष्टि में सूक्ष्म बोध गुण प्रकट होता है। यहाँ साधक जीवादि नव तत्वों को पूर्ण श्रद्धा के साथ समझता है। स्थिरादृष्टि वाला सम्यक्त्वी ही होता है और उसका गुणस्थान ४-५-६ में है। वह जो कार्य करता है अनासक्त भाव से करता है। वह आत्मा को मोह मूर्छित नहीं होने देता; किन्तु आत्मपरिणति में ही रहता है।

स्थिरा दृष्टि का कोष्ठक

कोष्ठक नं. १७

दर्शन	**योगांग**	**दोषत्याग**	**गुणप्राप्ति**	**गुणस्थान**
रत्न प्रभा सम नित्य	प्रत्याहार	भ्रांतित्याग	सूक्ष्मबोध अलोलु-पतादि	४-५-६

६. कान्तादृष्टि

कान्ता नामक छठी दृष्टि में पदार्पण करने के पूर्व साधक को यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी होती हैं। यहाँ से साधक की प्रगति क्रमशः वर्धमान होती है। इस दृष्टि में पहुँचा हुआ साधक धारणा नामक योगांग की प्राप्ति करता है। धारणा का अर्थ है **"धारणा तु क्वचित् ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धनं"** अर्थात् किसी पदार्थ के एक भाग पर चित्त की स्थिरता होना धारणा है।

यहाँ साधक का बोध "तारा की प्रभा" वत् होता है। दर्शन स्थिरादृष्टि की तरह नित्य - अप्रतिपाति अत्यन्त निर्मल और बलिष्ठ होता है। क्योंकि तारा का प्रकाश रत्न की कान्ति से व्यापक निर्मल और सम्यग्दर्शन में स्थित रहता है। साधक में आत्मानुभव या तात्त्विक बोध इतना स्पष्ट होता है जिससे यहाँ "अन्यमुद" नाम का दोष टल जाता है फलतः साधक स्वस्वरूप में स्थित रहता है अतः यहाँ हर्ष, शोक इत्यादि समस्त बाह्य प्रवृत्तियाँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं और मीमांसा गुण उजागर हो जाता है। पंचमदृष्टि में सूक्ष्मबोध होने के पश्चात् स्वाभाविक क्रम में मीमांसा गुण उत्पन्न होना चाहिए क्योंकि मीमांसागुण से ही सूक्ष्मबोध का चिन्तन-मनन और मंथन होता है। तत्वश्रवण द्वारा उत्पन्न स्थिर गुण से जब शुभ विचार श्रेणि प्राप्त होती है तब साधक की प्रगति में प्रकर्षता बढ़ती है[१२]।

१२. योगदृष्टि समुच्चय - श्लो. १६३ पृ. ५१३।

कान्ता दृष्टि में स्थित साधक की आचार विशुद्धि, एकाग्रचित विशुद्धि और देहातीत बुद्धि होती है।

क्योंकि नित्य मीमांसा गुण की प्राप्ति होने से साधक को किसी प्रकार का मोह संभव नहीं होता अर्थात् सम्यग्दृष्टि साधक को दर्शन मोह का तो सर्वथा क्षय ही होता है और योग की ओर जैसे विकास क्रम में संवर्धन होता है वैसे चारित्र मोहनीय का भी क्रमशः क्षय होता रहता है। इस प्रकार यहाँ साधक को प्रायः मोह का अभाव होता है। आत्मसंप्रेक्षण होने से यहाँ साधक षट्पद मीमांसा का निरन्तर चिन्तन करता रहता है। जैसे—(१) आत्मा है, (२) आत्मनित्य है, (३) आत्मा कर्ता है, (४) आत्मा भोक्ता है, (५) मोक्षपद है और (६) मोक्ष का उपाय है।

कान्ता दृष्टि

कोष्ठक नं. १८

दर्शन-तारा समान	**अन्यमुद् चित्त दोषत्याग**
योगांग-धारणा	मीमांसा-गुण प्राप्ति

७. प्रभादृष्टि

प्रभादृष्टि से बोध सूर्य की प्रभा के समान होता है। जो लम्बे समय तक अतिस्पष्ट रहता है।

यहाँ तत्वबोध अति सूक्ष्म होने से प्रतिपत्ति गुण प्राप्त होता है। अतः तत्व परिणति अत्यन्त सूक्ष्म एवं श्लाघनीय होती है।

कान्ता दृष्टि में साधक मीमांसा अर्थात् तत्व विचारणा तक सीमित था। किन्तु प्रभादृष्टि में योग प्रवृत्ति वर्द्धमान होती है। अतः यहाँ स्वानुभव की प्राप्ति होती है।[१३] आभ्यंतर और बाह्य समस्त व्याधियों का यहाँ उच्छेद हो जाता है। चित्त की अपूर्व स्थिरता प्राप्त होती है। ध्यान में एकाग्रता बढ़ती है। इस ध्यान में साधक विषय वासना पर विजय प्राप्त कर सकता है। तथा विवेक ज्ञान, सामर्थ्य योग और विरति को प्राप्त कर सकता है।

किसी एक पदार्थ पर अंतर्मुहूर्त पर्यन्त होने वाली चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता एक देशीय तथा अल्पकालीन होती है। जब

१३. प्रवचन सार टीका गा. ७१

कि ध्यान में वह प्रवाहरूप तथा दीर्घकालीन होती है। ध्यान करने वाला योगी महात्मा को ध्याता कहा जाता है। श्रेष्ठ ध्याता वही है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य इन चार उत्तम भावनाओं से भावित होता है। ज्ञान भावना से निश्चलता, दर्शन भावना से असंमोह, चारित्र भावना से पूर्वकर्म निर्जरा एवं वैराग्य भावना से आशंसा और भय का उच्छेद होता है। श्री नेमिचन्द्राचार्य ने बृहद् द्रव्य संग्रह में मनोजय और इन्द्रियजय से युक्त जो निर्विकार बुद्धिवाला है उसे ध्याता कहा है।

ध्येय अर्थात् ध्यान करने का विषय-आलंबन। किसी भी ध्येय चिन्तन का अंतिम हेतु आत्मध्यान पर आरूढ़ होता है। अत: किसी भी ध्येय पदार्थ का चिन्तन होने से आत्मनिरीह वृत्ति को प्राप्त कर एकाग्रता को धारण करना ध्येय है। ध्येय के मुख्य प्रकार तीन हैं। जैसे–

१. चेतन का अचेतन ऐसी मूर्त अमूर्त वस्तु
२. पंच परमेष्ठी
३. आत्मा।

इस प्रकार पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत आदि ध्यान के प्रकार आत्मा को स्वरूपावलंबन में परम उपकारी होने से आत्मध्यान में प्रवृत कराता है।

आलंबन योग

इस प्रकार इस प्रभादृष्टि में असंग अनुष्ठान की प्राप्ति होती है। जैसे दंड के पूर्व प्रयोग से चक्र का भ्रमण होता है। वैसे ही असंग अनुष्ठान से स्वाभाविक शिष्ट वचनानुसार अनुष्ठान होता है।

इस असंग अनुष्ठान को भिन्न-भिन्न दर्शनों ने भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध किया है जैसे–

(१) सांख्य दर्शन में प्रशान्तवाहिता कहते हैं। प्रशान्त वाहिता अर्थात् सदृशप्रवाह रूप परिणामि[१४]।

(२) बौद्ध दर्शन में विसभाग परिक्षय कहते हैं।

(३) शैव दर्शन में शिववर्त्म - शिवमार्ग कहते हैं।

(४) महाव्रत में ध्रुवाध्य - ध्रुवमार्ग कहते हैं[१५]।

---

१४. द्वा. २४, द्वा. २३

१५. योगदृष्टि समुच्चय गाथा १७६

इस असगानुष्ठान को स्थितयोगी साध सकता है। अतः इस पद (असंगानुष्ठान, तक पहुँचने के लिए यह सप्तम प्रभादृष्टि ही योगी महात्माओं को इष्ट है।

प्रभा दृष्टि

कोष्ठक नं. १९

दर्शन	योगांग	दोषत्याग	गुणप्राप्ति	अन्य विशिष्टता	गुणस्थान
सूर्यप्रभा सम निर्मल बोध	ध्यान अनुपम सुख शमसार	राग द्वेष त्याग	तत्वप्रतिपति	सत्प्रवृत्ति पद सत्प्रवृत्ति का उपयोग असं-गानुष्ठान	७-८

८. परादृष्टि

आठवीं परादृष्टि में योग के अंतिम अंग समाधि की संप्राप्ति होती है। धारणा से ध्यान और ध्यान से समाधि का कालक्रम योग साधना का विशेष रूप है। धारणा से प्रारम्भ होने वाली एकाग्र अवस्था ध्यानावस्था को पार करती हुई समाधि में पर्यवसान पाती है। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता एकंदेशीय अर्थात् अप्रवाह रूप होती है। ध्यान में चित्तवृत्ति का प्रवाह गतिमान होता रहता है। किन्तु गति में सातत्य नहीं रहता। अपितु अंतर्मुहूर्त में उसका विच्छेद हो जाता है। समाधि में चित्तवृति का प्रवाह विच्छिन्न रूप से होता है। यहाँ एकाग्रता का स्थापित्व होता है। क्योंकि ध्यान में बहुधा विक्षेप होता रहता है। ऐसे कारणों का यहाँ सर्वथा अभाव होता है।

इस परावृष्टि में बोध चन्द्र के उद्योत के समान शान्त एवं स्थिर होता है तथा विकल्पों का ह्रास होता है। प्रभादृष्टि में जो प्रतिपति गुण की प्राप्ति हुई थी, उसकी इस दृष्टि में पूर्णता प्राप्त होती है। बाह्य क्रियाओं का अभाव होने से यहाँ अंतरंग प्रवृत्ति प्राप्त होती है। जैसे उपशम श्रेणी इत्यादि का आरोहण होता है।

यहाँ खेदादि आठ दूषणों में अतिदूषण जो आसंग दोष है उसका त्याग होता है। इस दृष्टिवाले वीतराग महायोगी को परद्रव्य-परभाव के परमाणु के प्रति लेशमात्र आसक्ति नहीं होती।

अभी तक साधक को सांपरायिक कर्म का क्षय होता था। किन्तु इस दृष्टि में स्थित साधक को भवोपग्राही कर्म का क्षय होता है। यहाँ साधक की धर्मसंन्यास अवस्था पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है। समस्त दोष क्षीण हो जाते हैं। अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यहाँ योगी निर्विकल्प आत्म-समाधि में, सहजात्म स्वरूप अखण्ड स्थिति में, शुद्ध, शुक्ल आत्मध्यान में और जीवन मुक्त स्थिति में रहता है। आसंग दोष से मुक्त रहता है। अन्त में यथाख्यात परम वीतराग चारित्र प्रकट होता है। कर्मों का नाश करता हुआ गुणस्थानों पर चढ़ता हुआ सयोग केवली गुणस्थान पर पहुँचता है, और अन्त में अयोगी होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

परादृष्टि :

कोष्ठक नं. २०

दर्शन	**योगांग**	**दोषत्याग**	**गुणप्राप्ति**	**गुणस्थान**
चन्द्रमासम	समाधि	आसंगत्याग	प्रवृत्ति	८-९-१०-१२-१३ -१४
सम्पूर्ण केवल दर्शनज्ञान			आत्मस्वभावे प्रवृत्तिकरण	धर्म संन्यास योग क्षपक श्रेणी केवलज्ञान निर्वाण

कोष्ठक नं. २१

योगदृष्टि	**योगअंग**	**दोषत्याग**	**गुण प्राप्ति**	**बोध की उपमा**	**विशेषता**
मित्रा	यम	खेद	उद्वेग	तृण अग्निकण	मिथ्यात्व
तारा	नियम	उद्वेग	जिज्ञासा	गोमय अग्निकण	मिथ्यात्व
बला	आसन	क्षेप	सुश्रुषा	काष्ठ अग्निकण	मिथ्यात्व
दीप्रा	प्राणायाम	उत्थान	श्रवण	दीप प्रभा	मिथ्यात्व
स्थिरा	प्रत्याहार	भ्रांति	बोध	रत्नप्रभा	सम्यक्त्व
कांता	धारणा	अन्य मुद्	मीमांसा	तांराप्रभा	सम्यक्त्व
प्रभा	ध्यान	राग द्वेष	प्रतिपति	सूर्यप्रभा	सम्यक्त्व
परा	समाधि	आसंग	प्रवृत्ति	चन्द्रप्रभा	सम्यकत्व

आकृति नं. १०

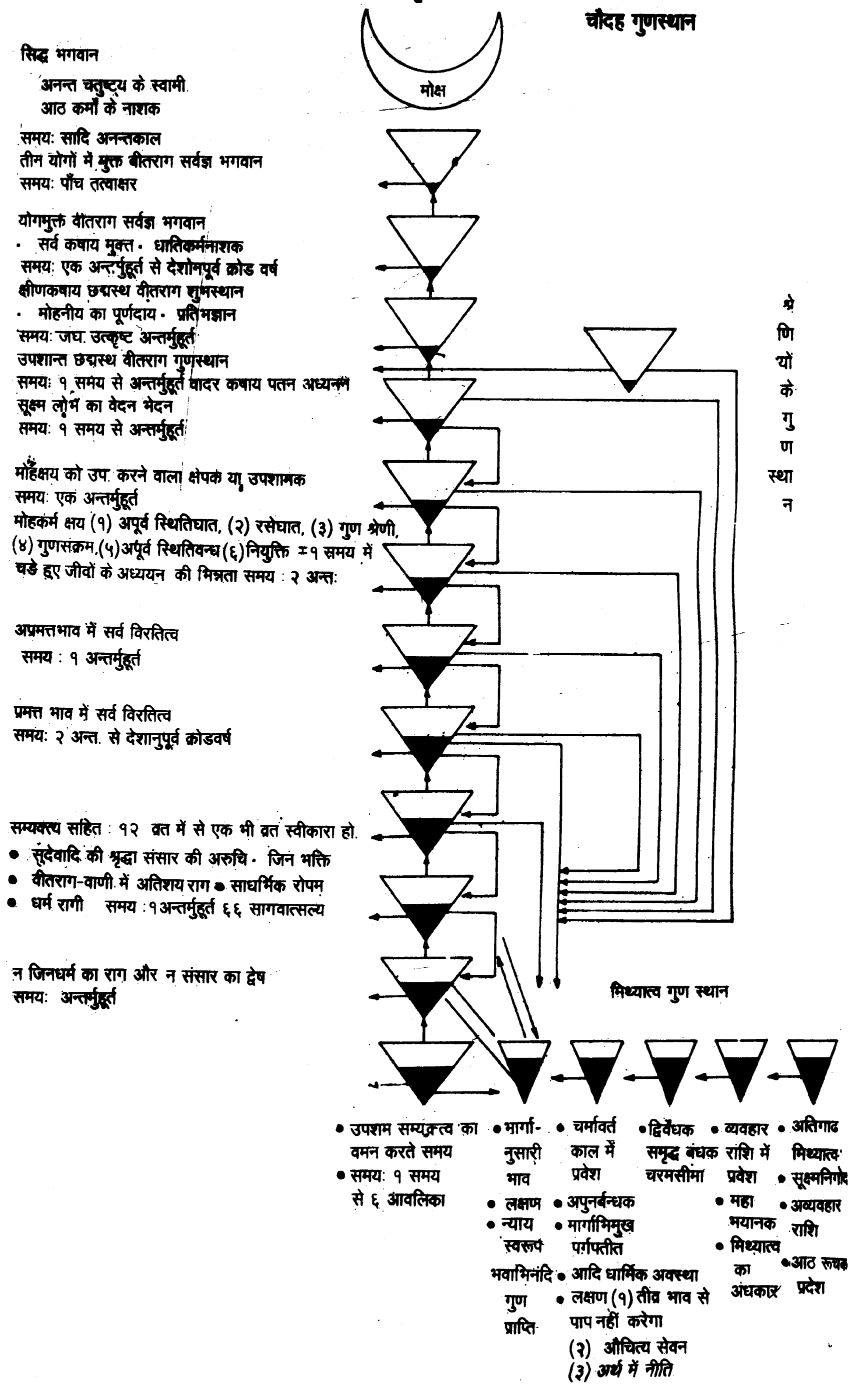
चौदह गुणस्थान
मोक्ष
सिद्ध भगवान
अनन्त चतुष्टय के स्वामी
आठ कर्मों के नाशक
समयः सादि अनन्तकाल
तीन योगों में मुक्त वीतराग सर्वज्ञ भगवान
समयः पाँच तत्वाक्षर
योगमुक्त वीतराग सर्वज्ञ भगवान
• सर्व कषाय मुक्त • घातिकर्मनाशक
समयः एक अन्तर्मुहूर्त से देशोनपूर्व क्रोड वर्ष
क्षीणकषाय छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान
• मोहनीय का पूर्णदाय • प्रतिभज्ञान
समयः जघ. उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त
उपशान्त छद्मस्थ वीतराग गुणस्थान
समयः १ समय से अन्तर्मुहूर्त बादर कषाय पतन अध्ययन
सूक्ष्म लोभ का वेदन भेदन
समयः १ समय से अन्तर्मुहूर्त
मोहक्षय को उप. करने वाला क्षेपक या उपशामक
समयः एक अन्तर्मुहूर्त
मोहकर्म क्षय (१) अपूर्व स्थितिघात, (२) रसघात, (३) गुण श्रेणी,
(४) गुणसंक्रम,(५)अपूर्व स्थितिबन्ध (६) नियुक्ति =१ समय में
चढ़े हुए जीवों के अध्ययन की भिन्नता समय : २ अन्त:
अप्रमत्तभाव में सर्व विरतित्व
समय : १ अन्तर्मुहूर्त
प्रमत्त भाव में सर्व विरतित्व
समयः २ अन्त. से देशानुपूर्व क्रोडवर्ष
सम्यक्त्व सहित : १२ व्रत में से एक भी व्रत स्वीकारा हो.
• सुदेवादि की श्रद्धा संसार की अरुचि • जिन भक्ति
• वीतराग-वाणी में अतिशय राग • साधर्मिक रोपम
• धर्म रागी समय :१अन्तर्मुहूर्त ६६ सागवात्सल्य
न जिनधर्म का राग और न संसार का द्वेष
समयः अन्तर्मुहूर्त
श्रे णि यों के गु ण स्था न
मिथ्यात्व गुण स्थान
• उपशम सम्यक्त्व का वमन करते समय
• समयः १ समय से ६ आवलिका
• मार्गानुसारी भाव
• लक्षण
• न्याय स्वरूप
भवाभिनंदि गुण प्राप्ति
• चर्मावर्त काल में प्रवेश
• अपुनर्बन्धक
• मार्गाभिमुख पर्गपतीत
• आदि धार्मिक अवस्था
• लक्षण (१) तीव्र भाव से पाप नहीं करेगा
(२) औचित्य सेवन
(३) अर्थ में नीति
• द्विबंधक समृद्ध बंधक चरमसीमा
• व्यवहार राशि में प्रवेश
• महा भयानक
• मिथ्यात्व का अंधकार
• अतिगाढ मिथ्यात्व
• सूक्ष्मनिगोद
• अव्यवहार राशि
• आठ रुचक प्रदेश

आत्म-दृष्टियों का विकास-क्रम

कोष्ठक नं. २२

आत्म-दशा	गुण-स्थान क्रम	ध्यान	विकासकाल	ज्ञान-प्रकाश	योगदृष्टि	आस्था
	०	रौद्र-आर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढ़ावस्था
	०	रौद्रआर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढ़ावस्था
	०	रौद्रआर्त	अविकास काल	०	औध दृष्टि	मूढ़ावस्था
	१	आर्त रौद्र	अविकास काल	तृण अग्नि-प्रभावत	मित्रा	क्षिप्ता-वस्था
	१	आर्त रौद्र	अविकास काल	गोमय अग्नि-प्रभावत	तारा	क्षिप्ता-वस्था
	२	आर्त रौद्र	अविकास काल	काष्ट अग्नि-प्रभावत	बला	विक्षिप्त
	३	आर्त रौद्र	अविकास काल	दीपप्रभावत	दीप्रा	विक्षिप्त
	४	आर्त रौद्र धर्म	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	५	आर्त रौद्र	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	६	आर्त धर्म	विकास काल	रत्नप्रभा	स्थिरा	एकाग्र
	७	धर्म	विकास काल	तारा की प्रभा	कान्ता	एकाग्र
	८-१२	धर्म शुक्ल	विकास काल	सूर्यप्रभावत	प्रभा	निरुद्ध
	१३	शुक्ल	पूर्णविकास काल	चन्द्रप्रभावत्	परा	निरुद्ध
	१४	परमशुक्ल	पूर्ण विकास काल	चन्द्रप्रभावत्	परा	निरुद्ध

योगीमहात्माओं के प्रकार

गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और निष्पन्नयोगी ऐसे योगियों के सामान्यतः चार भेद माने गये हैं[१६] इनमें कुलयोगी और प्रवृत्त चक्रयोगी योगशास्त्र के

१६. योगदृष्टि समुच्चय गा. २०८

अनुसार योग के दो अधिकारी माने गये हैं। गोत्रयोगी में योगीजन्य योग्यता का अभाव होता है, अतः वे योगीजनों के लिए अनधिकारी होते हैं। निष्पन्न सिद्धयोगी को योगसिद्ध की पूर्णाहुति हो गई है अतः ऐसे सिद्ध योगी को योग प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती है।

चार प्रकार के योगी

कोष्ठक नं. २३

नाम	गोत्रयोगी	कुलयोगी	प्रवृत्तचक्रयोगी	(निष्पन्न) सिद्धयोगी
व्याख्या	भूमि भव्य आदिनाम धारी	योगीकुल में जन्म हुआ हो अथवा योगी धर्म को अनुसरण करने वाला	जिसका अहिंसादि योग चक्र प्रवृत्त है, चलने लगा है	जिसे योग निष्पन्न सिद्ध हैं
लक्षण	यथायोग्य गुणविहीन नाम-धारी	सर्वत्र अद्वेषी गुरु-देव-द्विज, प्रिय, दयालु, विनीत, बोधवत, यतेन्द्रिय	इच्छायम-प्रवृत्ति यम को प्राप्त हुये स्थिर यम अर्थी शुश्रुषादि गुणयुक्त, अवंचक त्रययुक्त।	योगसिद्धि को प्राप्त समर्थ योगी
इस ग्रन्थ के योग्या-योग्य	अयोग्य	योग्य	योग्य	अयोग्य
कारण	योग्यता की असिद्धि	यथायोग्यता	यथायोग्यता	सिद्धिभाव प्राप्ति

पंचम-विभाग

(५) प्रयोग एक : योग अनेक–समस्या और समाधान की फलश्रुति में

अध्याय १. जड़ बन्धनों से मुक्त होने का परम उपाय-अध्यात्म
(अध्यात्म-योग)

अध्याय २. बहिर्मुख से अन्तर्मुख चेतना की जागृति का सम्पर्क सूत्र-भावना
(भावना-योग)

अध्याय ३. ध्यान वृत्ति शोधन एक सफल प्रयोग
(ध्यान-योग)

अध्याय ४. आंतरिक शोधन समत्व की प्रयोगात्मक विधि से
(समत्व-योग)

अध्याय ५. वृत्तिओं के प्रभाव से आवेगों और शारीरिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन
(वृत्ति संक्षय योग)

१. जड़ बन्धनों से मुक्त होने का परम उपाय – अध्यात्म

१. षड्द्रव्यात्मक आत्मस्वरूप तात्त्विक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में,
२. अंतर्दृष्टि, आत्मसंयोग, आत्मसाक्षात्कार, ज्ञाता-दृष्टा के रूप में,
३. आत्मिक विकास से तैजस् लब्धि की उपलब्धि,
४. अध्यात्मयोग में साधक और बाधक तत्त्व,

(१) पदार्थों का आकर्षण
(२) नौका-शरीर नाविक-आत्मा में आधार और आधेय
(३) ममत्व की मूर्च्छा है
(४) आत्मोन्नति का विकासक्रम।

अध्यात्म योग

अध्यात्म शब्दार्थ

अंध्यात्म शब्द **'अधि'** और **'आत्मा'** इन दो शब्दों के समास से बना है। शुद्ध स्वरूप को लक्ष्य में रखकर तद् अनुसार विचरण करना आध्यात्मिक जीवन या अध्यात्मयोग है। जड़ और चेतन ये संसार के दो तत्व हैं। ये दोनों तत्व एक-दूसरे के स्वरूप को जाने बिना नहीं जाने जा सकते। उनका यथायोग्य निरूपण अध्यात्म के विषय से ही किया जाता है।

आत्मा है, आत्मा सुख-दुःख का कर्ता है, सुख-दुःख का भोक्ता है, परिणामि नित्य है, जड़ बन्धनों से मुक्त होने का उपाय है और मोक्ष है। इन षड् भेदों के संयोग-वियोग जन्य अनेक प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। अतः आत्मा की विभाव दशा कर्मजन्य संसर्ग का कारणभूत है।

कर्म का संसर्ग आत्मा को किस प्रकार होता है? यह संसर्ग सादि है या अनादि? यदि अनादि है तो उसका उच्छेद कैसे हो सकता है? कर्म का स्वरूप कैसा है, कर्म के भेदानुभेद कौन-कौन से हैं? कर्म के बन्ध, उदय और सत्ता किस प्रकार नियमबद्ध हैं?

इस समय आत्मा किस दशा में है? वह अपनी मूल स्थिति को पा सकता है या नहीं और पा सकता है तो किस तरह? इत्यादि समस्याओं का समाधान पाना है तो अध्यात्म योग का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त अध्यात्म के विषय में मुख्यतया संसार (भवचक्र) की निस्सारता और निर्गुणता का, राग-द्वेष-मोहरूपी दोषों के कारण भवाटवी में जो भ्रमण करने और क्लेश सहने पड़ते हैं उनका यथातथ्य चित्रण किया जाता है। भिन्न-भिन्न प्रकार से भावनाओं को समझाकर मोह-ममता का निरोध करना ही अध्यात्मयोग का प्रधान लक्ष्य होता है।

मोक्षाभिलाषी आत्मा निरन्तर साधना में संलग्न रहता है, आराधना में आसीन रहता है, उपासना में स्थिर रहता है और संयोग-वियोग से परे रहता है, इसे अध्यात्मयोग कहते हैं, अतः मुनि महर्षि महात्माओं और महायोगियों के लिए यह चिन्तन, मनन, अध्ययन, परिशीलन का विषय है।

अध्यात्मयोग कुछ विशेष लक्षणों से युक्त होता है, जो साधक को उसके अधिकार से न केवल अध्येता ही, अपितु प्रयोगकर्ता बनाकर परिणमनशील भी बना देता है।

व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

व्युत्पत्यार्थ स्वरूप में अध्यात्म को देखा जाये तो अनुभूत होता है कि **"आत्मानमधिकृत्य यद्वर्तत तद्ध्यात्मकम्"** आत्मा को अधिकृत करने जो वर्तता है उसे अध्यात्म कहते हैं।

स्वात्मा में संलीन साधक के सम्मुख बाह्य-पदार्थ विद्यमान होने पर भी उसका उसे कुछ भी असर नहीं होता, क्योंकि बाह्य-विकल्पों से विमुख होकर सम्यक् धर्मध्यानादि आत्म स्वरूप का चिन्तन करना ही अध्यात्म तत्व है। अतः इसी हेतु यहाँ अध्यात्म की परिभाषा बन गई। **'सम्यग्धर्मध्यानादि भावना अध्यात्म।'**

यहाँ सम्यग्धर्मध्यानादि भावना का तात्पर्य यही है कि ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना और वैराग्यभावना ये चारों धर्मध्यान की भावनाएँ अध्यात्मयोग की चरमावस्था है, अतः शीलांकाचार्य ने इस परिभाषा में अध्यात्मयोग से भावना योग में कैसे प्रवेश किया जाय उसका उपाय बताने की कोशिश की है।

अध्यात्म की अनुभूति तात्त्विक चिन्तन का विषय है। तात्त्विक चिन्तन से ही औचित्य क्या है, क्या नहीं का निर्णय होता है अतः हरिभद्रसूरि ने औचित्यादि से युक्त समस्त तात्विक चिन्तन को ही अध्यात्म[1] कहा है।

---

१. तत्वचिन्तनमध्यात्म-मौचित्यादियुत्तस्य (योगबिन्दु गा. ३८० पूर्वार्द्ध)

अध्यात्मयोग की दूसरी परिभाषा हरिभद्रसूरि ने जप[२] के रूप में प्रस्तुत की है; अध्यात्म चिन्तन की पूर्व भूमिका जप है। जप से तात्विक चिन्तन परम और चरम अवस्था की प्राप्ति करता है।

अभयदेवसूरि ने "अध्यात्म को ध्यानयुक्त[३] कहा है" इस परिभाषा से हम एक विशेष लक्ष्य की ओर पहुँचते हैं। यदि ध्यानयुक्त अध्यात्म की ओर हमारा दुर्लक्ष्य होगा, तो हम अनाध्यात्म में पहुँच जायेंगे अतः अभयदेवसूरि की यह परिभाषा लक्ष्य सूचक है।

उपाध्याय यशोविजयजी ने अध्यात्म की परिभाषा विभिन्न स्वरूप में प्रस्तुत की है—

१. आत्मा के लिए की जाने वाली आत्मा की शुद्ध क्रिया अध्यात्म है[४]।

२. आत्मा को ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पंचाचार में निहित होना अध्यात्म है[५]।

३. बाह्य व्यवहार से महत्त्व प्राप्त चिन्तन को मैत्री आदि चार भावनाओं से भावित करना अध्यात्म है[६]।

उपाध्यायजी की नं. २ की परिभाषा शीलांकाचार्य की परिभाषा से कुछ विशेषता बताती है। शीलांकाचार्य ने धर्मध्यान की ज्ञानादि भावना को अध्यात्म बताया है किन्तु उपाध्यायजी ने इसे ज्ञानादि भावना तक ही अध्यात्म को सीमित नहीं रखा उन्होंने उन भावनाओं से भावित होकर उसे आचरण तक पहुँचाने को अध्यात्म कहा है।

नं. ३ की परिभाषा में उपाध्याय जी का मंतव्य है कि चित्त विशेषतः बाह्य व्यवहार से संयुक्त होता है। अध्यात्मचित्त बाह्याभिमुख चित्त को अन्तर्मुख बनाता है और मैत्री आदि भावनाओं से भावित करता है अतः इस परिभाषा के अनुसार अध्यात्म बहिरात्मा से अंतर्रात्मा में प्रवेश कराता है।

---

२. जपोह्यध्यात्ममुच्यते - (योगबिन्दु गा. ३८१)
३. अजज्झप्पज्झणजुत्ते - (अध्यात्मध्यानयुक्त) (प्रश्नव्याकरण सूत्र ३. सं. द्वा.)
४. अध्यात्मसार - प्र. १, अ.२, श्लो. २
५. अध्यात्मउपनिषद् अ. १, श्लो. २
६. अध्यात्मउपनिषद् अ. १, श्लो. ३

आत्मा की अनुभूति अध्यात्म ज्ञान से होती है। आत्मा का बन्धन और बन्धन की मुक्ति का उपाय जानने वाला आत्मज्ञानी कहलाता है।

उपर्युक्त अध्यात्म की सर्व परिभाषाएँ जब उचित प्रवृत्ति रूप अणुव्रत, महाव्रत से युक्त होती हैं, आगमानुसार मैत्री आदि भावना से युक्त होती हैं और तत्व चिन्तन से संयुक्त होती हैं, तब अध्यात्म योग कहा जाता है[७]।

अध्यात्मयोग का स्वरूप

योग्यतानुसार यथोचित धर्मप्रवृत्ति (तप, जप, पूजा, अर्चना, कायोत्सर्ग आदि) में जो प्रवृत्त होता है, उसे आत्मसंप्रेक्षण आत्महितबुद्धि या आत्मस्वरूप का बोध होता है[८]। क्योंकि साधक को सन्मार्ग की ओर गतिशील कराने वाला परमतत्व का यथार्थ ज्ञान दर्शाने वाला, अध्यात्म ही एकमात्र परम उपाय है[९]। ऐसा अध्यात्म प्रथम गुणस्थानावर्त अपुनर्बन्धक अवस्था से लेकर क्रमशः विशुद्ध विशुद्धत्तर और विशुद्धतम रूप धारण कर चतुर्दश गुणस्थान तक प्राप्त होता है[१०]अतः आत्मा के लिए जो भी शुद्ध अनुष्ठान किया जाता है जिनेश्वर भगवन्तों[११]ने उसे अध्यात्म कहा है। ऐसा अध्यात्मभाव सामायिक छेदोपस्थापनीय रूप मोक्ष साधना योग में सर्वत्र व्याप्त होता है[८]।

अध्यात्म योग के बल से ही साधक को आत्मा और शरीर का अथवा जड़ या चेतन का गहरा और महत्त्वपूर्ण भेद ज्ञान प्राप्त होता है।

योग की प्राथमिक. भूमिका पर आरूढ़ होने वाले साधक की अंतर्दृष्टि जब उजागर होती है तब अज्ञान समाप्त हो जाता है। इससे पूर्व अज्ञान का एकछत्र साम्राज्य रहता है। अंधकार ही अंधकार। सर्वत्र सघन अंधकार। केवल बहिर्दर्शन, केवल पौद्गलिकता में ही ममत्व की तरंगें। उन ममत्व की तरंगों के सामने कोई प्रतिरोधक शक्ति नहीं होती। उस अज्ञान अवस्था के सामने कोई रुकावट नहीं होती, कोई अवरोध नहीं होता। जैसे ही अंतर्दृष्टि खुलती है, ममत्व के समक्ष प्रतिरोध की शक्ति खड़ी हो जाती है और अज्ञानता टूट जाती है।

अध्यात्मयोग का अर्थ है - आत्मसंयोग आत्मसाक्षात्कार। शरीर के बाहर का संयोग या शरीर के भीतर का संयोग अध्यात्मयोग नहीं है। चाहे हम शरीर को बाहरी

---

७. योगबिन्दु - गा. ३५७
८. योगबिन्दु - श्लो. ३८९
९. योगबिन्दु - श्लो. ६८
१०. अध्यात्मसार - श्लो. ४
११. अध्यात्मसार - श्लो. ३

रूप में देखें, चाहे हम शरीर को भीतरी रूप में देखें, यह अंतर्दर्शन नहीं है। अंतर्दर्शन कुछ और होता है। वह है देह से परे कुछ है, ऐसा भान हो जाना। जब साधक अध्यात्मयोगी होता है तब उसे भान होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर अचेतन है, मैं चेतन हूँ। शरीर पुद्‌गल है, मैं अपुद्‌गल हूँ। शरीर मूर्त है, मैं अमूर्त हूँ। अचेतन, पुद्‌गल और मूर्त के प्रतिपक्ष में नये तथ्य का उदय होता है, नये रहस्य का उद्‌घाटन होता है। चेतन, अ-पुद्‌गल और अमूर्त का भान होता है।

आत्मा और शरीर के विषय में सभी की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। कुछ दार्शनिकों ने आत्मा में सत्ता की स्थापना की है तो कुछ दार्शनिकों ने शरीर की सत्ता को स्वीकार किया है। आत्मा अमूर्त होने से उसके विषय में अनेक समस्याएँ उठना स्वाभाविक है क्योंकि हमारे जीवन का सारा बाह्य स्वरूप, सारा परिवेश और सारा वातावरण पुद्‌गल का है। हमारी आंखें पौद्‌गलिक हैं। हमारा मन पौद्‌गलिक है। हमारी भाषा पौद्‌गलिक है। हमारा समस्त रूपी (शब्द, रूप, रस, गंध) पदार्थ पौद्‌गलिक है। हमारी स्मृति पौद्‌गलिक है। हमारी बुद्धि पौद्‌गलिक है। इस प्रकार मनन, चिन्तन, इन्द्रियाँ इत्यादि सब कुछ पौद्‌गलिक हैं। फिर हमारे पास ऐसा कौन-सा सबल प्रमाण रहा जो अपौद्‌गलिक सत्ता की स्थापना कर सके ?

अध्यात्म का विकास जिस व्यक्ति में होता है वह इस शाश्वत प्रश्न का समाधान तात्विक चिन्तवना से, तार्किक बुद्धि से, दार्शनिक धरातल से, दर्शन की उपलब्धि से, अनेक मार्मिक निर्णयों, समीक्षाओं और संकल्पों के आधार पर, आत्मा और अनात्मा, चेतन और अचेतन, पुद्‌गल और अपुद्‌गल के आधार पर अपने आप उद्‌घटित करता रहता है। जिस साधक को मन के साथ तैजसलब्धि का संयोग प्राप्त होता है वह अंतर्मुहूर्त में 'चौदह पूर्वों' का परावर्तन कर सकता है। "चौदह पूर्व अर्थात् ज्ञान के भंडार हैं। उनका परावर्तन ४८ मिनट में तैजसलब्धि की शक्ति का द्योतक है। जिसे वचनबल के साथ तैजसलब्धि का संयोग प्राप्त है वह चौदह पूर्वों का उच्चारण अंतर्मुहूर्त में कर सकता है। जिसकी तैजसलब्धि विशेष बलवती होती है वही चतुर्दश पूर्वी योगी है और सम्पूर्ण ज्ञान को अंतर्मुहूर्त में प्राप्त करने की क्षमता वाला है।

योग के क्षेत्र में योग के द्वारा ऐसा विस्फोट होता है कि स्वयं का समाधान स्वयं से हो जाता है। वहाँ ममता की दीवारें टूट जाती हैं और स्पष्ट अनुभव होने लगते हैं कि मैं वह हूँ जो ज्ञाता है, द्रष्टा है। आत्मा का एकमात्र लक्षण ही ज्ञाता और द्रष्टा है। शुद्ध चैतन्य का उपयोग ही केवल ज्ञाता और द्रष्टा है। जहाँ कोई राग नहीं है, कोई द्वेष नहीं है। ज्ञाता और द्रष्टा का अर्थ है – राग-द्वेष से मुक्त होना, वर्तमान में जीना, वीतराग भाव में जीना।

जिस साधक ने अध्यात्म योग साध्य कर लिया है वही आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है, उसी आत्मा को ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। उस भूमिका पर पहुँच कर वह कहता है कि "मैं शरीर नहीं हूँ।" "मैं पुद्‌गल नहीं हूँ।" "मैं मूर्त नहीं हूँ।" "यह अध्यात्म योग की ही भूमिका हो सकती है। यहाँ चिन्तन की जो विक्षिप्त अवस्था थी, उसमें परिवर्तन आ जाता है। उसका भ्रम टूट जाता है और वह कहने लगता है कि, "मैं शरीर नहीं हूँ।" तब इससे चिन्तन का एक स्रोत निकलता है जिसे हम योग कहते हैं। आज तक यह भ्रम था कि मैं और शरीर दोनों एक हैं जहाँ मैं हूँ वहाँ शरीर है जहाँ शरीर है वहाँ मैं हूँ। पर अध्यात्म योग ने इस ज्ञान को उजागर किया अतः इससे स्पष्ट प्रतीत हो गया कि शरीर अन्य है, मैं अन्य हूँ। इसे ही जड़ और चैतन्य का विवेक ज्ञान कहा जाता है। एक बार स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिये कि मैं शरीर से भिन्न हूँ और राग पर इतना तीव्र प्रहार होना चाहिए कि मोह अपने आप छिन्न-भिन्न हो जाये। क्योंकि सर्वाधिक मोह शरीर पर ही होता है। शरीर साधन है फिर भी शरीर को ही सब कुछ मानकर कार्य किया जाता है। जब तक ममत्व बुद्धि छायी है, अहंकार समाप्त नहीं होगा, वासना का तूफान शान्त नहीं होगा, कामनाएँ अनेक रूप धारण करती रहेंगीं, भोग की लालसाएं भभकती रहेंगी। जब सारी मूर्च्छा विलीन हो जाती है, सारी दरारें मिट जाती हैं तब यह स्पष्ट बोध होता है कि मैं शरीर नहीं हूँ। इस बोध के साथ-साथ सारी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। "यह शरीर मेरा नहीं है" "मैं शरीर नहीं हूँ, मूर्च्छा का कुहरा खुल जाता है। "यह शरीर मेरा नहीं है।" अंधकार के बादल मिट जाते हैं। वह अनासक्तयोगी बन जाता है जो सम्पूर्ण समत्व में रह कर दिशा पकड़ लेता है, उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ऐसे साधक अध्यात्म योग की साधना में स्थिर हो जाते हैं। मोह ग्रन्थि का विभेद होते ही शरीर की भिन्नता प्रतीत होती है, उसका भ्रम टूट जाता है और चैतन्य स्वरूप का बोध होने लगता है। वह जान लेता है कि मैं कौन हूँ, मुझे क्या करना है ? कहाँ जाना है ? जब मोह की गांठें खुल गयीं—"मैं शरीर नहीं हूँ, "शरीर मेरा नहीं है" तब नये चैतन्य का उदय होता है। जिसने यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि शरीर भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उसे शरीर के प्रति कभी ममत्व नहीं रहेगा, उसे पदार्थों के प्रति कभी आसक्ति नहीं उठेगी।

भगवान् महावीर की दृष्टि में—शरीर नौका है और आत्मा नाविक है।[१२] यहाँ नौका और नाविक एक-दूसरे के लिए आधार और आधेय के रूप में प्रस्तुत हैं, किन्तु दोनों अपने रूप में स्वतन्त्र हैं। नाविक के लिए आवश्यक है कि नौका को संभालकर रखे,

---

१२. उत्तरा. - २३/७३

किन्तु उससे जुड़े नहीं। वह यह भी स्पष्ट जानता है कि जब तक किनारा न मिले तब तक उसके लिए नौका की आवश्यकता है, क्योंकि नौका ही पार उतारने में समर्थ है। जैसे ही किनारा मिल गया नौका उसके लिए निरर्थक है, व्यर्थ नौका का कोई उपयोग नहीं, नौका नौका के स्थान पर उपयोगी है, नाविक नाविक के स्थान पर। नौका का उपयोग हो सकता है, उपभोग नहीं। उपभोग वहाँ होता है जहाँ शरीर और आत्मा को भिन्न नहीं माना जाता। तट आने पर भी नौका अलग नहीं रहती। उसने नौका को अपना आधार मान लिया, नौका के सामर्थ्य से ही मैं किनारा पा सका। इसे मैं क्यों छोड़ूँ? ममत्व बुद्धि ने ऐसी भ्रान्ति पैदा कर दी जिससे नौका और नाविक भिन्न होने पर भी एक रूप अनुभूत हो रहे हैं। मिथ्यादृष्टि नौका से जुड़ जाता है। क्योंकि नौका से पार होने की और सुरक्षा होने की बुद्धि उसमें विद्यमान है किन्तु उपभोग होने से उपयोग बुद्धि उजागर नहीं होती। नौका को साधन मात्र मानने की मति अध्यात्म योगी में जन्म लेती है, जो नौका को केवल साधन मानता है और प्रयोजन सिद्ध होने पर उसे छोड़ देता है।

सभी संघर्षों का एकमात्र कारण है साधन से चिपकाव—जुड़ जाना। शरीर भी एक साधन है, सभी पदार्थ एक सामग्री हैं, जो साधन और सामग्री से जुड़ा रहता है, वह सबके साथ जुड़ा रहता है। जो साधन और सामग्री के साथ जुड़ा हुआ नहीं है वह किसी के साथ भी जुड़ा हुआ नहीं होता। अतः साधक साधन और सामग्री का उपयोग करे किन्तु उपभोग की लालसा जागृत न करे। प्रत्येक सामग्री की सुरक्षा करना साधक का कर्त्तव्य है किन्तु उपभोग करना नहीं। ऐसा साधक अध्यात्म योगी है। उसी साधक में द्वन्द्व या संघर्ष पैदा नहीं होता जो सामग्री का उपभोग करता है। क्योंकि वह मानकर चलता है कि शरीर और पदार्थ मात्र साधन और सामग्री है एक उपयोगिता है, चिपकाव की वस्तु नहीं है। अध्यात्म योगी स्वयं उसका अनुभव करता है।

मैं और पदार्थ, पदार्थ और मैं, दोनों में प्रत्यक्ष अन्तर स्पष्ट होता है किन्तु ममत्व ने ऐसा घेरा डाला है कि साधक सोचता है मेरा घर है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी दुकान है, दुकान और मैं जितने भिन्न हैं उतने ही योगी और भोगी में अन्तर होता है। एक अपने को पदार्थों से भिन्न मानता है और दूसरा अपने को पदार्थों से अभिन्न मानता है। अभिन्न मानने वाला वस्तुनिष्ठ होने से उसके संयोग में खुश और वियोग में नाखुश है[१३] और साधन मानने वाला संयोग और वियोग उभय में मध्यस्थ रहता है। उससे साधन-सामग्री का ममत्व छूट जाता है। ममत्व ही संसार है, ममत्व ही उपभोग है,

---

१३. मंदा मोहेण पाउडा - आ. श्रु-१ अ-२, उ-२, सु. ७०

ममत्व ही मूर्च्छा है, ममत्व ही प्रमाद है। ममत्व टूटते ही कोई संदेह नहीं रहता, कोई भय नहीं रहता। संदेह और भय तो अज्ञान है। मैं और पदार्थ की भिन्न अवस्था में ही यह ज्ञान विकसित हो सकता है, ज्ञाता और द्रष्टा का भाव विकसित हो सकता है। उस स्थिति में बहुत सारी विषमताएँ टूटने लगती हैं तथा विकृतियाँ भी एक-एक कर खंडित होती जाती हैं। ज्ञाता और द्रष्टा भाव स्वभाव है। जब आदमी ज्ञाता और द्रष्टा हो गया तो फिर विभाव ही समाप्त हो गया। अध्यात्म एक ऐसा योग है जहाँ साधक ज्ञाता भाव और द्रष्टा भाव में सहज रह सकता है।

द्रष्टाभाव का मतलब है देखना। दृष्टि दो प्रकार की होती है– १. बाह्य, २. आंतरिक। बाह्य दृष्टि है देखनेवाला अपने को कुछ मानकर देख रहा है। जैसे–अपने को इन्द्रिय मानकर विषयों को देख रहा है, अपने को मन मानकर इन्द्रिय को देख रहा है, अपने को बुद्धि मानकर मन को देख रहा है, अपने को अहं मानकर मन को देख रहा है।

इस प्रकार बाह्य इन्द्रिय 'विषयों' का द्रष्टा है, मन 'इन्द्रियों' का द्रष्टा है और अहं'' ''बुद्धि'' का द्रष्टा है। इन्द्रिय दृष्टि की सत्यता का प्रभाव मोह उत्पन्न करता है और मोह भोग में प्रवृत्त होता है, किन्तु बुद्धि दृष्टि की सत्यता मोह को वैराग्य में और भोग को योग में परिवतर्तित करता है। जब मोह त्याग में और भोग योग में परिवर्तित होता है तब ज्ञाताभाव और दृष्टाभाव आंतरिक रूप में बदल जाता है। अध्यात्मयोगी अपने आपको देखता है और अपने आपको जानता है।

अध्यात्मयोग के भेद

अध्यात्मयोग के चार भेद हैं – नाम अध्यात्म, स्थापना अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म एवं भाव अध्यात्म।[१४] आत्मा का शुद्ध परिणाम भाव अध्यात्म है।

इन चार प्रकार के अध्यात्म में भाव अध्यात्म मोक्ष का कारण है, अतः भाव अध्यात्म की प्राप्ति के लिये मन की निर्मलता अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार सुवर्ण पर आच्छादित मल और सुपंग एक रूप प्रतीत होने पर भी मल स्वर्ण में अंतर्भूत नहीं है पर आवरणभूत है, वैसे ही मात्र अध्यात्म की स्थिति वाला शुद्ध आत्मा कर्म रूप मलद्रव्य से आच्छादित है, फिर भी अंतर्भूत न होने से वह भाव अध्यात्म की स्थिति का अधिकारी है। कर्म का अधिकार समाप्त होते ही आत्मा का जो स्वतः अधिकार होता है, उस अधिकार की जो क्रिया है, वह भाव अध्यात्म कहलाता है। वह आत्मज्ञान एक

१४. श्री अध्यात्ममत - परीक्षा गा. २

वस्तु होने से बोधरूप है, अतः उसे ज्ञान कहते हैं। रुचि रूप होने से उसे सम्यकत्व दर्शन कहते हैं और प्राणातिपातादिक आश्रव निरोध रूप होने से उसे चारित्र कहते हैं।[१५]

इस प्रकार अध्यात्मयोगी दुराग्रह का त्याग, अद्वेषभाव, तत्त्वशुश्रूषा, सन्त-समागम, सत्पुरुषों की प्रतिपति, तत्त्वश्रवण, कल्याण-भावना, मिथ्यादृष्टि का विनाश सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों का नाश, इन्द्रियों पर संयम मनःशुद्धि, ममता का त्याग, समता का प्रादुर्भाव, चित्त की स्थिरता, आत्मस्वरूप में रमणता, ध्यान का प्रवाह, समाधि का आविर्भाव, मोहादि आवरणों का क्षय और अन्त में केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति – इस प्रकार मूल से लेकर क्रमशः होने वाली आत्मोन्नति का वर्णन अध्यात्मयोग में किया जाता है। इस अध्यात्मयोग में प्रवेश पाने के लिए सर्वप्रथम आत्मा को जानना आवश्यक है। अतः जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चेतनमय अरूप सत्ता है[१६] उपयोग (चेतन की क्रिया) उसका लक्षण है[१७]। ज्ञान, दर्शन, सुख, दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है[१८]। शब्द रूप, गन्ध, रस और स्पर्शना से वह रहित है[१९]। अर्थात् आत्मा चैतन्य स्वरूप है, परिणामी स्वरूप होने से विभिन्न अवस्थाओं में परिणत है, स्वयं कर्ता और भोक्ता है। सत् और असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उसका फल भोगनेवाला स्वेदेश - परिणाम, न अणु न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिणाम रूप है। अतः अध्यात्मयोगी ही इसे समझने में सफल है।

---

१५. श्री अध्यात्ममत – परीक्षा गा. ३
१६. अरूपी सत्ता – आचारांग सूत्र ६/१/३३२
१७. जीवोउवओग लक्खणो – उत्तराध्ययन २०-१०
१८. माणेणे दंसणेण च सुहेण य दुहेण य – उत. २८-१०
१९. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे ण रसे ण फासे – आचारांग सूत्र - ४/६/४९६

२. बहिर्मुख से अन्तर्मुख चेतना की जागृति का सम्पर्क-सूत्र – भावना

१. अध्यात्म और ध्यान का केन्द्र बिन्दु–भाव,
२. संस्कार जनित चिन्तन धारा का प्रवाह,
३. प्रकृति से विकृति का नाश मानसिक अनुशीलन से,
४. यौगिक भावना से आंतरिक अलिप्तता,
५. नित्यानित्य की चिन्तन धारा में वैराग्य,
६. संसार के प्रति अरुचि, औदासिन्य भाव या उपेक्षा।

भावनायोग

भावनायोग वह सेतु है जिसका एक छोर अध्यात्म योग है और दूसरा ध्यान योग। अध्यात्मयोगी अध्यात्म की साधना में निरन्तर विकास करता हुआ एक ऐसी उर्वर भूमि तैयार करता है जिसमें भावना के बीज बोये जाते हैं। भावना ही एक ऐसा बीज है जिससे अध्यात्मयोगी भेद ज्ञान को स्पष्ट करने में समर्थ हो सकता है। विवेक चेतना जागृत कर सकता है, अप्रमत्तयोगी बन सकता है, यह भावना योग की अंतिम भूमिका नहीं है। किन्तु विकास की प्रथम भूमिका अवश्य है। इसके होने पर ही भावना के दृढ़ संस्कार का विकास हो सकता है। जब अध्यात्मयोग सधता है तब ही विकास की नयी-नयी दिशाएँ उद्घाटित होने लगती हैं।

भावना योग का दूसरा छोर है ध्यान। ध्यान की समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना भावना है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है, अथवा जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है उससे मन में दृढ़ संस्कार जम जाते हैं, अतः उस संस्कार या चिन्तन को भावना कहा जाता है। इस प्रकार भावना योग अध्यात्म योग का दृढ़ संस्कार और ध्यान योग की पूर्व भूमिका है।

योग का अर्थ होता है – जोड़ना। आत्मा को आत्मा से जोड़ना, आत्मा को आत्मा में रमण करना इत्यादि भावना योग का विषय है। इन्हीं भावनाओं के सहयोग से आत्मा और परमात्मा का संयोग होता है। जैन आगमों में भावना योग के सम्बन्ध में बड़ा ही गम्भीर चिन्तन मिलता है। भावना के विविध प्रकार उसके अलग-अलग स्वरूप एवं उपलब्धियों पर इतना विस्तृत विचार जैन आगमों में मिलता है कि उसका सम्पूर्ण अनुशीलन करने में स्वयं स्वार्थसिद्धि के देव भी असमर्थ होते हैं।

आगमोत्तरवर्ती आचार्य तो भावना योग के सम्बन्ध में और भी गहरे उतरे हैं। उन्होंने तो इस भावना लक्षी विविध पहलुओं पर विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है और साधक जीवन पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का विश्लेषण भी किया है।

भावव्युत्पर्त्यय

भाव शब्द की व्युत्पत्ति - षट्खंडागम की धवला टीका में **"भावनं भावः या भूर्विवाभावः**[१]" के रूप में और तत्त्वार्थ राजवार्तिक में **'भावनं भवतीतिवा भावः**[२] के रूप में प्राप्त होती है।

भावशब्दार्थ एवं परिभाषा

भाव शब्द का अर्थ है - विस्तार, अभिप्राय आचार्य शीलांकाचार्य ने भी 'भावश्चित्ताभिप्रायः' चित्त[३] का अभिप्राय भाव बताया है। सूत्रकृतांग टीकाकार ने अन्तः करण की परिणति **विशेष**[४] को भाव कहा है।

शब्द जब मन द्वारा विचारों में बार-बार आप्लावित किया जाता है तब वही विचार भावना का रूप धारण कर लेता है। आवश्यकसूत्र की हरिभद्रीय - टीका में भावना का परिमार्जित स्वरूप बताते हुए आचार्यश्री ने लिखा है कि "जिसके द्वारा मन को भावित किया जाये"[५] उसे भावना कहते हैं। इसी भावना को आचार्य ने "वासना"[६] कहा है।

आचार्य मलयगिरि के शब्दों में "भावना को परिकर्म"[७] कहा है। यह परिभाषा आचार्य हरिभद्रसूरि से मिलती-जुलती है। क्योंकि परिकर्म अर्थात् विचारों को बारम्बार भावना से भावित करना। "सतत् अभ्यास"[८] का सातत्य ही धीरे-धीरे भावना का रूप धारण करता है। इसी प्रकार क्रिया का सम्यक् अभ्यास भावना के रूप में पाया जाता है[९]।

आगम में कहीं-कहीं भावना को अनुप्रेक्षा भी कहा गया है। स्थानांगसूत्र में ध्यान के प्रकरण में धर्मध्यान आदि की चार अनुप्रेक्षा बतायी गई हैं। वहाँ अनुप्रेक्षा का अर्थ भावना किया है। आचार्य उमास्वाति ने भी भावना के स्थान पर अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग किया है[१०]।

---

१. धवला पुस्तक - ५/१, ७, १/१८४/१०
२. तत्त्वार्थराजवार्तिक - १/५/२८/९
३. आचारांग टीका - श्रु. १/अ. २/३, ५
४. भावोन्तः करणस्य परिणतिविशेषः/सूत्रकृतांग टीका श्रु./अ. १५
५. बृहत्कल्प भाष्य, भा. २, गा. १२८५ की वृत्ति पृ. ३९७
६. आवश्यक सूत्र टीका ४
७. अभिधान राजेन्द्र कोष भा. ५ पृ. १५०५
८. बृहद्कल्पभाष्य भा. २, गा. १२९० वृत्ति
९. उत्तराध्ययन - अ. १२ वृत्ति
१०. तत्त्वार्थ सूत्र - ९१७

अनुयोगद्वार सूत्र की - टीका में संस्कार और संस्कारजनित चिन्तन धारा का प्रवाह, अच्छा या बुरा जिस कार्य में परिणत होता है, उसे भावना कहते हैं[११]। इस प्रकार सूत्र के अर्थ का ध्यानयुक्त अनुस्मरण करने के पश्चात् पर्यालोचन करना भी भावना कही जाती है। इस भावना की ऊर्जा को वैज्ञानिकों ने इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि ऊर्जा के छोटे कणों को क्वांटम कहते हैं। क्वांटम का मान प्रकाश की आवृत्ति के ऊपर निर्भर रहता है।

नील्स बोर ने सन् १९१३ ई. में यह दिखलाया कि यह क्वांटम सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और परमाणुओं में इलेक्ट्रान जिन कक्षाओं में घूमते हैं, वे कक्षाएँ भी क्वांटम सिद्धान्त के अनुसार ही निश्चित होती हैं। जब इलेक्ट्रान अधिक ऊर्जावाली कक्षा से कम ऊर्जावाली कक्षा में जाता है तो इन दो ऊर्जाओं का अंतर प्रकाश के रूप में बाहर आता है और भावों के रूप में संयोजा जाता है[१२]।

सं. ग्रं. - लेनार्ड ! ग्रेट मैन ऑव साइंस ; वाइटमैन: द ग्रोथ ऑव साइंटिफिक आइडियाज, टिडल: होट ऐज ए मोड ऑव मोशन, माख: हिस्ट्री एण्ड द रूट ऑव द प्रिंसिपल ऑव द कंजर्वेशन ऑव एनर्जी और - ध्वनि-ऊर्जा (acoustical energy) विद्युत्-ऊर्जा (electrical energy) में परिणत होती है इसमें उच्चरित ध्वनि तरंगें एक तनु पट (diaphragm) में जिसके पीछे रखे हुए कार्बन के कण (granules) परस्पर निकल आते और फैलते हैं, इसी प्रकार भावों के तीव्र कम्पन उत्पन्न करते हैं। इससे कार्बन के कणों में प्रतिरोध (resistance) क्रमशः घटता और बढ़ता है। फलस्वरूप प्रवाहित होने वाली विद्युत धारा भी कम और अधिक हुआ करती है। एक सेकेंड में साधारण रूप से भावों का कम्पन ५,००० धारा प्रति सेकेंड तक की आवृत्तियों को सुगमता से प्रेषित कर लेता है और लगभग २,५०० चक्र प्रति सेकेंड की आवृत्ति अत्यन्त उत्कृष्टतापूर्वक प्रेसित करता है[१३]। इससे भी तीव्र गति भावना की होती है[१४]।

भावना की उपलब्धि—प्रयोग और परिणाम से

भावना की उपलब्धि के तीन पहलू हैं सम, संवेग और निर्वेद। सम अर्थात् शत्रु-मित्र के प्रति समदृष्टि—जिसकी उपलब्धि में मैत्रादि चार भावनाओं का अनुसंधान रहा है। संवेग से ज्ञान प्राप्त होता है जिसके चिन्तन का आधार है अनित्यादि बारह

---

११. अनुयोग द्वार टीका (अभि. पृ. १५०५)

१२. अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश. पृ. ४५

१३. हिन्दी विश्वकोश भाग ५, पृ. १६५.

१४. हिन्दी विश्वकोष भा. २, पृ. १९१

भावनाएँ और निर्वेद से प्राप्त होता है चारित्र। जिसके चिन्तन का विषय है पाँच महाव्रत की २५ भावनाएँ।

भावना का जन्म समभाव से होता है, भावना का विकास संवेग से बनता है और भावना का स्थायित्व निर्वेद से प्राप्त होता है। भावनायोग में ज्ञान और दर्शन दोनों ही पक्षों पर चिन्तन किया गया है, पहले पदार्थों के स्वरूप का दर्शन किया जाता है उसके पश्चात् यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। तदनन्तर आत्मा अनात्मा आदि सम्बन्धों पर विचार करने पर मन में एक निर्वेद भाव की झलक उभर आती है जो साधक को अनासक्त बना देती है।

जो निर्वेद ज्ञानपूर्वक होता है वह हमारी एक अन्तर्मुखी चेतना है। यह जागृत चेतना ही आगे चलकर ध्यान एवं समता का रूप धारण करती है। अतः भावना की अंतिम साधना ध्यान तथा समता कही जाती है।

जैन योग में भावना योग का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है उसमें उक्त तीनों ही दृष्टियाँ रही हैं। पहले वस्तु के प्रति समभाव पश्चात् स्वरूप-बोध, फिर स्वरूपोपलब्धि। स्वरूपोपलब्धि ही निर्वेद है। इसलिए कह सकते हैं – भावना स्वरूपदर्शन, स्वरूपबोध और स्वरूपोलब्धि तक की एक यौगिक साधना है। अतः अध्यात्म योग की आराधना करने के पश्चात् योगी अपनी साधना में क्रमशः प्रगतिशील रहता है। वह जप, तप, नियम के साथ-साथ आगे बढ़ता भावनायोग में प्रवेश करता है।

१. सम भावना

भावनाओं के सतत् चिन्तन - मनन एवं अनुशीलन से योग साधना में क्रमिक विकास होता जाता है तथा हृदय में एक प्रकार की निवृत्ति - निर्वेद तथा परम शांति का अनुभव भी होता है। मन के विकार क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व, मोह, शरीर एवं धन के प्रति आसक्ति स्वतः क्षीण होने लगती है और संस्कारों में वैराग्य तथा जागृति विशुद्ध होती है, इस कारण इन भावनाओं का सतत चिन्तन जीवन में आवश्यक है।

योग साधना में मैत्री—प्रमोद आदि भावनाओं की विशिष्ट साधना रूप प्रक्रिया चलती है। ऐसा लगता है कि इन चार सम भावनाओं को ही योग की आठ दृष्टियों के रूप में आचार्य हरिभद्र ने नई परिभाषाओं के साथ प्रस्तुत किया है[१५]। क्योंकि इन दृष्टियों में भी योगोन्मुखी सत् प्रकार का चिन्तन और विचार प्रवाह बनता है। चित्त को

---

१५. योग दृष्टि समुच्चय - १३

मित्रता-प्रमोद, उपेक्षा आदि भावनाओं से आप्लावित करने का प्रयत्न योग-क्रिया में किया गया है। इसलिए जहाँ महाव्रतों की २५ भावनाओं का सम्बन्ध चारित्र से है, वहाँ १२ भावनाओं का सीधा सम्बन्ध संवेग से है। जिसे हम "ज्ञान" कह सकते हैं। बारह भावनाओं में मुख्यतः ज्ञान की विशुद्धि की ओर अधिक झुकाव है। प्रत्येक चिन्तन में ज्ञान को निर्मल एवं स्थिर करने के ही उपादान वहाँ अधिक प्राप्त हुए हैं, और इन चार भावनाओं का विशिष्ट सम्बन्ध दर्शन को पुष्ट करना मान लें तो कुल भावनाओं की फलश्रुति ठीक निष्पन्न हो जाती है - "दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के विशुद्ध संस्कारों को स्थिर करना भावना का फल है।" क्योंकि मैत्री आदि भावनाएँ एक प्रकार से दर्शन विशुद्धि की भावनाएँ हैं, इसलिए हम यहाँ उनकी संज्ञा भावनाओं का दृढ़ स्वरूप सम देकर आगे इनका वर्णन करेंगे। संज्ञा कुछ भी हो सकती है, विषय-वस्तु में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। सम भावना के दो भेद हैं - योगभावना और जिनकल्पभावना मैत्र्यादि योगभावना है, और तपादि जिनकल्पभावना है।

समस्त सत्त्व - जीवों के प्रति मैत्री हो, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव हो, उनके गुणों के प्रति अनुराग एवं सन्मान हो, दुखी जीवों के प्रति करुणा भाव हो, विरोधियों के प्रति उपेक्षा या मध्यस्थ भाव हो तथा प्रतिकूल प्रसंगों में भी राग-द्वेष के विकल्प से दूर विरक्त भाव हो ऐसा चिन्तन मैत्रादि योग भावना का है।

यह चिन्तन वास्तव में ही एक योगी का चिन्तन है। वैरागी से अगली भूमिका योगी की है, अतः हम यह भी मान सकते हैं कि १२ वैराग्य भावनाओं से मन को संस्कारित कर लेने के बाद योग भावनाओं की अगली सीढ़ी पर आरूढ़ होना सुयोग्य होगा। यह मैत्र्यादि के बाद अगला आरोहण है तपादि भावनाओं का।

इन भावनाओं का प्रयोग न केवल आध्यात्मिक जीवन में ही होता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी बहुत उपयोगी है। आज के जन-जीवन में द्वेष-ईर्ष्या, संघर्ष और कलह का कारण इन भावनाओं का अभाव ही है। यदि हम मित्रता, गुणग्राहकता, करुणा और तटस्थता सीख लें तो मेरा विश्वास है – संसार की अधिकांश समस्याएँ स्वतः ही सुलझ जायेंगी।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन चार भावनाओं का वर्णन ध्यान स्वरूप के साथ ही किया है, और इन्हें टूटे हुए ध्यान को पुनः ध्यानान्तर के साथ जोड़ने वाली अथवा ध्यान को पुष्ट करने वाली रसायन कहा है[१६]

---

१६. योगशास्त्र - ४/११

सूत्रकृतांग सूत्र (अध्याय १५ गा.. ३) में **मित्तिं भूएहिं कप्पए** – अर्थात् समस्त प्राणियों में मैत्रीभाव रखें ।

औपपातिक सूत्र । प्रश्न २० में **सुप्पडियाणंदा ।**

अर्थात् अपने से अधिक गुण वालों को देखकर आनन्द में भर जावे ।

औपपातिक भगवदुपदेश के अनुसार - **साणुकोस्सयाए ।**

अर्थात् दु:खी जीवों पर दया करें और अविनयी लोगों के लिये समाधि पालन करें ।

आचारांग सूत्र अध्याय-८. उ, ८ गा. ५ में **"मज्झत्थो निज्जरापेही समाहिमणुपालए ।"**

अर्थात् जीवन और मृत्यु की आकांक्षा से रहित माध्यस्थ साधक निर्जरा की उपेक्षा रखता हुआ समभाव में स्थित रहे तथा आंतरिक कषायों का एवं बाह्य शारीरिक उपकरणों का त्याग कर आंतरिक शोधन करे ।

शांत सुधारस में भी चित्त को सद्धर्मध्यान में स्थिर करने के कारणभूत मैत्री, कारुण्य, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य – ये चार भावनाएँ बताई हैं ।

आचार्य हरिभद्रकृत योगबिन्दु के अनुसार मैत्र्यादि चार भावनाओं का चिन्तन अध्यात्मयोग में किया गया है ।

निष्पन्न योगियों का इन चार भावनाओं के अनुलक्ष में जो चिन्तन होता है वह विशेष स्वरूप में होता है उनके अनुसार सुख द्वारा ईर्ष्या का त्याग करें वह मैत्री है, दु:ख की उपेक्षा का त्याग करें वह करुणा है, पुण्यवान प्राणी पर द्वेष न करना वरमुदिता है और अधर्मी प्राणी के प्रति राग-द्वेष् का त्याग उपेक्षा है ।

भगवती आराधना १६९६/१५१६ के अनुसार अनन्तकाल से मेरी आत्मा घटीयन्त्र के समान इस चतुर्गतिमय संसार में भ्रमण कर रही है । इस संसार में सम्पूर्ण प्राणियों ने मेरे ऊपर अनेक बार महान् उपकार किये हैं ऐसा मन में जो विचार करना है, वह मैत्री भावना है ।

सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९/७ के अनुसार दूसरों को दुख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है ।

मैत्री भावना

चारों भावनाओं में मैत्री भावना का स्थान प्रथम है । क्योंकि अन्य तीनों भावना मैत्री भाव में समा जाती हैं । जैसे—प्रमोद अर्थात् गुणीजनों के प्रति मैत्री - बहुमान

युक्त चित्त, करुणा अर्थात् दीन, हीन, जनों के प्रति दयाभाव रूप मैत्री - अनुकम्पा युक्त चित्त ; और माध्यस्थ अर्थात् निर्गुण तथा दोषों से युक्त अविनीत जीवों के प्रति मैत्री - अपेक्षा युक्त चित्त, इस प्रकार मैत्री भावना बहुत व्यापक है। आचार्यों ने बताया है–

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद् ।

दूसरों के हित की चिन्ता करना, दूसरों के लिए मंगलकामना करना—यह मैत्री है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी मैत्र्यादि भावों का चिन्तन किया गया है। जैसे प्राणियों के साथ मैत्री भाव में स्थित रहना मैत्रीभाव है। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकम्पा करना करुणा भावना है। यति गुण का विचार करना प्रमोद भावना है, तथा सुख-दुख में समभाव रखना माध्यस्थ भावना है[१७] सर्वार्थसिद्धि के अनुसार–

परेषां दुःखानुत्पत्यभिलाषी मैत्री[१८]।

अर्थात् दूसरों को दुख की उत्पत्ति न हो ऐसी अभिलाषा करना मैत्री है। संसार के समस्त जीव क्लेश, कष्ट और आपत्तियों से दूर रहकर सुखपूर्वक जीवें, परस्पर वैर न रखें, पाप न करें, और कोई किसी को पराभव न दे ये मैत्री-भावना के लक्षण हैं [१९]

प्रमोद-भावना

गुणी जनों के प्रति होने वाली अनुरागवृत्ति प्रमोद भावना है। मैत्री-भाव की तरह प्रमोदभाव भी साहजिक परिणति है। गुरु, ज्ञानी, तपस्वी, योगी आदि गुणीजनों का आदर, सत्कार, करना, इस भावना की फलश्रुति है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ के अनुसार – मुख की प्रसन्नता, अन्तरंग की भक्ति एवं अनुराग को व्यक्त करना प्रमोद है[२०] यति मुनि महात्माओं में नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभियान रहित पना, निर्दोषता, निर्लोभता, निर्मलता इत्यादि गुण होते हैं अतः इन गुणों का विचार कर उन गुणों में हर्ष मनाना प्रमोद-भावना का लक्षण है[२१] उपाध्याय विनयविजयजी के अनुसार–

"भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः[२२]

---

१७. भगवती आराधना गा. १६९६
१८. सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९/७
१९. ज्ञानार्णव - २७/७
२०. सर्वार्थसिद्धि ७/११/३४९
२१. भगवती आराधनावृत्ति १७९६/१५१६/१५
२२. शान्तसुधारस भावना - १३/३

गुणों के प्रति अनुराग रखना प्रमोद भावना है।

योगशास्त्र की टीकानुसार–**"वदनप्रसादादि भिः गुणाधिकेषु अभिव्यज्यमाना अन्त- भक्तिः अनुरागः प्रमोदः।** इस व्याख्या में और सर्वार्थसिद्धि की व्याख्या में कोई अंतर दिखलाई नहीं देता। आचार्य श्री हरिभद्र के षोडशक ग्रंथ में प्रमोद के स्थान पर मुदिता शब्द मिलता है।

प्रमोद भाव से महात्माओं में स्थित शम, दम, औचित्य, धैर्य, गांभीर्य इत्यादि गुणों का मानसिक प्रकर्ष बढ़ता है। मानसिक प्रकर्ष से महात्माओं के प्रति उत्कृष्ट विनय, वंदन, सेवा, स्तुति, प्रशंसा इत्यादि कायिक और वाचिक योग की अभिव्यक्ति होती है।

नमस्कार महामन्त्र और प्रमोद भावना

नमस्कार महामन्त्र की उपासना से प्रमोद भाव प्रकृष्ट होता है और पुण्यबल का संवर्धन होता है। मंत्र का पुनः-पुनः स्मरण, चिन्तन, ध्यान ये प्रमोद भाव की उपासना का श्रेष्ठ साधन है। अथवा यह महामन्त्र का सार प्रमोद भाव है।

भावनमस्कार और प्रमोद भावना

नमस्कार दो प्रकार के हैं– (१) द्रव्यनमस्कार, (२) भावनमस्कार। वचनयोग और काययोग द्वारा होने वाला नमस्कार द्रव्य नमस्कार है और विशुद्ध मन द्वारा होने वाला नमस्कार भावनमस्कार है। यह भावनमस्कार भी प्रमोद भाव रूप ही है।

प्रमोद भावना और योग बीज

योग का प्रारम्भ प्रमोद भावना से होता है अतः प्रमोद भावना को शास्त्रकारों ने योगबीज कहा है। चरम् पुद्गलपरावर्त में साधक हेय, ज्ञेय और उपादेय बुद्धि से कार्य करता है। योग्यता बढ़ने पर सद्गुरु के प्रति आदर बढ़ता है और परमात्मा के साथ मानसिक सम्बन्ध होता है। यह मानसिक सम्बन्ध ही योग बीज है। यह मानसिक सम्बन्ध प्रमोद भाव रूप होने से प्रमोद भाव को भी योग बीज कहा जाता है।

कारुण्य भावना

कारुण्य भावना का स्थान जगत के प्रत्येक प्राणी के प्रति और विशेषतः दीन-हीन, दुखी, पीड़ित, दरिद्र के प्रति दया अनुकम्पा के रूप में होता है।

करुणा संवेगजन्य और स्वाभाविक दो प्रकार की होती है। संवेगजन्य करुणा लोकोत्तर है। यह करुणा अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तयोगी को होती है।

माध्यस्थ भावना

अभिधान राजेन्द्र कोश भा., ६, पृ. ६४ में माध्यस्थ को **"मध्यरागद्वेषयोरंतराले तिष्ठतीति मध्यस्थः** अर्थात् राग और द्वेष दोनों पक्ष में तटस्थ रहने वाला साधक माध्यस्थ है, ऐसा कहा है तथा दर्शन सटीक ५ तत्व के अनुसार तथा अत्युक्तटरागद्वेष विकलतया समचेत सोमाध्यस्थ है। अर्थात् अत्यन्त राग द्वेष की अवस्था में स्थित रहना माध्यस्थ भाव है।

इस प्रकार प्रायः अविनीत, निर्गुण विपरीत वृत्तिवाले हिंसादि क्रूर कर्मों में निःशंक हो उनके प्रति वाचिक और कायिक मौन रहना वह माध्यस्थ हैं।

माध्यस्थ के वैराग्य, शान्ति, उपशम, प्रशम, उपेक्षा, उदासीनता, तटस्थता[२३] इत्यादि पर्याय है। इनमें से सांसारिक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होने पर भी अंर्तमन से अलिप्त रहना माध्यस्थ है।

योग समाधि प्राप्त करने के लिये अन्य भावनाओं की तरह जिनकल्प भावनाओं की भी अत्यधिक आवश्यकता है इन भावनाओं द्वारा ही साधक समाधि को प्राप्त कर सकता है।

जिनकल्प भावना

जिनकल्प—जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञानुसार मुनि श्रमण, श्रमणीवृन्द तथा श्रावक वर्ग की आचार प्रणालिका, व्रत, नियम आदि की मर्यादा और तदनुरूप समाचारी को कल्प कहा जाता है। आगमों में यह कल्प शब्द श्रमणों की आचार मर्यादा (विधि) समाचारी के लिए ही प्रयुक्त होता है अतः श्रमणों का आचार या कल्प ही जैन योग है।

आगम में कल्प दो प्रकार का बताया है, (१) जिनकल्प और (२) स्थविर कल्प। जिनकल्पी जंगल में, श्मशान में, गुफादि स्थानों में एकाकी ध्यान और समाधिस्थ होते हैं और स्थविरकल्पी संघ में और समुदाय में रहकर साधना करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्य में – वज्रऋषभनाराच संहननवाले नवपूर्व के ज्ञाता, परिषह उपसर्ग को सहने वाले सक्षम योगी को जिनकल्पी बताया है[२४]

---

२३. तटस्थता के लिए देखिए—पाइअसदमहण्णवो पृ. ६६८

२४. विशेष आवश्यक भाष्य भाषान्तर भाव १, पृ. १२

जिनकल्प भावना के प्रकार

बृहत्कल्प भाष्य में आचार्य संघदासगणी ने जिनकल्प भावनाओं का विस्तृत विचरण किया है। जैसे–

"तवेण सत्तेण सुत्तेण एगत्तेण बलेण य।
तुलणा पंचहा वुत्ता जिण कप्पं पडिवज्जओ[२५]॥

अर्थात् तप, सत्व, सूत्र, एकत्व तथा बल इत्यादि भावनाओं से भावित जिनकल्पी होते हैं **"दुक्खेण पुट्ठे धुवमायरज्जा**[२६]"दुख आने पर ध्रुवता, धैर्य धारण करना इन योगियों का उद्देश्य होता है। इन योगियों का धैर्यबल सीमातीत होता है जैसे–

घिइ बल पुरस्सराओ, हवंति सव्वावि भावणा एता।
तं तु न विज्जइ सज्जं जं घिहमंतो न साहेई ॥[२७]॥

धैर्यबल से जिनकल्प मुनि प्रत्येक कष्ट सहने में सफल होते हैं।

२. संवेग भावना

संवेग अर्थात् मोक्ष के प्रति रुचि अनित्यादि बारह भावनाएँ संवेग भावनाएँ हैं। इन भावनाओं का वर्णन आगम और साहित्य में विस्तृत ढंग से प्राप्त होता है किन्तु संवेग भावना के रूप में व्यवस्थित नहीं मिलता है। यद्यपि आगम का मूल विषय ही सम, संवेग और निर्वेद है अतः दर्शन, ज्ञान और चारित्र मूलक विचार और भावनाएँ प्रतिक्षण मुखरित होती हों तो इसमें कोई विलक्षण बात नहीं क्योंकि अनेक शास्त्र हैं, जिसमें आध्यात्मिक अनित्यादि भावनाओं का सम्बोधन किया गया है किन्तु उसका वर्णन-यत्र-तत्र बिखरा हुआ है। हमें इन बिखरे हुए मोती की एक माला तैयार करनी है जिसका योगसाधना में सम्पूर्ण सहयोग है।

संवेग भावना के प्रकार

१. अनित्य भावना,
२. अशरण भावना,
३. संसार भावना,
४. एकत्व भावना,
५. अन्यत्व भावना,
६. असुचि भावना,

---

२५. बृहत्कल्प भाष्य श्लो. १२८० से १२९० तथा १३२८ से १३५७
(भगवती आराधना १८७ से २०३) (पंचास्तिकायतार्त्ववृत्ति-१७३/२५४/१३)(नियमसार मूल १०२), (भावपाहुड मू. ५९)
२६. सूत्रकृतांग - १/७/२९
२७. बृहत्कल्प भाष्य - गा. १३५७

७. आस्रव भावना, ८. संवरा भावना,
९. निर्जरा भावना, १०. लोक भावना,
११. धर्म भावना, १२. बोधि दुर्लभ भावना।

इन बारह संवेग भावनाओं का वर्णन अनेक ग्रन्थों में विभिन्न स्वरूपों में उपस्थित किया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में इन भावनाओं को अनुप्रेक्षा नाम से सम्बोधित किया है तथा प्रशमरति प्रकरण में द्वादश-विशुद्ध संज्ञा से सिद्ध किया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने भी इन भावनाओं को बृहद्द्रव्यसंग्रह में द्वादशानुप्रेक्षा से ही प्रकाशित किया है। श्रीमद् वहकेर ने मूलाचार में और सोमदेवसूरि ने यशस्तिलक चम्पू में इन द्वादश भावनाओं का संगठन किया है। शुभचन्द्राचार्य ने भी ज्ञानार्णव में इन्हीं द्वादशभावनाओं का वर्णन किया है जिसको उन्होंने प्रशंसा रूप कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने समभाव की प्राप्ति और निरममत्व भाव की जागृति हेतु द्वादश भावना का योग शास्त्र में वर्णन किया है। स्वामी कार्तिकेय ने अपने कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ में इस अनुप्रेक्षा अर्थात् भावना को भव्य जनों के लिए आनन्द की जननी अर्थात् माता का रूप दिया है। उपाध्याय विनयविजयजी कृत शान्तसुधारस में भी इन्हीं द्वादश भावनाओं का सुचारू रूप से संचय हुआ है, जो संसार से विमुक्त कराने वाली है। शतावधानी पंडित श्री रत्नचन्द्र जी म. सा. ने भी इन बारह भावनाओं का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है।

संवेग भावना के बारह प्रकार में से किसी एक ही भावना के प्रयोग से आत्मा योग से अयोग रूप परमतत्त्व को पाता है ; जैसे–

आत्मा का संसार में भटकने का मुख्य कारण मोह है। संसार में जितने भी दुख, भय, क्लेश, चिन्ता, शोक, आधि, व्याधि, उपाधि[२८] हैं उन सबकी उत्पत्ति मोह से होती है।

"अणिच्चे जीवलोगम्मि"[२९] अर्थात् इस जीवलोक में पर्यायरूप से कुछ भी नित्य नहीं है। जन्म, मरण के साथ अनुबद्ध है, यौवन, वृद्धावस्था के साथ अनुबद्ध है और लक्ष्मी, विनाश के साथ अनुबद्ध है[३०]।

अनादि काल से इस जीवात्मा को इस शरीर के प्रति ममत्व रहा है। इस ममत्व के कारण ही वह आत्मा के अनेक कार्यों से दूर रह जाता है। अतः इस ममत्व से मुक्त होने के लिए शरीर की अनित्यता का चिन्तन आवश्यक है।

---

२८. दशाश्रुतस्कंध - ५/१२
२९. उत्तराध्ययन - १८/१२
३०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा - गा. ५

मनुष्य के शरीर में एक भी रोम ऐसा नहीं है जिसके मूल में रोग की सत्ता न हो। एक-एक रोम में पौने दो-दो रोगों का अस्तित्व शास्त्रकारों ने बतलाया है। सत्ता में रहने वाले वे रोग विषय भोग विलास और रोगोत्पादक आदि सहकारी कारणों के मिलने पर एकदम उभर आते हैं। आयु पानी के बुलबुले की तरह क्षणिक होने से निरन्तर क्षीण होती रहती है। रोगों के उपद्रव और आयु की क्षीणता, इन दो कारणों से **"इमं शरीरं अणिच्च"**[३१] अर्थात् यह शरीर अनित्य, नश्वर, क्षणभंगुर और **"असासए सरीरम्मि"**[३२] अर्थात् अशाश्वत है। अतः जन्म, जरा और मृत्यु तीनों इसी नश्वर शरीर के धर्म हैं।

पदार्थों की अनित्यता

संसार की समस्त वस्तुएँ पौद्गलिक हैं, जड़-पुद्गल से बनी हैं, और पुद्गल में ही वह नष्ट होती हैं, क्योंकि पुद्गल का स्वभाव ही है पूरण और गलन, **"पुरणाद्गलनाद्पुद्गलः"** – पुद्गल का स्वभाव मिलना और बिखरना, बिखरना और मिलना है। अतः समस्त पदार्थ परिवर्तनशील, नाशवान और क्षण-क्षण-विध्वंसी हैं।

अनित्य भावना का चिन्तन

लक्ष्मी, शरीर, पदार्थ सब कुछ अनित्य है यहाँ तक कि जीवन भी अनित्य है। कई जीव गर्भावस्था में ही मर जाते हैं कई स्पष्ट बोलने की अवस्था में तथा कई बोलने की अवस्था आने के पहले ही चल बसते हैं। कोई कुमार अवस्था में, कोई युवा होकर कोई प्रौढ़ावस्था में और कोई वृद्धावस्था में मर जाते हैं, मृत्यु के लिए कोई अवस्था नहीं है[३३] कोई नियम नहीं है। वह तो जैसे बाज पक्षी को दबोच लेता है वैसे ही आयु समाप्त होने पर काल जीव को दबोच लेता है।[३४] एक बार तालका फल वृक्ष से गिर गया बस उसकी कोई अस्ति नहीं वैसे ही आयु क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है[३५]। कहा भी है – "वओ अच्चेति-जोव्वणं च[३६]। आयु और यौवन प्रतिक्षण व्यतीत हो रहा है।

---

३१. उत्तराध्ययन - १९/१३
३२. उत्तराध्ययन - १९/१४
३३. सूत्रकृतांग - १/७/१०
३४. सूत्रकृतांग - १२/२/१/२
३५. सूत्रकृतांग - १/२/१/६
३६. आचारांग - २/१/६५

अर्थात् सौ वर्ष की आयु वाले जीव की आयु भी युवावस्था में टूट जाती है।[३७] उपर्युक्त सत्य को जानकर विवेक-पुरुष अपनी आसक्ति को हटा दे और सर्व शुभ धर्मों से युक्त मोक्ष ले जाने वाले आर्य धर्म को ग्रहण करे।[३८] जैसे–पक्षी क्षीण फल वाले वृक्ष को छोड़कर चले जाते हैं[३९]।

उत्तराध्ययन सूत्र में चित्त मुनि ने संभूति राजन को यही बात कही थी कि आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है। जरा मनुष्य के वर्ण रूप, सुन्दरता आदि को हर रही है। समस्त पदार्थ को छोड़कर तुम्हें एक न एक दिन परवशता से अवश्य जाना है फिर इस अनित्य लोक में राज्यादि के प्रति इतनी आसक्ति क्यों?[४०] इसी प्रकार सभी भावनाओं का अनुचिन्तन प्रयोगात्मक रूप से अयोग तक ले जाने में समर्थ है।

३. निर्वेद भावना

सर्व प्रकार के सावद्ययोगों का त्याग करना निर्वेद कहलाता है। निर्वेद अर्थात् संसार के प्रति अरुचि। चारित्र धर्म को स्वीकार करने वाला ही इस निर्वेद भावना का अधिकारी होता है। ईर्ष्या आदि पाँच समिति एवं मनोवाक्काय आदि तीन गुप्ति का पालन करना, परीषह उपसर्ग सहन करना इत्यादि से जो भाव दृढ़ होते हैं उसे निर्वेद भावना कहते हैं।[४२] ये भावना अहिंसा आदि व्रतों के भेद से पाँच प्रकार की है[४१]। यह अहिंसादि पाँचों भावनाओं से युक्त होने से इसे चारित्र भावना भी कहते हैं।

पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएं

उत्तराध्ययन सूत्र में भगवंत ने बताया है कि पाँच महाव्रतों की २५ भावनाओं में मनोयोगपूर्वक चिन्तन करता है वह योगी भव परिभ्रमण नहीं करता। इन भावनाओं के नीदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता आती है। आचारांग "समवायांग" प्रश्न व्याकरण सूत्र में पाँच महाव्रतों की २५ भावनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। समवायांग सूत्र में केवल इसका नामोल्लेख मिलता है। आचारांग और प्रश्न व्याकरण में विस्तार के साथ भावपूर्ण वर्णन मिलता है। जो हृदयस्पर्शी भी है।

इस प्रकार सम, संवेग और निर्वेद–तीनों भावनाओं से साधक शुभयोग से उपयोग और अयोग की आराधना में सफल होता है।

---

३७. सूत्रकृतांग - २/३/८
३८. सूत्रकृतांग - १/८/१२–१३
३९. उत्तराध्ययन - १३/३१
४०. उत्तराध्ययन - १८/१२
४१. योगशास्त्र - १/१८, पृ. १०
४२. आदिपुराण - २१/९८

३. ध्यान वृत्ति शोधन-एक सफल प्रयोग

१. **भावना ध्यानाभ्यास की पूर्व भूमिका,**
२. **ध्यान-विक्षिप्त अवस्था में अनुप्रेक्षा का चिन्तन,**
३. **काम, क्रोध, मद्र, लोभ का केन्द्र बिन्दु-अशुभ ध्यान**
४. **सत् चिव् और आनन्द का केन्द्र बिन्दु-शुभ ध्यान**

ध्यान

आर्त रौद्र धर्म शुक्ल

१. पदार्थों का आकर्षण-विकर्षण,
२. मनोज्ञ-अमनोज्ञ संयोग-वियोग,
३. कामान्ध, विषयों में आसक्त, दीनता-निराशा,

१. चित्त निरोध, स्थिरीकरण
२. चैतन्य सत्ता का अनुभव,
३. चित्त निर्मल, जागृत अवस्था,
४. भेदज्ञान की प्राप्ति ।

ध्यान योग

ध्यान शब्दार्थ

ध्यान शब्द प्राकृत में झाण रूप में प्राप्त होता है। इसी हेतु स्थानांग सूत्र में स्थान ४-१ में **'चतारि झाणा पण्णता'** रूप प्राप्त होता है। आवश्यक सूत्र में यह शब्द चिन्ता, विचार, उत्कण्ठापूर्वक स्मरण, सोच इत्यादि अर्थ में एवं पाईअसद्दमहण्णओ - पृ. ३६६ पर किसी एक पदार्थ में एकाग्र होना या मन का निरोध करके केन्द्रित होना इत्यादि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

ध्यै चिन्तायाम रूप में यह शब्द "ध्यै" धातु से निष्पन्न हुआ है। इस शब्द में धातु मूलक ध्यान शब्द का अर्थ चिन्तन होता है। वास्तव में ध्यान का चिन्तन अर्थ भी यहाँ व्युत्पत्ति लभ्य है, क्योंकि प्रवृत्ति लभ्य अर्थ तो चित्त निरोध द्वारा आत्मनिरीक्षण या आत्मसाक्षात्कार से होता है। मन का निरीक्षण मानसिक ध्यान है, वचन का निरीक्षण वाचिक ध्यान है और शरीर को स्थिर करना कायिक ध्यान है।

ध्यान शब्द चित्त निरोध का प्रबलतम हेतु है। जब साधक किसी एक विषय पर स्थिर होता है तब चित्त की चंचलता का प्रवाह अनेक विषयों में से किसी एक विषय पर

स्थिर हो जाता है। उसे ही ज्ञानी भगवन्तों ने ध्यान कहा है।[1] और जब यह चित्त अनवस्थित होता है तब वह तीन विभागों में विभक्त होता है – (१) भावना, (२) अनुप्रेक्षा और (३) चिन्ता[2]।

भावना

चल चित्त को स्थिर करने का प्रथम प्रकार है भावना। भावना अर्थात् ध्यानाभ्यास की क्रिया। भावना की स्थिति ध्यान के अध्ययन काल में अर्थात् ध्यान के प्राथमिक काल में तथा अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् एकाग्रता की स्थिति होने पर होती है। ध्यान की ऐसी स्थिति को भावना कहते हैं।

भोक्ता की भावना से ही भोगेच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, भोक्ता के आश्रय से ही भावना पुष्ट होती है। भोक्ता में पूर्वक्रित संस्कार से इच्छा और वासनाएँ अंकित होती हैं, वहीं वासनाएँ पुनः इच्छाओं का हेतु बन जाती हैं। भावना ही ध्यान-साधना का अभ्यास है। अभ्यास काल में ही ज्ञाता सुख-दुख के संवेदन की अनुभूति को पाता है। सुख-दुख को भोगता है। ज्ञाता घटना को जानता है भोगता नहीं। जहाँ केवल जानने की बात आती है, वहाँ भावना शुद्ध हो जाती है और ध्यान सधता जाता है।

अनुप्रेक्षा

चित्त की द्वितीय अवस्था अनुप्रेक्षा है – जो भी तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया है उसका स्मरण, मनन, चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। ध्यान अतर्मुमुहूर्त से अधिक रह नहीं सकता। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् साधक ध्यान से चलित हो जाता है। ऐसी स्थिति में तत्व चिन्तन में स्थित होना अनुप्रेक्षा कहा जाता है। जैसे संसार की अनित्यता का, स्वतः की एकत्त्वता का, जीवों की अशरण अवस्था का, संसार की विचित्रता का इत्यादि विषय का चिन्तन अनुप्रेक्षा कही जाती है।

चिन्ता

चित्त की तृतीय अवस्था है – चिन्ता। चिन्ता अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा के अतिरिक्त मन की सम्पूर्ण व्यग्र अवस्था। यह चिन्ता नानाविध विषयों में फैली हुई परिस्पन्धनात्मक होती है[3]। चिन्ता चित्त की वह अवस्था है जो बाहरी वातावरण और वृत्तियों से प्रभावित होती है। चंचलता स्वाभाविक नहीं है किन्तु बाह्य वातावरण और वृत्ति के योग से निष्पन्न है। अतः चंचलता का मूल हेतु ही वृत्तियाँ हैं। मनुष्य जो भी

---

१. स्थिरमध्यवसानं तद्ध्यानम् (आवश्यकनिर्युक्तेरवचूर्णि गा. २ की टीका)
२. ध्यानशतक गा. २
३. नानार्थवलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती–सर्वार्थसिद्धि - ९/२७-७

प्रवृत्तियाँ करता है वह अस्थायी होती हैं। प्रवृत्ति के समाप्त होने पर उसकी स्मृति प्रतिच्छाया रूप अल्प समय तक रह जाती है। अतः चंचलता का एक हेतु स्मृति है।

स्मृति की भाँति कल्पना भी चिन्ता का अस्थायी रूप है। कल्पना मानव मस्तिष्क में चलचित्र की तरह उभरती रहती है और प्रतिक्षण नये-नये रूप में रूपांतरित होती रहती है। अतः चंचलता का एक हेतु कल्पना भी है।

साधक शरीर, मन और इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत के साथ सम्पर्क करता है। यह बाह्य जगत शब्द रूप, गंध, रस और स्पर्शमय है। वहाँ मन के अनुकूल और प्रतिकूल संयोग में राग और द्वेष उत्पन्न होता रहता है। अतः राग और द्वेष की परिणति भी चंचलता का हेतु है। जैसे दीपशिखा दीपक का एक परिणाम विशेष है। सूर्य की किरणें सूर्य का परिणाम विशेष हैं, उष्णता अग्नि का परिणाम विशेष है, शीतलता जल का परिणाम विशेष है। उसी प्रकार वृत्तियों का निरोध होने पर चित्त का निरोध अपने आप हो जाता है। मन का निरोध होने पर जब साधक एक आलंबन पर तात्त्विक चिन्तन करता है तथा उसी आलंबन में एकाग्र होता है वह ध्यान है।[४] हमारा चिन्तन अनेक विषयों पर चलता रहता है उसे वह ध्यान नहीं कहते हैं। अतः ध्यान की पूर्व अवस्था या ध्यान टूटने के पश्चात् की अवस्था भावना और अनुप्रेक्षा की है, किन्तु चिन्ता, भावना और अनुप्रेक्षा से भिन्न चल चित्त के रूप में होती है। तात्त्विक चिन्ता के सहयोग से साधक भावना और अनुप्रेक्षा में स्थित होता है। इस प्रकार अभ्यास क्रम के साधक को ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है।[५]

चित्त के भेद

चित्त का स्वभाव चल, उद्वेगजन्य और बहिर्मुखी होने पर भी रूपान्तरण की प्रक्रिया से तात्त्विक और सात्त्विक उभयात्मक होता है। हेमचन्द्राचार्य ने चित्त के चार प्रकार बताए हैं - (१) विक्षिप्त, (२) यातायात, (३) श्लिष्ट और (४) सुलीन[६]।

१. विक्षिप्त चित्त - चल होता है।
२. यातायात चित्त - किंचित् आनन्दमय होता है (क्वचित चल-क्वचित अचल)
३. श्लिष्ट चित्त - स्थिर और आनन्दमय होता है और
४. सुलीन चित्त - अति निश्चल और परमानन्दमय होता है।

---

४. ध्यायते चिन्त्यतेऽनैन तत्त्वमिति ध्यानम्
अभिधान राजेन्द्र कोश भा. ४, पृ. १६६२
५. ध्यान विचार (नमस्कार स्वाध्याय प्राकृत विभाग पृ. २३६)
६. योगशास्त्र १२/२

१.	विक्षिप्त चित्त और	विकल्पयुक्त और बाह्य शब्दादि विषयों
२.	यातायात चित्त	को ग्रहण करने वाला होता है ।
३.	श्लिष्ट चित्त और	अध्यात्म ध्येयरूप विषय को ही ग्रहण करने वाला
४	सुलीन चित्त	होता है । बाह्य विषयों को नहीं ।

योग के अभ्यास की प्राथमिक अवस्था में कभी बाह्य विषयों में जाने वाला और कभी ध्येय में स्थिर होने वाला ''यातायात'' चित्त इष्ट माना गया है। क्योंकि, सतत अभ्यास से शनैः शनैः चंचलता दूर होने पर स्थिरता आने से ''यातायात'' चित्त ही क्रमशः श्लिष्ट और 'सुलीन' हो जाता है तथा निरालम्ब ध्यान, समरस भाव और परमानन्द की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण का सारांश यह है कि–

उपाध्याय यशोविजयजी ने चित्त के पाँच भेद बताये हैं –

१. क्षिप्त चित्त - विषयों में मग्न बहिर्मुख और रोग से ग्रस्त

२. मूठ चित्त - इस लोक और परलोक सम्बन्धी विवेक रहित, क्रोधादि ग्रस्त।

३. विक्षिप्त चित्त - किंचित् रक्त किंचित् विरक्त[७]

४. एकाग्र चित्त - समाधि में स्थिर

५. निरुद्धचित्त - स्थिरीकरण का अंतिम प्रयोग

इस प्रकार योगसार में एकाग्र चित्त का विशेष महत्त्व होने से साधक को चाहिए कि चल चित्त का निरोध करने का प्रयत्न करे और उसे निरन्तर अभ्यास से निश्चल बनाये।

ध्यान की परिभाषा

आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में ध्यानंतु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंतिति[९] तथा आचार्य भद्रबाहु के शब्दों में चित्तस्सेमग्गया इवइ झाणं[१०] चित्त को किसी भी विषय पर स्थिर करना, एकाग्र करना ध्यान है।

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि मन को एकाग्र करना ही ध्यान है। प्रश्न है मन की चंचलता को समाप्त कैसे करें, एकाग्रता कैसे प्राप्त करें ? मन तो अनेक विकारों में बहता रहता है। उसका नियन्त्रण आसानी से नहीं होता। मानसिक

---

७. योगशास्त्र १२/३-४-५
८. अध्यात्मसार - श्लोक ४ से ८
९. अभिधान चिन्तामणि कोष - १/८४
१०. आवश्यक निर्युक्ति - १४५६

स्पन्दनों की तरंगें अति सूक्ष्म होती हैं। वे अध्यवसाय तक पहुँचती हैं और विविध रूपों में तरंगित होती हैं। ये तरंगें सघन बनकर संस्कार के रूप में जमा होती हैं। तरंग का सघन रूप संस्कार है और संस्कार का सघन रूप क्रिया है, जो मानसिक चंचलता को समाप्त होने नहीं देती। फिर शुद्ध भाव, शुद्ध लेश्या, शुद्ध अध्यवसाय, शुद्धयोग कैसे हो सकते हैं ? उपाय है एकमात्र साधना का। साधना द्वारा कषाय मंद होती है। मन सधता है और किसी एक पदार्थ पर केंन्द्रित होता है।

मन जहाँ भी, जिस विषय में केन्द्रित होता है उस विषय का 'ध्यान' होता है। इसलिए 'ध्यान' का प्रथम अर्थ है मन का किसी एक विषय में स्थिर होना। तत्त्वार्थ में परिस्पंदन से रहित एकाग्रचित्त का निरोध ध्यान कहा है। और उसे ही निर्जरा एवं संवर का कारण माना है। इस प्रकार अन्य क्रियाओं से हटाकर एक विषय में स्थिर होना एकाग्रचिन्ता निरोध है[११]। ऐसा ध्यान संचित कर्मों की निर्जरा तथा नये कर्मों के आश्रव को रोकने रूप संवर से होता है। अतः एकाग्र ध्यान में संवर और निर्जरा की उभय शंक्ति विद्यमान है।

"एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्" इस ध्यान लक्षणात्मक वाक्य में एक शब्द संख्यापरक होने के साथ-साथ यहाँ पर प्रधान अर्थ में विक्षिप्त है[१२]और व्यग्रता की विनिवृत्ति के लिये आवश्यक है।[१३]ज्ञान व्यग्र होता है किन्तु ध्यान व्यग्र नहीं होता है। अर्थात् एकाग्रता से चिन्ता का निरोध होता है और वह ध्यान है। ऐसे ध्यान का अधिकारी उत्तम संहननवाला छद्मस्थ साधक होता है। वह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही हो सकता है। योग निरोध यह जिनों का ध्यान है। यहाँ एकाग्र शब्द मानसिक व्यग्रता की निवृत्ति का द्योतक है। उत्तम संहनन वाला साधक ही ऐसा समर्थ होता है जो अंतर्मुहूर्त में एकाग्रतापूर्वक चिन्ता से निवृत्त हो सकता है। अन्य संहनन वालों की धैर्यता इस विषय में असमर्थ होती है।

क्योंकि मन का स्वभाव चंचल है, प्रारम्भावस्था में मन को स्थिर करने का अभ्यास करना चाहिए। अभ्यस्थ दशा में विषयों में प्रवृत्त चित्त किसी एक विषय में निःप्रकंप वायुरहित ध्यान में स्थित दीपशिखा की तरह[१] निश्चल हो जाता है, ऐसा ध्यान उत्तम संहनन वाले साधक में ही संभव है। जिसका काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त स्थित होता है और बारहवें गुणस्थान तक रहता है।

---

११. सर्वार्थसिद्धि - ९-२७
१२. तत्त्वार्थ वार्तिक - ९/२७/२
१३. तत्त्वार्थ वार्तिक - ९/२७/२
१४. स्थिर प्रदीप सदृशं – योगबिन्दु गा ३६२

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के पश्चात् जो ध्यान होता है, उसका स्वरूप भिन्न प्रकार का होता है। तेरहवें गुणस्थान में मन, वचन, काय तीनों योग का निरोध प्रारम्भ होता है। स्थूल से सूक्ष्म होते ही साधक सूक्ष्म क्रिया, प्रतिपातीनाम का तृतीय शुक्लध्यान में स्थित होते हैं।

इस विषय में अनेक आचार्य सहमत हैं, जैसे–

१. जिनभद्रगणि श्रमाश्रमण कृत "ध्यान शतक" में

"अन्तो मुहुत्तमेतं, चित्तावस्थाणमेगवत्थुंमे।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु॥

२. हरिभद्रीय आवश्यक सूत्र में–

अन्तर्मुहूर्त कालं यच्चित्तावस्थानमेकस्मिन् वस्तुनि तत्स्वअस्थानां ध्यानम्।
योग निरोधो जिनानामेघं ध्यानं नान्येषाम्।

३. उमास्वाति प्रणीत तत्त्वार्थ सूत्र में–

उत्तमसहननस्येकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् आ मुहूर्तात्।

४. विनयविजय विरचित काललोक प्रकाश में-

ध्यानं नाम मनः स्थैर्य यावदन्त मुहूर्तकम।

५. शुभ चन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव में–

उत्कृष्ट कायबन्धस्य साधोरन्तमुहूर्ततः
ध्यान माहूरर्थकाग्रचिन्तारोधे बुधातमाः

६. श्रीमद्यशोविजय जी प्रणीत अध्यात्मसार में–

मुहूर्तान्तर्मवेद्वयानमेकार्थे मनसः स्थितिः
बहार्थसड क्रमे दीर्मा प्यच्छिन्ना ध्यान सन्ततिः

७. उपाध्याय सकलचन्द्रजी कृत ध्यानदीपिका में–

दृढ़संहननंनस्थापि मुनेशन्तमुहूर्तिकम।
ध्यानमाहुर्स्थकाग्रचिंतारोधो जिनोत्माः
छदमस्थानांतु यह ध्यान भवेदान्तमुहूतिकेमृ।[१५]

---

१५. उपर्युक्त ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही स्थिर रहता है, मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट और अन्तर्मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनिट के बीच का काल। ध्यान ४८ मिनिट से अधिक रह ही नहीं सकता। अतः काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त रखा गया है। अंतर्मुहूर्त के पश्चात् मन की स्थिति का परिवर्तन होता है।

चौदहवें गुणस्थान में स्थित साधक सम्पूर्ण अयोगी अवस्था में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नाम के चौथे शु० ध्यान में स्थित होता है। यहाँ कायिक स्थूल व्यापार को रोकने का प्रयत्न होने से इसे ध्यान माना गया है क्योंकि आत्मप्रदेशों की जो निष्प्रकंपता है, वह ध्यान है।

ध्यान जिस विषय पर स्थित होता है उस विषय में आत्मशक्ति तीव्र होती है, अनेक प्रकार के अनुभव भासमान होते हैं तथा अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्रकट होती हैं। उसका क्या कारण और वह कैसे ? अभ्यास दशा में काल प्रवाह नहीं देखा जाता मन स्थिति का परिवर्तन देखा जाता है। मन की एकाग्रता कब तक केन्द्रित रहती है, विकल्प रहित अवस्था कब तक बनी रहती है यह देखा जाता है। एक ही पदार्थ में अन्तमुहूर्त तक एकाग्र रहने वाला समर्थ योगी ही हो सकता है। अतः अन्तर्मुहूर्त शब्द यहाँ छद्मस्थ की अपेक्षा से विवक्षित है। सर्वज्ञ की अपेक्षा से नहीं। सर्वज्ञ में घटाने पर ध्यान का काल परिमाण अधिक भी हो सकता है, क्योंकि वचन और शरीर की प्रवृत्ति विषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक भी सर्वज्ञ लम्बा कर सकते हैं। अन्यथा सर्वज्ञ को ध्यान की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु यहाँ ध्यान का अर्थ वाचिक और कायिक स्थैर्य है।

श्री रत्नशेखर सूरि कृत गुणस्थान क्रमारोह में भी मन की स्थिरता छद्मस्थ का ध्यान और काया की स्थिरता केवली का ध्यान कहा है।

ध्यान का महत्त्व

प्राकृतिक दृष्टि से प्रत्येक साधक सच्चिदानन्द है। किन्तु उपयोग और उपभोग की अपेक्षा से भिन्नता अवश्य होती है। योगी सत्, चित् और आनन्द में उपयोग रखता है और भोगी उपभोग करता है।

भोगी का भोग तो पशुओं में भी पाया जाता है, मानव की अपेक्षा उसमें शक्ति विशेष होती है किन्तु चेतना जागृत नहीं होती, चेतना का विकास मानव में होता है। पशुओं की शक्ति का उपभोग मानव करता है।

भोगी मानव ने शक्ति का उपभोग किया, चेतना का विकास किया, किन्तु आनन्द का अस्तित्व खो दिया। शक्ति और चेतना का सम्यक् उपभोग ही आनन्द की उपलब्धि है और वह योगी में ही पायी जाती है।

ध्यान आनन्द का केन्द्र है। साधक ही अपने सामर्थ्य से आनन्द की अनुभूति पा सकता है। भोगी के लिये, पशुओं के लिए चैतन्य शक्ति का उपभोग हो सकता है पर आनन्द की अनुभूति मात्र योगी को ही हो सकती है। यस्य चित्तं स्थिरी भूतं सहि ध्याता

प्रशस्यते–जिसका चित्त स्थिर है वही ध्यान का अधिकारी है।[१६] ध्यानी–धीर, शान्त, स्थिर, जितेन्द्रिय गुणों से युक्त होता है।[१७]

आनन्द का बाधक तत्व है–शक्ति, और आनन्द का साधक तत्व भी शक्ति है, क्योंकि शक्ति भोगी में भी है और योगी में भी है। एक शक्ति का उपयोग करता है, एक शक्ति का उपभोग करता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान के दो प्रकार है–१. शुभ ध्यान, २. अशुभ ध्यान। भोगी की शक्ति का उपभोग अशुभ ध्यान में होता है। योगी की शक्ति का उपयोग शुभ ध्यान में होता है। अतः ध्यान को प्राथमिक भूमिका से उठाकर अंतिम शिखा तक ले जाने के चार आयाम है–

चतारि झाणा पण्णता तं जहा
अट्टे झाणे रोट्टे झाणे थम्मे झाणे सुक्के झाणे[१८]।

ध्यान के चार प्रकार कहे हैं–आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान।

ध्यान के दो आयाम– १. आर्तध्यान २. रौद्रध्यान। अशुभ ध्यान है जैसे–कामान्ध विषयों में आसक्त है, किसी स्त्री के रूप में मुग्ध है, लोभी धन प्राप्ति की योजना में संलग्न है, हत्यारा हिंसा में ही लीन है, चोर चोरी करने में ही मस्त है, मायाचारी षड्यन्त्र में ही एकाग्र बुद्धि रखता है। यहाँ किसी एक विषय में स्थिरता अवश्य है किन्तु एक गाय का दूध है दूसरा थूहर का। दूध दोनों है, श्वेत वर्ण दोनों में ही है किन्तु एक में अमृत है, दूसरे में विष है। एक में मृत्यु है, दूसरे में जीवन है। एक में संसार है, दूसरे में मुक्ति है।

अशुभ ध्यान का आदि बिन्दु है--राग, वासना, मूर्च्छा। कड़ी को कड़ी से जोड़ने वाला राग है। जहाँ राग है वहाँ संसार है, जहाँ राग है वहाँ बन्धन है, जहाँ राग है वहाँ सम्बन्ध है, जहाँ राग है वहाँ परिस्थिति, परिवार, समाज और व्यवहार है। राग की तरंगों ने ही वासनाओं को जन्म दिया। वासना की पूर्ति के लिए माया और ममता का सम्पर्क स्थापित हुआ। यह सम्पर्क ही पोजिटिव प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में ही काम, क्रोध, मद, लोभ छिपा हुआ है। इसी प्रक्रिया में व्यक्ति की अभिव्यक्ति व्यक्त होती है। उस अभिव्यक्ति की अनुभूति ही आर्तध्यान और रौद्रध्यान है।

---

१६. ज्ञानार्णव – पृ. ८४
१७. ज्ञानसार – ६
१८. स्थानांग सूत्र - ४

इस ध्यान से भोगी जुड़ा हुआ है, भोग में रोग छाया हुआ है। इस प्रकार रुग्ण मानव पीड़ा से ग्रसित रहता है। मृत्यु के भय से त्रसित रहता है, प्रचुर दुख से घिरा हुआ रहता है और तनाव में बहता रहता है। कौन इस ध्यान से बचा है छोटा हो या बड़ा हो, ऊँच हो या नीच हो, गरीब हो या धनवान हो, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो सभी इसके शिकंजे में फंसे हुए हैं।

आर्तध्यान

आर्तध्यान की भावना में दीनता, मन में उदासीनता, निराशा और व्याकुलता से क्षोभ होता है अतः जब मनोज्ञपदार्थों के वियोग से शोक उत्पन्न होता है तब मन अशुभ हो जाता है इस अशुभ मन के संस्कार जमा हो जाते हैं उसे आर्तध्यान कहा जाता है।

आर्तध्यान के कारण

आर्तध्यान के चार कारण हैं—

१. **अणुमान संपयोग**—अमनोज्ञ संयोग—अनचाहा संयोग, अनिष्ट संयोग।

२. **मणुन्न संपयोग**—मनोज्ञ वियोग—मनचाहा वियोग, ईष्ट वियोग

३. **आयंका संपयोग**-आर्तक संप्रयोग—रोग, चिन्ता, व्याधि और भय, चिन्ता।

४. **परिजसिय काम-भोग संपयोग**—कामभोग संप्रयोग - भोगोपयोग की चिन्ता।

आर्तध्यान के लक्षण

आर्तध्यान के चार लक्षण हैं—

१. क्रन्दनता—रोना, विलाप करना, चिल्लाना।

२. शोचनता—शोक करना, चिन्ता करना

३. तिप्पणता—आंसू बहाना,

४. परिवेदणा—हृदय को आघात पहुँचाए ऐसा शोक करना।

आर्तध्यान के स्वामी

आर्तध्यान के स्वामी अविरति, देशविरति और प्रमत्तयुक्त सयति[१९] (साधुमुनि महात्मा) होते हैं। यह ध्यान सम्पूर्ण प्रमाद का मूल है। अतः योगी महात्माओं के लिए सर्वथा हेय है।

प्रमत्त योगी तक इस आर्तध्यान का आधिपत्य होने से एक से लेकर छठा गुणस्थान तक उक्त ध्यान संभवित है। विशेषतः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में निदान के

---

१९. ध्यानशतक गा. १०-१३.

अतिरिक्त तीन आर्तध्यान संभवित हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक के जीव अविरत कहलाते हैं, संयतासंयत जीव देशविरत कहलाते हैं तथा प्रसाद से मुक्त क्रिया करने वाले जीव प्रमत्त संयत कहलाते हैं।

आर्तध्यान में लेश्या

आर्तध्यान में तीन लेश्या होती हैं–१. कृष्ण, २. नील और ३. कापोत किन्तु रौद्रध्यान की अपेक्षा मंद होती है।

आर्तध्यान का फल

१. संसार वृद्धि, २. कर्म बन्ध का कारण, ३. भवभ्रमण, ४. तिर्यंचगति

इन चार प्रकार में से कोई द्वेष का, कोई राग का, कोई मोह का कारण होता है, अतः जिस व्यक्ति में ये चार लक्षण दिखाई दें उसे आर्तध्यानी समझना चाहिए। राग-द्वेष और मोह संसार का कारण है और आर्तध्यान तिर्यंचगति का कारण है।[२०] तिर्यंचगति संसारवृक्ष का मूल है और आर्तध्यान संसार वृक्ष का बीज है।[२१]

कोष्ठक नं. २४

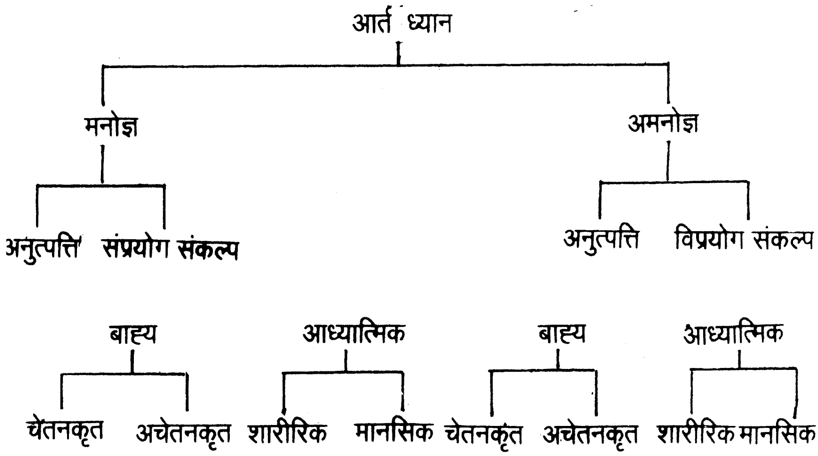

रौद्र ध्यान

जहाँ चित्त क्रूर, निर्दय और हिंसात्मक होता है स्वार्थ वृत्ति और विनाश की भावना प्रबल होती है तथा शत्रुओं के प्रति महाद्वेष उत्पन्न होता है उसे रौद्र ध्यान कहते हैं।

२०. सर्वार्थसिद्धि - ९-२९ राजवार्तिक ९-३३-२६२७, ज्ञानार्णव-२५,४२
२१. अध्यात्मसार - ध्यानाधिकार गा. ८९ महापुराण २१-३८, ज्ञानार्णव २५-४० चारित्रासार - १६९-३

रौद्रध्यान के कारण

१. **हिंसा में प्रवृत्ति**—जीवों का वध बन्धन आदि का चिन्तन करना।

२. **असत्य भाषण में प्रवृत्ति**—दूसरों को ठगनेवाली मिथ्यावाणी का प्रणिधान।

३. **चौर्य में प्रवृत्ति**—अन्य के धन आदि वस्तु हरण करने की बुद्धि।

४. **विषय संरक्षण में प्रवृत्ति**—शब्दादि विषयों के साधनमूल घन आदि वस्तुओं की रक्षा के लिए अत्यन्त व्याकुल रहना।

रौद्र ध्यान के स्वामी तथा लक्षण

	स्वामी	**लक्षण**
१.	आसन्नदोष रौद्रध्यानी	प्रायः देशव्रती
२.	बहुल दोषता रौद्रध्यानी	प्रायः अविरति
३.	अज्ञानदोष रौद्रध्यानी	प्रायः मिथ्यादृष्टि
४.	मारणान्त दोष रौद्रध्यानी	अनन्तानुबन्धी कषाय

रौद्रध्यान का अधिकारी जीव प्रथम गुणस्थान से लेकर पंचम गुणस्थानवर्ती हुआ करते हैं[२२]।

रौद्रध्यान में लेश्या

लेश्या कर्मजन्य पुद्गल का परिणाम है। आर्तध्यान की तरह रौद्रध्यान में भी वही (कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कपोतलेश्या) तीनों लेश्या होती हैं, किन्तु यहाँ अति तीव्र संक्लेशयुक्त होती है। श्रेणिक महाराजा एवं कृष्ण महाराजा को क्षायिक सम्यक्त्व था तथापि अंतिम परिणाम में कोणिक और द्वैपायन के प्रति तीव्र द्वेष होने से हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान एवं तीव्र संक्लेषवाली कृष्णलेश्या उत्पन्न हुई थी।

आर्त और रौद्र दोनों ध्यान से संसारी सभी आत्मा अभ्यस्त हैं। दोनों ध्यान में साधक की एकाग्रता तीव्र होती है। जितनी कामनाएँ तीव्र होंगी उतना ही विषयों के प्रति आकर्षण वर्धमान रहेगा। आकर्षण से पदार्थ के प्रति जो एकाग्रता जागृत होती है वह रागजन्य और द्वेष-जन्य ऐसे उभयात्मक होती है।

आर्त और रौद्र ध्यान में राग और द्वेष का प्रभाव विकृति का प्रतीक है। साधक राग और द्वेष को त्याग और वैराग्य में बदल दे। यह बदलने की प्रक्रिया धर्मध्यान है। पदार्थों का आकर्षण, पदार्थों से जुड़ना पदार्थों का संयोग-वियोग इत्यादि पदार्थों से

---

२२. ध्यानशतक - गा. २७

विमुख होने के लिए हैं। यथार्थ सम्यक बोध से पदार्थों का उपभोग नहीं, उपयोग करना है। साधन सामग्री उपभोग के लिए निर्माण नहीं हुई है, उपयोग के लिए हुई है **उपयोगो धम्मो**–उपयोग ही धर्म है और उसमें स्थिर रहना ही धर्म-ध्यान है।

धर्मध्यान

धर्म-ध्यान का स्वरूप

धर्म का अर्थ है स्वभाव। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव होता ही है। जैसे धम्मे वत्थुसहावो[२३]या धर्मों हि वस्तुयाथात्म्यं इस आर्ष वाक्यानुसार धर्म चिन्तन को धर्मध्यान कहा है।

तीर्थंकरों ने सम्यग् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् आचार को धर्म कहा है।[२४] उस धर्म चिन्तन से युक्त जो ध्यान है वह मिश्रित रूप से धर्मध्यान है।[२५]

जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है वहाँ मन को स्थिर करना धर्मध्यान है।[२६]

आत्मा का आत्मा के द्वारा, आत्मा के विषय में सोचना चिन्तन करना भी धर्मध्यान है[२७]

षट्खण्डागम में धर्म और शुक्ल ध्यान को परम तप कहा है।[२८]

हृदय की पवित्रता से लेश्या के अवलंबन से और यथार्थ स्वरूप चिन्तवन से उत्पन्न ध्यान प्रशस्त ध्यान कहलाता है।

श्रुत धर्म की आज्ञादि स्वरूप के चिन्तन में एकाग्रता को धर्मध्यान कहते हैं तथा श्रुत धर्म और चरित्र धर्म से युक्त ध्यान को भी धर्मध्यान कहते हैं।[३१]

---

२३. कार्तिकानुप्रेक्षा - ४७८
२४. तत्त्वानुशासन - श्लो. ५१, आर्ष (महापुराण) २१-१३३
२५. धर्मादनयेतं धर्म्य - सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ वा. ९-२८
२६. दशवैकालिक अ. १ वृत्ति
२७. तत्त्वानुशासन - ७४
२८. षट्खण्डागम ५, पु. १३, पृ. ६४
२९. ज्ञानार्णव सर्ग ३, श्लोक २७
३०. समवायांग सूत्र सटीक। सम
३१. स्थानांग सूत्र ४, स्था. १३,
काल लोक प्रकाश सर्ग ३०, श्लोक ४५८

ध्यान भावना

उपर्युक्त परिभाषा से प्रतीत होता है कि धर्म ध्यान बाह्य प्रवृत्ति को बदलने का धर्म है। आन्तरिक भावना को प्रबल करने का मार्ग है और समत्व साधना की आराधना का द्वार है। इस द्वार से ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य इन चार भावनाओं में प्रवेश पाया जाता है। धर्म ध्यान का चिन्तन भावना है।

जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने ज्ञानादि चार भावनाओं का ध्यानशतक में निरूपण किया है। जैसे—

ज्ञानाध्ययन में तन्मय रहना,
मन के अशुद्ध व्यापार का निरोध करना,
तत्वातत्व का विवेक करना,
जीवाजीव के गुण पर्याय का निरीक्षण करना,
इत्यादि का चिन्तन धर्म ध्यान कहलाता है

आचार्य जिनसेन ने ज्ञानादि चार भावनाओं को पाँच स्वरूपों में विभक्त किया है—

१. **वाचना**—शास्त्रों को स्वयं पढ़ना।
२. **पृच्छना**—जो अर्थ स्वयं की समझ में न आये उसे ज्ञानीजनों से पूछना।
३. **अनुप्रेक्षा**—पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना।
४. **परिवर्तन**—कंठस्थ ज्ञान को बार-बार दुहराना।
५. **धर्म उपदेश**—धर्म के सम्यक् तत्व का उपदेश देना।

दर्शन भावना

दर्शन भावना—आज्ञारुचि, नवतत्वरुचि तथा २४ परम तत्त्वों की रुचि स्वरूप तीन प्रकार की हैं।[३२] आचार्य जिनसेन ने सम्यग्दर्शन की सात भवनाएँ बतायी हैं। संवेग, प्रशम, स्थैर्य, असंमुढ़ता, अस्मय, आस्तिकता और अनुकम्पा।[३३] आचार्य कुंदकुंद ने सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का वर्णन किया है। (१) संवेग, (२) निर्वेद, (३) आत्मनिन्दा, (४) गर्हा, (५) उपराम, (६) गुरुभक्ति, (७) वात्सल्य और (८) दया।[३४]

---

३२. दर्शन भावना आज्ञारुचि (१) तत्व, (२) परमतत्व (२४ रुचिमेदात प्रिधा ध्यान विचार नमस्कार स्वाध्याय प्राकृत विभाग)

३३. आदिपुराण - २१ - ९७

३४. समयसार - १७७

ध्यान का स्थान

ध्यान के लिए मानसिक चेतना की जागृति ही प्रमाण है किन्तु देश, काल और आसन का प्रभाव भी प्राथमिक भूमिका में आवश्यक है। ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान हो तो एकाग्रता बनी रहती है अतः स्थान साधक हो बाधक नहीं।

ध्यान का काल

मन को स्थिर करने के लिए काल मर्यादा की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी अभ्यस्त दशा में आवश्यकता होने पर काल का आयोजन आवश्यक है।

ध्यान का आसन

ध्यानाभ्यास के लिए आसन, मुद्रा या अवस्था है तो अभ्यास क्रम सधता है। अतः वीरासन, पर्यंकासन, कायोत्सर्ग आदि सुखासन, इत्यादि आसन ध्यान के लिए उपयुक्त हैं। परमात्मा महावीर स्वामी को गोदोहासन में कैवल्यज्ञान हुआ था। पद्मासन में भी प्रायः तीर्थंकरों को कैवल्यज्ञानियों को कैवल्य प्राप्त हुआ है। कायोत्सर्ग मुद्रा में भी अनेक ज्ञानियों को कैवल्य प्राप्त हुआ है। अतः साधक के लिए जो भी स्थान, काल और आसन उपयुक्त हो उसी में करना श्रेष्ठ है। ध्यान साधना के लिए साधक तत्व चाहिए, बाधक नहीं।

ध्यान का स्वामित्व

धर्मध्यान का स्वामित्व अप्रमत्त संयत गुणस्थान अर्थात् सप्तम् गुणस्थानवर्ती संयत को होता है, और क्रमशः यह धर्मध्यान उपशान्त मोह एवं क्षीणमोह गुणस्थानों में सम्बद्ध होता है।

धर्मध्यान के स्वामित्व के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में कुछ अन्तर है। श्वेताम्बर मान्यतानुसार धर्मध्यान का स्वामित्व सातवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में है अतः सात से लेकर बारह गुणस्थान तक के छहों गुणस्थान धर्मस्थानों में हैं अतः सात से लेकर बारह गुणस्थान तक के छहों गुणस्थान में धर्मध्यान संभव है।[३५] किन्तु दिगम्बर परम्परा चौथे से सातवें गुणस्थान तक के चार गुणस्थानों में धर्मध्यान की संभावना स्वीकार करती है। उसके अनुसार सम्यग्दृष्टि को श्रेणी के आरम्भ के पूर्व तक ही धर्मध्यान संभव है और श्रेणी का आरम्भ आठवें गुणस्थान से होने के कारण आठवें आदि में यह ध्यान किसी प्रकार संभव नहीं।[३६]

---

३५. तत्त्वार्थसूत्र - ९-३६-३८

३६. तत्वानुशासन - ४६ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ९-१३

धर्मध्यान की सामग्री

परिग्रह त्याग, कषाय निग्रह, व्रतधारण इन्द्रिय और मनोविज़य ये सब ध्यान की उत्पत्ति में सहायभूत सामग्री है।[३७]

धर्मध्यान को उत्तेजित करने वाले कारणों में वैराग्य, तत्त्वों का ज्ञान, साम्यभाव और परिषह जय इत्यादि भी प्रमुख माने जाते हैं।[३८] तत्वानुशासन में द्रव्य, क्षेत्र, काल और विवक्षा भेद से दृष्टता और ध्यान के तीन प्रकार बताए हैं।

१. उत्तम सामग्री से ध्यान उत्तम होता है।

२. मध्य सामग्री से ध्यान मध्यम और

३. जघन्य सामग्री से जघन्य ध्यान माना गया है।[३९]

ध्यान का आलंबन

ध्यान का आलंबन एक रूप नहीं होता। जिस साधक को जो भी अनुकूल है उसी आलंबन से ध्यान सिद्ध होता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत–ये ध्यान के आलम्बन हैं। जप, तप, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, श्वास, केवल जानना, केवल देखना इत्यादि ध्यान को सिद्ध करने के आलंबन है।

ध्वनि, नाद, ज्योति, त्राटक, प्राणायाम इत्यादि भी ध्यान के आलम्बन हैं।

ध्वनि, श्वास, शब्द आदि में कम्पन होते हैं। तरंगें होती हैं वह जब मन से जुड़ जाते हैं और ध्यान में एकाग्रता स्थित हो जाती है तब अनेक ग्रन्थियाँ सुलझ जाती हैं।

ध्यान का विषय

स्थानांगसूत्र में ध्यान के चार प्रकार प्राप्त होते हैं। जैसे–"धम्मेझाणे चदव्विहे चउप्पडोयारि पण्णत्ते, तं जहा - आंणा - विजए अवाय-विजए, विवाग-विजए संगण-विजए–" अर्थात् आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान इस प्रकार धर्मध्यान का ध्येय चार भेदों से प्रस्तुत किया है।

आज्ञा-विचय

तीर्थंकर भगवान् की आज्ञानुसार विचय अर्थात् आत्मनिरीक्षण। साधक को आत्म-निरीक्षण करना है अपनी वृत्तियों का, जैसे हिंसात्मक भाव जागृत हुआ, क्यों हुआ, कहाँ से हुआ, होने का कारण क्या, अनुप्रेक्षा कितनी बार हुई, पश्चात्ताप कितनी

---

३७. ध्यान स्तव - ७१

३८. द्रव्य संग्रह टीका - ५७/२२९/३.

३९. तत्त्वानुशासन - ४८-४९

बार किया, प्रायश्चित्त कैसा किया ? पुनः नहीं होवे ऐसा एकरार किया या नहीं इत्यादि प्रश्नों का निरीक्षण आज्ञाविचय ध्यान का विषय है। तत्त्वार्थसूत्र में भी यही चार प्रकार प्राप्त होते हैं। इन चारों की विचारणा के लिए एकाग्र मनोवृत्ति करना धर्मध्यान है। यह अप्रमत्त संयत को होता है।

अपाय-विचय

अपाय का अर्थ है दुर्गुण एवं दोष। अनादि काल से आत्मा के साथ रहे हुए मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय, योग आदि दुर्गुणों के स्वरूप का निर्णय करके उनसे छूटने का उपाय सोचना "अपायविचय" धर्मध्यान है।

जैसे अपने दुर्गुणों का निरीक्षण और परीक्षण करना क्रोधादि कषाय की मात्रा कितनी है ? क्या उसमें परिवर्तन होता है या नहीं ? अगर होता है तो कितनी मात्रा में होता है ? कर्म बन्धन क्यों होता है, उसके होने का कारण क्या है ? उस बन्धन से छूटने का उपाय क्या है ?

हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र में इस अपाय-विचय ध्यान के फल का निर्देश किया गया है। अपाय-विचय ध्यान करने वाला इहलोक एवं परलोक सम्बन्धी अपायों का परिहार करने के लिए उद्यत हो जाता है और उसके फलस्वरूप पाप-कर्मों से पूरी तरह निवृत्त हो जाता है, क्योंकि पाप-कर्मों का त्याग किए बिना अपाय से बचा नहीं जा सकता।[४०]

जीव का स्वभाव अक्रिय अवस्था का है, राग क्रिया, द्वेष क्रिया, कषायक्रिया, मिथ्यात्वादि आश्रवक्रिया या हिंसादि कायिकी क्रिया आदि रूप नहीं है क्योंकि क्रोध से प्रीति तत्त्व का, मान से विनय तत्त्व का, माया से मित्रता का और लोभ से सर्व वस्तु स्थिति का विनाश होता है अतः जनमत को प्राप्त कर कल्याण करने वाले जो उपाय हैं उनका चिन्तवन करना चाहिए।[४१]

हरिवंश पुराण में अपाय विचय धर्मध्यान को उपाय-विचय भी कहा है जैसे-मन-वचन-काया-इन तीन योगों की प्रवृत्ति ही प्रायः संसार का कारण है, इन प्रवृत्तियों का त्याग किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार शुभ लेश्या से अनुरंजित जो चिन्ता का प्रबन्ध है वह अपाय-विचय है तथा पुण्य रूप योगवृत्तियों को अपने आधीन करना उपाय कहलाता है, वह उपाय किस प्रकार हो सकता है, इस प्रकार के संकल्पों की जो संतति है, वह अपाय विचय धर्मध्यान है।

---

४०. योगशास्त्र - १०-११

४१. कल्लाणपावगाण उपाये विचिणादि जिणमद मुवेच्च - धवला - १७१२-१५४४

विपाक-विचय

कर्मों के फलों को विपाक कहते हैं। कर्म का फल क्या है ? फल तीव्र है या मंद है? कौन-सा कर्म कितने समय तक स्थिर रहता है ? ज्ञानादि को कौन-सा कर्म स्थिर करता है ? शुभ और अशुभ कर्मों में बाधक और साधक कर्म कौन से होते हैं ।[४२]– इत्यादि प्रकृति आदि विपाक का विचिन्तन विपाक-विचय धर्मध्यान है ।[४३]

संस्थान - विचय

संस्थान का अर्थ है आकार। जैसे लोक के आकार एवं स्वरूप का चिन्तन करना, धर्मास्तिकायादि द्रव्यों का लक्षण, आकृति, आधार, प्रकार प्रमाण कितना है[४४] स्वर्ग-नरक कहाँ है ? उनका क्या स्वरूप है ? जड़-चैतन्य में क्या अन्तर है ? नये प्रमाण का क्या रहस्य है ? स्याद्वाद का क्या तात्पर्य है ? संसार परिवर्तनशील क्यों है? इत्यादि अनादि अनन्त, किन्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - परिणामी नित्य स्वरूप वाले लोक सम्बन्धी तात्त्विक विवेचन में तल्लीन हो जाना संस्थानविचय धर्मध्यान है।[४५]

धर्मध्यान के अधिकारी

धर्मध्यान के अधिकारियों में श्वेताम्बर और दिगंबर मान्यता में विभिन्नता विलक्षित होती है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार धर्ममप्रमत्तसंयतस्य[४६] के आधार पर सात से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के छहों गुणस्थानों में धर्मध्यान के अधिकारी हैं।

अतः इस बीच में कभी शुभ अध्यवसाय के योग से धर्मध्यान हो जाता है। यहाँ जो धर्मध्यान का ध्याता है वह उत्तम, मध्यम और जघन्य के रूप में तीन प्रकार के हैं। उत्तम प्रकार के ध्याता प्रमत्तसंयत से अप्रमत्तसंयत में पहुँच जाता है अतः उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। जघन्य ध्याता निकृष्ट होने से अस्पष्ट है। मध्यम ध्याता का लक्षण इन्द्रिय तथा मन का निग्रह करने वाला होता है।

ध्याता के ९ प्रकार

१. तच्चित्त	= सामान्योपयोग रूप चित्तवाला
२. तन्मय	= विशेषोपयोग रूप मन वाला
३. तल्लेश्य	= शुभ परिणामरूप लेश्यावाला

---

४२. प्रशमरति - गा. २४९ पृ. १७३
४३. ध्यानशतक - गा. ५१, पृ. १८०, अध्यात्मसार - गा. ६१५ पृ. ३५४
४४. ध्यानशतक - गा. ५२
४५. योगशास्त्र - १०/१४
४६. तत्त्वार्थसूत्र, ९/३७

४. तदध्यवसित	= क्रिया को संपादित करने में दृढ़ निश्चय और प्रवर्धमान उत्साह अथवा निश्चय वाला
५. तत्तीव्राध्यवसान	= प्रारम्भ से ही प्रतिक्षण प्रकर्षित होने वाला
६. तदर्थोपयुक्त	= अत्यन्त प्रशस्त संवेग से विशुद्ध और अर्थोपयोग से युक्त हो ।
७. तदर्पिकरण	= मन, वचन और कायरूप कारणों की समर्पितता हो।
८. तदभावना भावित	= भावना से भावित हो ।
९. अन्य स्थान से रहित स्व में स्थित मन वाला	= प्रस्तुत ध्यानादि क्रिया से भिन्न मन कहीं भी अलग न हो ।[४७]

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षा

एकत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व और भवस्वरूप का चिन्तन धर्म ध्यान की अनुक्रम से चार अनुप्रेक्षाएँ हैं ।[४८] ध्यान (धर्मध्यान) से निवृत्त होने पर अभ्रान्त आत्मा को अनित्यत्यादि चार[४९] अनुप्रेक्षाओं का नित्यभावन करना चाहिए क्योंकि ये अनुप्रेक्षाएँ ध्यान के प्राण के समान हैं ।[५०]

धर्मध्यान की लेश्या

धर्मध्यानी महायोगी को तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम–परिणाम पूर्व की तेजी, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है ।

उत्तम कोटि के ध्याता को शुक्ललेश्या, मध्यम कोटि के ध्याता को पद्मलेश्या तथा मंद कोटि के ध्याता को तेजोलेश्या अपनी-अपनी योग्यतानुसार तीव्र, मध्यम और मंद रूप में होती है ।

धर्मध्यान के बाह्य और अंतरंग चिह्न

बाह्यचिह्न

पर्यंकादि आसनों को धारण करना, मुख की प्रसन्नता होना और दृष्टि का सौम्य होना आदि धर्मध्यान के बाह्य चिह्न हैं ।

---

४७. अनुयोगद्वार सूत्र २७
४८. काललोक प्रकाश सर्ग ३०, श्लो. ४७३
४९. ध्यानशतक हरिभद्रीय आवश्यक निर्युक्तेखचूर्णिः श्लो. ६५
५०. आध्यात्मसार ध्यान स्वरूप श्लो. ७०

अंतरंग चिह्न

शुभ योग, चित्त स्थैर्य, ज्ञान की रुचि, प्रतीति, श्रद्धा, अनुप्रेक्षाएँ तथा शुभ भावनाएँ ध्यान का अन्तरंग चिह्न हैं।

धर्मध्यान का फल

फल

धर्मध्यान से संवर, निर्जरा तथा शुभ योग परम्परा की प्राप्ति होती है।[५१] शील और संयम से युक्त योगी धर्मध्यान में स्थित होने से पुण्यानुबन्धी पुण्य का उपार्जन करता है, बोधिलाभ की प्राप्ति करता है, तथा असंक्लिष्ट भोग का उपभोग करता है। फलतः अनासक्त भाव, प्रव्रज्या और परम्परागत कैवल्यज्ञान की प्राप्ति एवं मोक्ष का शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह धर्मध्यान का फल है।

ध्येय तत्त्व

ध्यान द्वारा ध्येय तत्त्व सिद्ध होता है। ध्येय तत्त्व सालम्बन (आलम्बन सहित) निरालम्बन (आलम्बन रहित) रूप से दो प्रकार का है —

१. सालम्बन ध्यान

(१) पिण्डस्थ—शारीरिक-चक्र, श्वास, नाड़ीतन्त्र, प्राणवायु आदि का ध्यान
(२) पदस्थ—मंत्रादि पदों का, अक्षरों का, यन्त्रों का ध्यान।
(३) रूपस्थ—पद, आकार आदि के रूप को देखना।

२. निरालम्बन ध्यान

(४) रूपातीत —
कुछ भी न करना केवल ज्ञाता दृष्टाभाव।

पिण्ड अर्थात् ध्याता का शरीर और स्थ अर्थात् आत्मा। शरीर और आत्मा का विवेक ज्ञान जैसे—शरीर में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक की कल्पना करके ललाट पर आज्ञाचक्र के स्थान पर श्वेत या रक्त किरणों से दैदीप्यमान सिद्ध शिला पर स्थित सिद्ध भगवान् का ध्यान करना। इस ध्यान की अनेक धारणाएँ भी हैं जैसे—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुति, वारुणी इत्यादि।

---

५१. शुचिगुणयोगाच्छुक्लम् सर्वार्थसिद्धि अ. ९/सू. २८ (पृ. ४४५)

आकृति नं. १०

पार्थिवी धारणा

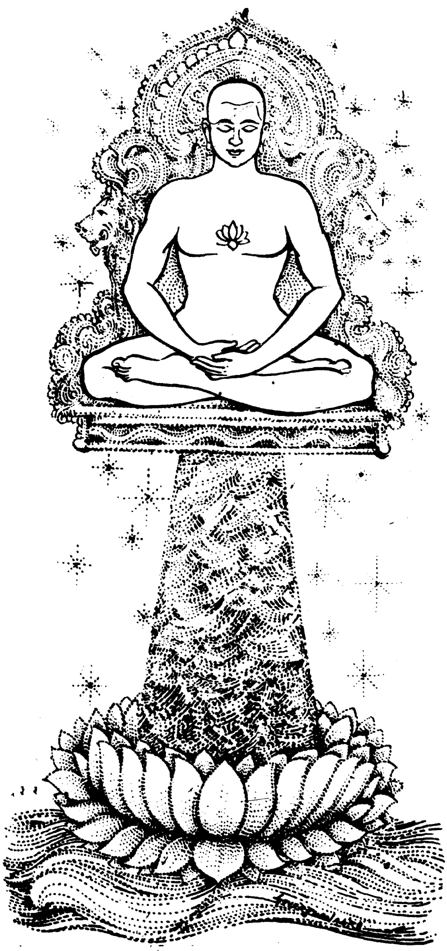

पार्थिवी धारणा में लीन जिनकल्पिक मुनिराज

ध्येय में चित्त को स्थिर करना धारणा है। **धारणा तु क्वचिद् ध्येय चित्तस्थ स्थिर बंधनम्।** अपने शरीर और आत्मा को पृथ्वी की पीत वर्ण कल्पना के साथ बांधना पार्थिव धारणा है। इस धारणा में मध्यलोक को क्षीर समुद्र के समान निर्मल जल से परिपूर्ण होने की कल्पना करनी है। ऐसी कल्पना से मन बड़ा ही शांत, सौम्य और शीतलता का अनुभव करता है। इस धारणा में रम जाने से स्थिरता आती है।

आकृति नं. ११

आग्नेयी धारणा

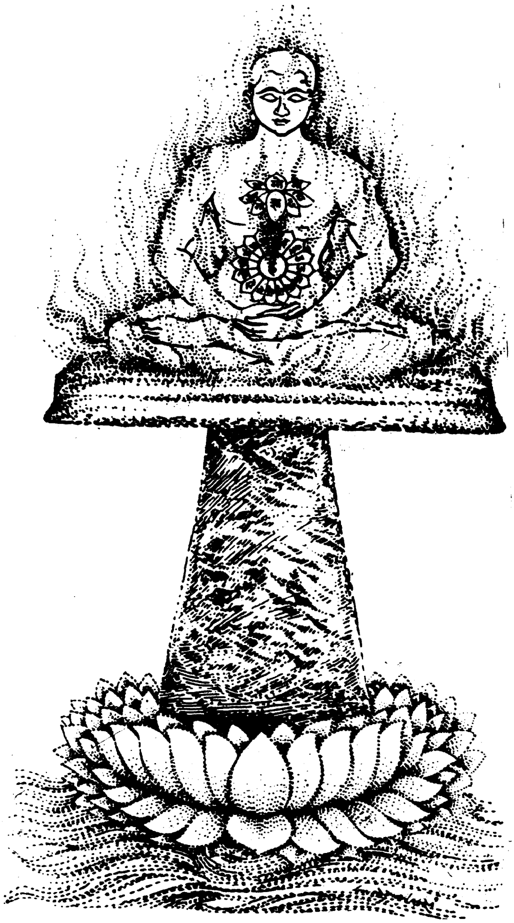

आग्नेयी धारणा में रमण करते हुए मुनिराज

आग्नेयी धारणा में आत्मा सिंहासन पर बिराजमान होकर नाभि के भीतर हृदय की ओर ऊपर मुख किये हुए सोलह पंखुड़ियों वाले रक्त कमल की धारणा करता है तथा उस अग्निमंडल में तीव्र ज्वाला उठती हुई देखें, उनमें आठों कर्म भस्म हो रहे हैं तथा वे जलकर राख बन गये हैं। आत्मा तेज रूप में दमक रहा है, इस प्रकार धारणा करें।

आकृति नं. १२

वायवी धारणा

वायवी धारणा में संलग्न मुनिराज

अग्नि धारणा में कर्मों को भस्म कर राख बने हुए देखने के बाद पवन धारणा की जाती है। पवन की कल्पना के साथ मन को जोड़ा जाता है। योगी सोचता है खूब जोर की हवाएँ चल रही हैं, उसमें आठ कर्मों की राख उड़ रही है, नीचे हृदय कमल सफेद या उज्ज्वल हो गया है और आत्मा पर लगी राख सब हवा के झोंके से साफ हो रही है।

आकृति नं. १३

वारुणी धारणा

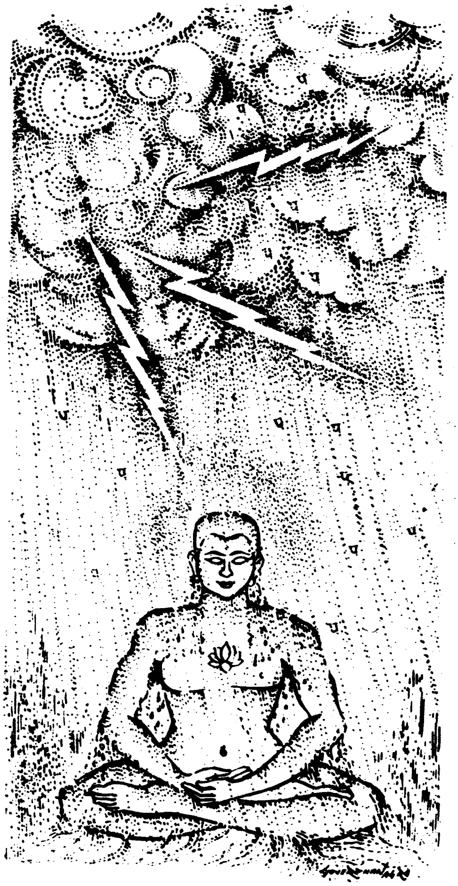

वारुणी धारणा में संलग्न मुनिराज

वारुणी अर्थात् जल की धारणा के साथ मन को जोड़ना। वायवी धारणा से आगे बढ़कर योगी सोचता है, आकाश में मेघों का समूह उड़ रहा है। बिजली चमक रही है और धीरे-धीरे खूब जोर की वर्षा भी शुरू हो गई है। मैं बीच में बैठा हूँ, मेरे शरीर पर पानी बरस रहा है और मन तथा शरीर के समस्त ताप शांत हो जाते हैं।

शुक्लध्यान

ध्यान में तल्लीन योगी जब ध्यानावस्था में पारंगत हो जाता है तब उसकी राग, द्वेष आदि वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जाती है। उस अवस्था विशेष को जैन दर्शन में शुक्लध्यान कहते हैं। इसकी भी उत्तरोत्तर वृद्धिगत चार श्रेणियाँ होती हैं। प्रथम श्रेणी में बुद्धिपूर्वक ही ज्ञान में श्रेय पदार्थों की तथा योग वृत्तियों की संक्रान्ति होती रहती है, पश्चात् अन्य श्रेणियों में इसको भी स्थान नहीं है, यह ध्यान रत्न दीपक की ज्योति की भांति निष्कंप होता है अर्थात् इस ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शुक्लध्यान का लक्षण

शुक्ल अर्थात् शुद्ध निर्मल तथा श्वेत। जिसमें सुचि गुण सम्बन्ध होता है, वह शुक्ल कहलाता है।[५२]

जैसे मैल हट जाने से वस्त्र सुचि होकर शुक्ल कहलाता है उसी तरह निर्मल गुणयुक्त आत्म-परिणति को शुक्ल कहते हैं।[५३]

आत्मा की विशुद्ध परिणति से रागादि विकल्प टूट जाते हैं और स्वसवेदनात्मक ज्ञान प्राप्त होता है, आगम भाषा में इस ज्ञान को शुक्लध्यान कहा है।[५४]

द्रव्य संग्रह में आचार्य नेमिचन्द्र ने भी निजशुद्धात्मा में विकल्प रहित समाधि को शुक्ल ध्यान कहा है।[५५]

वृत्तियों के परिवर्तन से गुणों की विशुद्धता होती है, कर्मों का क्षय और उपशम होता है तथा लेश्या शुक्ल होती है। उसे योगियों ने शुक्लध्यान कहा है।[५६] नियमसार गा. १२३ में शुक्लध्यान का स्वरूप निश्चय रूप में प्राप्त होता है। यहाँ ध्याता-ध्येय तथा ध्यान का फल विकल्पों से विमुक्त अन्तर्मुखी तथा परम तत्व में अविचल स्थिति में प्राप्त होता है। तत्वानुशासन गा. २२२ में इस ध्यान को वैडुर्यमणि की शिखा के समान सुनिर्मल और निष्कंप कहा है। कषाय के क्षय या उपशम से आत्मा में सुनिर्मल परिणाम होते हैं। उसे ही शुक्लध्यान कहते हैं।

---

५२. राजवार्तिक ९/२८/४/६२७/३१
५३. प्रवचन सार ता. वृ. ८/१२
५४. द्रव्यसंग्रह टीका - गा. ४८, पृ. २०५
५५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४८३
५६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. ४८३

निष्क्रिय और इन्द्रियातीत ध्यान धारणा से विमुख होकर ध्येय में अन्तर्मुख रहता है उसे भी शुक्लध्यान कहा है।[५७]

आठ प्रकार के कर्ममल का शोधन शुक्ल ध्यान है[५८] इस विषय में विशेष जानकारी के लिए अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं।[५९]

शुक्लध्यान के प्रकार

पृथकत्व-वितर्क-सविचारी

शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार पृथक्त्व-वितर्क - सविचार हैं। यह पद तीन शब्दों के योग से बना हुआ है - पृथकत्व का अर्थ है एक द्रव्य के आश्रित उत्पाद आदि पर्यायों का पृथक् - पृथक् भाव से चिन्तन करना। वितर्क शब्द श्रुतज्ञान का परिचायक है, सविचारी का अर्थ है - शब्द से अर्थ में, अर्थ से शब्द में तथा एक योग से दूसरे योग में संक्रमण करना। जड़ या चेतन द्रव्य उत्पत्ति, स्थिति और द्रव्यादि में मूर्त-अमूर्त पर्यायों का नैगम आदि नयों के द्वारा भेद-प्रभेद का चिन्तन करना और यथासम्भवित श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य पर, किसी एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर, किसी एक शब्द से दूसरे शब्द पर, किसी एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर तथा किसी एक योग से दूसरे योग पर विचारधारा को प्रवाहित करना, इत्यादि विचार सहित ध्यान को ही सविचारी कहा जाता है।[६०]

एकत्व - वितर्क - अविचारी

एकत्व - वितर्क - अविचारी। लक्षण तीन शब्दों से बना हुआ है। उत्पादादि पर्यायों के एकत्व अभेद वृत्ति से किसी एक पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व है। इस ध्यान में अर्थव्यंजन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। निर्वात स्थान में रहा हुआ दीपक जैसे स्पंदन आदि क्रियाओं से रहित होकर प्रकाश करता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा योग आदि में संक्रमण न करता हुआ ध्यान में अवस्थित रहता है। इस ध्यान के द्वारा मोहकर्म सर्वथा क्षय हो जाता है। यही ध्यान बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव में पाया जाता है।[६१]

योगशास्त्र में एकत्व-वितर्क-अविचार के स्थान पर एकत्व श्रुत अविचार शब्द मिलता है। पहला और दूसरा शुक्लध्यान सामान्यतः पूर्वधर मुनियों को ही होता है

५७. ज्ञानार्णव - ४२/४
५८. भावपाहुड - टीका गा. ७८
५९. भगवती सूत्र सटीक, औपपातिक सूत्र वृत्ति, आवश्यक चूर्णि, विशेष आवश्यक भाष्य, धर्म-संग्रह सटीक, गच्छाचारपयन्ना टीका इत्यादि ग्रन्थ।
६०. स्थानांग सूत्र वृत्ति स्था. १, उ. १, सूत्र २४० पृ. १९१
६१. स्थानांगसूत्र वृत्ति स्था. ४. उ. १, सू. २४७ पृ. १९१

परन्तु कभी किसी को पूर्वगत श्रुत के अभाव में अन्यश्रुत के आधार से भी हो सकता है। पहले प्रकार के शुक्लध्यान में शब्द, अर्थ और योगों का संक्रमण होता रहता है, और दूसरे में स्थिरता होती है। प्रथम शुक्ल-ध्यान में एक द्रव्य में विभिन्न पर्यायों का चिन्तन होता है, दूसरे में एक ही पर्याय को ध्येय बनाया जाता है। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय शुक्ल ध्यान में विकल्प और निर्विकल्प का अंतर पाया जाता है।[६२]

यहाँ एकत्व शब्द का प्रयोग चिन्तनात्मक है।

दो ध्यान तक मूर्च्छा का क्रम टूटता रहा। तृतीय ध्यान में मूर्च्छा समाप्त हो जाती है – साधक समाज में है फिर भी अकेला है, परिवार में है फिर भी अकेला है। हर प्रकार की प्रवृत्ति करता है फिर भी अकेला है। यहाँ साधक एकत्व भावना का अधिकारी होता है। मूर्च्छा तो द्वन्द्व में है, एकत्व में नहीं ; भोग में है ; योग में नहीं ; सुख-दुख की परिधि में है, शान्ति में नहीं। वितर्क शब्द से यहाँ सारा तर्क निष्प्राण है, अतः योग का स्फुरन, स्पंदन यहाँ समाप्त होते हैं। इस ध्यान में चिन्तन की आवश्यकता ही नहीं। यहाँ साधक निर्विकल्पसमाधि में स्थिर रहता है। अतः निर्विकल्प के स्थान पर अविचार शब्द का प्रयोग है।

द्वितीय ध्यान में निर्विकल्प होते ही, केवलज्ञान केवलदर्शन में स्थित होते हैं।

यहाँ पहुँचा हुआ साधक - **अकम्मे जाणइ** - अर्थात् अकर्म वान, जानने और देखने की दो ही क्रिया करता है। ये दोनों क्रियाएँ निरन्तर चलने से अतिसूक्ष्म होती है।[६३] यहाँ से साधक तृतीय चरण में प्रयाण करता है।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती-ध्यान

शुक्लध्यान का तीसरा चरण है सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती। चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश करने से पहले आयु के अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जब केवली भगवान मन और वचन इन दो योगों का सर्वथा निरोध कर लेते हैं और काय योग के निरोध में केवली भगवान की कायिकी उच्छवास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। यहाँ योग निरोध क्रम से स्थूल काययोग द्वारा मन और वचन के स्थूल योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। पश्चात् मन और वचन के सूक्ष्मयोग से शरीर का स्थूल योग सूक्ष्म बनाया जाता है। काय के सूक्ष्म योग से मन और वचन के सूक्ष्म योग का भी निरोध किया जाता है यह प्रक्रिया तेरहवें गुणस्थान में ही होती है।

---

६२. योगशास्त्र - ११ - ७ - २६५

६३. राजवर्तिक - ९/४४/१/६३४/३१

समुच्छिन्नक्रिया - अप्रतिपाती

शुक्लध्यान का चौथा रूप समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती है। यह ध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है। अयोगी अवस्था में मन वचन और काया तीनों स्थिर हो जाते हैं। उनकी सभी सूक्ष्म क्रियाएँ बंद हो जाती हैं, आत्मप्रदेश सर्वथा निःस्पन्द हो जाते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो "सर्व संवर परिपूर्ण संयम" अयोगी अवस्था में ही होता है, और इसी अवस्था में मोक्ष की उपलब्धि होती है।

योगशास्त्र ११/९ में इस चतुर्थ ध्यान को 'उत्सन्न क्रिया - अप्रतिपाति' नाम दिया है। उनके अनुसार पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण प्राप्त करते हैं, उस समय होने वाला शुक्ल-ध्यान उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति कहलाता है।

ज्ञानार्णव के अनुसार चौदहवें गुणस्थान में स्थित अयोगी केवली भगवन्त निर्मल, शान्त, निष्कलंक, निरामय और जन्ममरण रूप संसार के योगों से रहित है इसलिये अयोगी है।

सर्वार्थसिद्धि में चतुर्थ शुक्लध्यान को, प्राणायान के प्रचार रूप क्रिया का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग और मनोयोग के द्वारा होने वाली आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप क्रिया का उच्छेद हो जाने से समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहा है।

भगवती आराधना में चतुर्थ शुक्लध्यान के विषय में वितर्क-विचारयोग और अनिवृत्ति आदि क्रियाओं से सहित और शैलेषी अवस्था सहित जो साधक होता है तथा औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरों का बन्ध नाश करने के लिए अयोगी केवली भगवान् समुच्छिन्न क्रिया निवृत्त नामक चतुर्थ शुक्लध्यान को ध्याते हैं।[६४]

ध्यातव्य द्वार

यथाख्यात चारित्र में वीतरागता जागृत होती है, और वीतरागदशा में ही शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में मोहनीय कर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं।

शुक्लध्यान के ध्याता

चार प्रकार के शुक्लध्यानों में से पहले के दो ध्यान पूर्वगत श्रुत में प्रतिपादित अर्थ का अनुसरण करने के कारण श्रुतावलम्बी हैं। वे प्रायः पूर्वों के ज्ञाता छद्मस्थ योगियों को ही होते हैं तथा कभी-कभी वे विशिष्ट पूर्वधरों को भी हो जाते हैं।

---

६४. भगवती आराधना - १८८८, २१२३

अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल-ध्यान समस्त दोषों का क्षय करने वाले अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ और सर्वदर्शी केवली में ही पाए जाते हैं।

शुक्लध्यान की लेश्या

शुक्लध्यान के प्रथम चरण और द्वितीय चरण में शुक्ललेश्या होती है। शुक्लध्यान के तृतीय चरण में परम शुक्ललेश्या मेरुवत् निश्चल है तथा चतुर्थ चरण लेश्यातीत है। अतः यहाँ लेश्या को अवकाश नहीं।[६५]

शुक्लध्यान का फल

शुक्लध्यान के दो चरण - १. पृथक्त्व-वितर्क सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार इन दोनों में शुभ आस्रव होता है और इस शुभ आस्रव से अनुत्तर विमान पर्यंत के सुख की प्राप्ति होती है। शुक्लध्यान के अंतिम दो चरण तो केवलज्ञानी को होता है अतः यहाँ संवर और कर्म की निर्जरा होने से फलस्वरूप मोक्ष गमन ही है।[६६]

शुक्लध्यान के अधिकारी

शुक्लध्यान के अधिकारियों का कथन दो प्रकार से किया गया है, एक तो गुणस्थान की अपेक्षा से और दूसरा योग की अपेक्षा से।

गुणस्थान की अपेक्षा से शुक्लध्यान के चार भेदों में से प्रथम के दो भेदों के अधिकारी ग्यारहवे और बारहवें गुणस्थान वाले साधक होते हैं, उसमें भी पूर्वधर ही होते हैं।[६७] 'पूर्वधर' इस विशेषण की विशेषता यह है कि जो पूर्वधर नहीं है पर ग्यारह आदि अंगों का धारक है वहाँ ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होता है।

यहाँ पूर्वधर श्रुतकेवली को शुक्लध्यान होता है ऐसा कहा है। इस सामान्य विधान का एक अपवाद भी है और वह यह कि पूर्वधर न हो ऐसी आत्माओं - जैसे माषतुष मरुदेवी आदि को भी शुक्लध्यान संभव है। शुक्लध्यान के अंतिम दो भेदों के अधिकारी सिर्फ केवली अर्थात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान वाले होते हैं।[६८]

१. योग की दृष्टि से मन, वचन और काय इन तीनों योग का धारक साधक को शुक्ल ध्यान का प्रथम प्रकार 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' होता है।

---

६५. ध्यानशतक - गा. ८९ पृ. ३०१
६६. ध्यानशतक - गा. ९४, पृ. ३०७
६७. शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः तत्त्वार्थ ९/३९
६८. परे केवलिनः - तत्त्वार्थ ९/४०

२. मन, वचन और काय इन तीन योग में से किसी एक योग के धारक साधक को द्वितीय एकत्व वितर्क निर्विचार नाम का शुक्लध्यान होता है।

३. मात्र काययोग का धारक कैवल्यज्ञानी को तृतीय सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान होता है।

४. योग रहित अर्थात् अयोगी केवली को चतुर्थ व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्लध्यान होता है।

शुक्लध्यान के चार प्रकारों में प्रथम शुक्लध्यान अर्थात् पृथकत्व वितर्क-सविचार एक योग या तीनों योगवाले मुनियों को होता है। दूसरा शुक्लध्यान एकत्व वितर्क-निर्विचार अेकयोग वालों को ही होता है। तीसरा शुक्लध्यान सूक्ष्मक्रिया प्रतियाती सूक्ष्म काययोग वाले केवलि को होता है और चौथा समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति अयोगी केवलि को ही होता है।[६९]

केवली और ध्यान

यहाँ प्रश्न होता है कि मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं परन्तु तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यान के समय मन का अस्तित्व नहीं रहता है क्योंकि केवली भगवन्त अमनस्क होते हैं। ऐसी अवस्था में उन्हें ध्यान कैसे कहा जा सकता है ?

'ध्यै' 'चिन्तायाम' धातु में 'ध्यै' से ध्यान शब्द का अर्थ मन से चिन्तन करना जैसा होता है किन्तु मन के बिना चिन्तन रूप ध्यान कैसे होता है ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि यहाँ "ध्यान" शब्द का अर्थ निश्चलता लिया गया है फिर वह मन की निश्चलता हो या काया की निश्चलता हो किन्तु दोनों ध्यान स्वरूप हैं। ध्यान के विशेषज्ञ पुरुष जैसे छद्मस्थ के मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं, उसी प्रकार केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहते हैं। क्योंकि, जैसे मन एक प्रकार का योग है, उसी प्रकार काय भी एक योग है।[७०]

अयोगी और ध्यान

चौदहवें गुणस्थान में पहुँचते ही आत्मा तीनों योगों का निरोध कर लेती है। अतः अयोगी अवस्था में स्थित केवली में योग का सद्भाव नहीं रहता है, फिर भी वहाँ ध्यान का अस्तित्व माना गया है। उसका क्या कारण है ?

---

६९. ध्यानशतक - श्लो. ८३ पृ. २९०
योगशास्त्र - श्लो. ११/१० पृ. २६६

७०. ध्यानशतक श्लो. ८४ पृ. २९२
योगशास्त्र ११/११ पृ. २६६

उसका उत्तर यह है कि यहाँ ध्यानरूपता की शुद्धता अनुमान प्रयोग से सिद्ध की जा सकती है। अनुमान में पक्ष, साध्य, हेतु तथा दृष्टांत ये चार हेतुओं की आवश्यकता होती है। भवस्थ केवली की सूक्ष्म क्रिया और व्युपरत क्रिया ये दो अवस्था पक्ष हैं।[७१]

ध्यानरूपता यह साध्य है और बाकी के चार हेतु जैसे–

१. पूर्व प्रयोग होने से

२. कर्म-र्निजरा का हेतु होने से

३. शब्द के अनेक अर्थ होने से

४. जिनेश्वर भगवन्त का आगम कथन होने से

तथा उसी के ही चार दृष्टान्त निम्नोक्त हैं –

१. जैसे कुम्हार का चक्र दण्ड आदि के अभाव में भी पूर्वाभ्यास से घूमता रहता है, उसी प्रकार योगों के अभाव में भी पूर्वाभ्यास के कारण अयोगी अवस्था में भी ध्यान होता है।

२. अयोगी केवली में उपयोग रूप भाव-मन विद्यमान है अतः उनमें ध्यान माना गया है।

३. जैसे पुत्र न होने पर भी पुत्र के योग्य कार्य करने वाला व्यक्ति पुत्र कहलाता है उसी प्रकार ध्यान का कार्य कर्म-निर्जरा है वहाँ यह भी विद्यमान है। अतः वहाँ भी ध्यान माना गया है।

४. एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ "ध्यै" धातु जैसे चिन्तन अर्थ में है वैसे काय योग के निरोध अर्थ में भी है और अयोगित्व अर्थ में भी है, अतः अयोगित्व अर्थ के अनुसार अयोगी केवली में ध्यान का सद्भाव मानना उपयुक्त ही है।

७१. ध्यानशतक - श्लो. ८५-८६ पृ. २९२
योगशास्त्र ११/१२ पृ. २६६

४. आतरिक शोधन समत्व की प्रयोगात्मक विधि से

१. सम एक दृष्टि है रसायन परिवर्तन की,
२. विभिन्न शक्तियों का स्रोत – समत्व साधना,
३. प्रतिकूल परिस्थिति में संतुलन का विवेक
विषमता में स्थिरता,
विवशता में स्वाधीनता,
भयभीत अवस्था में धैर्यता,
ज्ञानी सम अज्ञानी विषम
वीतरागी सम सरागी विषम
संयमी सम भोगी विषम -------

समत्वयोग

समता शब्दार्थ–समता शब्द का सामान्य अर्थ तटस्थ, माध्यस्थ, उदासीन, राग-द्वेष से रहित इत्यादि होता है।[१] तत्वानुशासन में समता शब्द के विविध पर्याय प्राप्त होते हैं। जैसे–माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, निःस्पृहता, परमशान्ति इत्यादि।[२] पद्मनंदि पंचविंशतिका ग्रंथ में साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग चित्त निरोध और शुद्धोपयोग इत्यादि शब्द समता के अर्थ में प्राप्त होते हैं।[३] द्रव्य संग्रह सटीक में मोक्षमार्ग का अपरनाम परमसाम्य कहकर साम्य का वैशिष्ट्य स्थापित किया है।[४] प्रवचन सार ग्रंथ में चारित्र ही धर्म है और धर्म ही साम्य है। साम्य मोह रहित (राग, द्वेष तथा मन, वचन, काया के योगोरहित) आत्मा का परिणाम है।[५] नयचक्र ग्रंथ में समता के शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म स्वभाव की आराधना इत्यादि पर्याय परिलक्षित होते हैं।[६]

---

१. पाइअसद्दमहण्णवो - पृ. ८६४
२. तत्त्वानुशासन श्लो. ४-५
३. पद्मनन्दि पंचविंशतिका श्लो. ६४
४. द्रव्य संग्रह - श्लो. ५६ की टीका
५. प्रवचन सार - श्लो. ७
६. बृहत् नयचक्र श्लो. ३५६

साम्य शुद्ध जहाँ न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण है, और न कोई विकल्प ही है, किन्तु जहाँ केवल एक चैतन्य स्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसी को साम्य कहा जाता है।[७] साम्य भाव में स्थित साधक को इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के प्रति मोह उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जिस साधक को समभाव की भावना है, उस साधक की समस्त आशाएँ तत्काल नाश हो जाती हैं, अविद्या क्षण भर में क्षय हो जाती है। तथा वासनाएँ भव्य हो जाती हैं।

आत्मा का अपने समस्त पर द्रव्यों और उनकी पर्यायों से अभिन्न स्वरूप निश्चित होते ही उसी समय साम्य भाव उत्पन्न हो जाता है। इस साम्यभाव में जब साधक स्थित हो जाता है। तब लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जन्म-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा, इष्ट-अनिष्ट, मान-सम्मान इत्यादि विषमताओं में राग-द्वेष न करना किन्तु माध्यस्थ भाव से ज्ञाता-दृष्टा बनकर समता साधना में स्थित रहना समत्वयोग कहलाता है अथवा अविद्या द्वारा इष्ट-अनिष्ट वस्तु तत्व में जो कल्पना जीवात्मा को होती है उस कल्पना को सम्यक्ज्ञान के बल से दूर कर समभाव से भावित होना समत्व योग है।[८]

समत्व योग का लक्षण

समत्वयोगी ही प्रतिकूल परिस्थितियों में एवं विभिन्न अवस्थाओं में अपना संतुलन विवेकपूर्वक रख सकता है। यहाँ तक कि मन के विचारों में, वचन के तरंगों में, काया की चेष्टाओं में, प्रत्येक स्थानों में, प्रति क्षणों में, सुषुप्त अवस्था में या जागृत अवस्था में, रात्रि में, या दिन में, प्रत्येक प्रवृत्तियों में मन, वचन और काया से समत्वयोगी समता रस में संलीन रहता है।[९]

योगियों के अनुभव ने इस समता को विभिन्न स्वरूप में परिलक्षित किया है। जैसे– जब साधक प्रतिद्वन्द्वात्मक अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों या अवस्थाओं में समभाव की मस्ती में मस्त बनकर, रागद्वेष रहित होकर उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है, तब जो साधक को सहयोग देती है वह समता है।[१०] जब वह समता आत्मभाव में स्थिर रहती है, स्वतः में संलीन हो जाती है, और समभाव में भावित होकर आत्मा के मूल स्वभाव को अधिष्ठित करती है तब उसी समता को आत्मस्थिरता कहते हैं। समत्व के सहयोग से जब साधक सर्व सावद्य से विरत, तीन गुप्ति से युक्त, और इन्द्रिय विवशता से मुक्त रहता है, तब समता को सावद्ययोग की निवृत्ति कहते हैं। यही समता साधक के साथ संयम में एकता लाती हुई सामायिक नाम को सार्थक करती है।

---

७. पद्मनन्दि पंचविंशतिका श्लो. ६४
८. योगबिन्दु श्लो. ३६४
९. योगसार श्लो. १७
१०. योगदीपक श्लो. १६

यहाँ समता अर्थ में जो सामायिक शब्द का प्रयोग हुआ है वह भाव सामायिक के अर्थ में विलक्षण होता है। व्याकरण की दृष्टि से इसके प्रत्येक शब्द का भाव समतारस में परिपूर्ण होता है। सामायिक शब्द में, सम आय इक, तीन शब्द का समन्वय होता है। सम् अर्थात् रागद्वेष का अभावरूप माध्यस्थ परिणाम। आय अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप लाभ। इक अर्थात् जो भाव होता है वह सामायिक कहलाता है।

भद्रबाहु स्वामी के अनुसार जब साधक सावद्ययोग से निवृत्त होता है, छकाय जीवों के प्रति संयत होता है मन, वचन और काया से एकाग्र होता है, स्वस्वरूप में उपयुक्त होता है, यत्नपूर्वक विचार करता है, तब उस आत्मा को सामायिक कहा जाता है।[११]

गोम्मटसार ग्रंथ के अनुसार परद्रव्य से निवृत्त साधक की ज्ञान चेतना जब आत्म-स्वरूप में प्रवृत्त होती है तब भाव सामायिक कही जाती है। रागद्वेष से रहित माध्यस्थ भावनायुक्त आत्मा सम कहलाता है। उस सम् में गमन करना भाव सामायिक है।[१२]अणगार धर्मामृत ग्रंथ के अनुसार संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्रीभाव रखना। अशुभ परिणति का त्याग करके शुभ परिणिति में स्थित होना भाव सामायिक है।

विशेषावश्यक भाष्य में भी सामायिक का प्रभुत्व परिलक्षित होता है। जैसे–

जिस साधक की आत्मा संयम में, नियम में तथा तप में लीन है, उनको वास्तविक सामायिक व्रत होता है। जैसे कैवल्यज्ञानी भगवन्त आत्मस्वरूप का निरोध करने वाले रागादि अंधकार का नाश सामायिकरूपी सूर्य से करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा में स्वाभाविक रूप में परमात्मस्वरूप निहित है।[१३]जिस स्वरूप को योगी पुरुष जानते और देखते रहते हैं। वास्तव में सभी आत्मा परमात्मस्वरूप ही हैं। प्रत्येक आत्मा में कैवल्यज्ञान का अंश निहित है। आगम में परम महर्षियों ने कहा है–

"सव्वजीवाणं पिं अणं अक्खरस्साणंतभागो निच्चुग्घाडियों चेवा।

अर्थात् सभी जीवों में अक्षर का अंतवाँ भाग नित्य अनावृत्त खुला रहता है। सिर्फ रागादि दोषों से कलुषित होने के कारण ही आत्मा में साक्षात् परमात्मस्वरूप प्रगट नहीं होता। सामायिक रूपी सूर्य का प्रकाश होने से रागादि अंधकार दूर हो जाता है और आत्मा में परमात्म स्वरूप प्रगट हो जाता है।

यही भाव प्रवचनसार में भी प्राप्त होते हैं, जैसे अज्ञानी साधक लाखों करोड़ों

---

११. आवश्यक निर्युक्ति अन्तर्गत मूलभाष्य गा. १४९, पत्र ३२७/१
१२. गोम्मटसार जीवकाण्ड टीका गा. ३६८
१३. प्रवचन सार -३-३१

जन्मों तक तप करके जितने कर्म खपाता है, सम्यक्ज्ञानी साधक मन, वचन और काया को संयत रखकर सांस मात्र में ही उतने कर्म खपा देता है।

इस प्रकार जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष पधारे हैं, वर्तमान में मोक्ष प्राप्त कर रहे हैं, अथवा भविष्य में मोक्ष पधारेंगे इत्यादि समस्त प्रभाव सामायिकादि हैं। क्योंकि तीव्र जप, तीव्र तप या मुनिवेश को धारणकर स्थूल बाह्य क्रियाकांड रूप चारित्र की चाहे जितनी प्रतिपालना करें किन्तु समतारूप सामायिक के अभाव से उसे मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। सामायिक तो समता का सागर है। जो साधक समता सागर में स्नान करता है वह सामान्य श्रावक होने पर भी साधु के समान कार्य कर सकता है। इस विषय में आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में अपना मंतव्य स्पष्ट किया है कि–

सामाइयम्मि ड कए समणो इव सावओ हवई जम्हा।
पर्यण कारणेणं बहुंसो सामाइयं कुज्जा।[१४]

व्रत का पूर्णतः प्रतिपालन करने से श्रावक भी साधु जैसे ही प्रक्रिया कर सकता है। अर्थात् वह भी आध्यात्मिक श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त कर सकता है। अतः श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह अधिक से अधिक सामायिक करे और समता रस का आस्वादन ले।

चंचल मन का नियन्त्रण करने के लिए समत्व योग रूप सामायिक व्रत की आराधना होती है जिससे अशुभ कर्मों का क्षय होता है। आचार्यों ने इस समत्वरूप सामायिक का यहाँ तक महत्व दिया है कि, देव भी अपने हृदय में इस सामायिक व्रत स्वीकार करने की तीव्र अभिलाषा रखते हैं और ऐसी भावना करते हैं कि इस समत्वरूप सामायिक का आचरण हो सके तो मेरा देव–जन्म सफल हो जाये। अतः जैनशास्त्र के अनुसार देवों की अपेक्षा मानव आध्यात्मिक भावनाओं का प्रतिनिधि है। समत्व योग रूप सामायिक की प्राप्ति का श्रेय देवों को नहीं किन्तु मानवों को ही है। अतः सामायिक की साधना का अधिकार साधक के लिए देशतः या सर्वतः विरति आवश्यक है। विरति अर्थात् ज्ञान, श्रद्धापूर्वक त्याग, मोहपाश में आबद्ध आत्मा को पौद्गलिक वस्तुओं में जो रति उत्पन्न होती है उसका मन, वचन, काया से निर्गमन करना विरति है। यह विरतिरूप साधना योग की साधना है।

समभाव के प्रभाव से वैर करने वाले क्रूर जीव भी अपने जन्मजात वैर को भूल जाते हैं । समवसरण में स्थित सिंह खरगोश भी उस समता मूर्ति के प्रभाव से *विस्मरण कर वीतराग वाणी का पान करते हैं ; हरिणी तो सिंह के बालक को अपने* पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है और प्यार करती है। गाय व्याघ्र के बच्चों को स्नेह

---

१४. सामायिक सूत्र भा. १ - पृ. १२१

करती है, माजांरी हंस के बच्चे को स्नेह की दृष्टि से देखती है, तथा मोरनी सर्प के बच्चे से प्यार करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी परस्पर वैरभाव को भूल जाते हैं।

इस प्रकार समत्व से आत्मतत्व पर तथा राग-द्वेष रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त होती है। इतना ही नहीं जटिल से जटिल कर्मों का क्षय भी हो जाता है।

समता की प्रयोगशाला में जिन्होंने संयम का सूत्र सिखाया, कर्मों के चित्र को ध्यान का प्रकरण बनाया और शाश्वत प्रसन्नता का वरदान दिया उनका इतिहास सदा के लिए अमर बन गया।

५. वृत्तियों के प्रभाव से आवेगों और शारीरिक प्रक्रियाओं में परिवर्तन

१. वृत्ति रूपान्तरण से रासायनिक परिवर्तन,

२. आवेगों के प्रभाव से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक परिवर्तन– स्नायुतन्त्र पर, ग्रंथितन्त्र पर, नाड़ीतन्त्र पर वृत्तियों का प्रभाव

३. अंतःस्रावी ग्रंथियों पर होने से हृदय, गुर्दे, फेफड़े, धमनी, कोशिकाएँ, नाड़ी आदि में परिवर्तन।

४. योगियों की भाषा में ग्रंथियों का स्थान ही चक्रों का स्थान है–

१. जपयोग

२. मन्त्रयोग

३. कुंडलिनी योग

वृत्ति संक्षय योग

वृत्ति संक्षय योग में 'वृत्ति-संक्षय-योग-प्रयोग, वृत्तियों को क्षय करने के अनेक प्रयोग विद्यमान हैं। इन प्रयोगों द्वारा विकास होने पर अनुभूति की पृष्ठभूमि पर अंकित होना आसान हो जाता है। वृत्तियों को रूपान्तरित करने का सबसे बड़ा प्रयोग है अध्यात्म, भावना, ध्यान, समत्व आदि योग। इन योगों द्वारा अनन्त काल से आवर्त में घिरा हुआ मानव वृत्तियों से मुक्त होने में समर्थ होता है। अतः वृत्ति क्या है उसे जानना भी आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणियों को स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म तीनों शरीर में आवेगों के माध्यम से वृत्तियों का परिवर्तन होता रहता है। सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित सूक्ष्म शरीर के इलेक्ट्रॉन स्थूल शरीर के इलेक्ट्रॉन से अधिक तीव्र होते हैं, अतः उसकी प्रवृत्ति अनिन्द्रिय होती है। सूक्ष्म शरीर की अनुभूति आवेगों के माध्यम से स्थूल शरीर में वृत्तियों के रूप में क्रियान्वित होती हैं जैसे –

प्यार-तिरस्कार–जहाँ प्यार होता है वहाँ तिरस्कार नहीं।

जहाँ तिरस्कार होता है वहाँ प्यार नहीं।

आनन्द-शोक–जहाँ आनन्द होता है वहाँ शोक नहीं।

शोक– जहाँ शोक होता है वहाँ आनन्द नहीं।

भय-वीरता—जहाँ भय होता है वहाँ वीरता नहीं ।

वीरता—जहाँ वीरता होती है वहाँ भय नहीं ।

इस प्रकार काम, क्रोध, मद, लोभ, क्षमा, प्रसन्नता, शान्ति, ईर्ष्या, अहं इत्यादि अनेक वृत्तियों का आवेग योग के द्वारा रूपान्तरण होता है और उसी रूप में शारीरिक और मानसिक अनुभूति पाई जाती है। प्यार, तिरस्कार आनन्द या शोक आदि आवेगो का प्रयोगात्मक सम्बन्ध स्व और पर से है। स्व की विमुखता पर का प्यार जागृत करना है और पर का तिरस्कार स्व के प्यार को सबल बनाना है। यहाँ पर का तिरस्कार निषेधात्मक रूप से स्व में प्रतिष्ठित होना है, और स्व का प्यार विध्यात्मक रूप से पर में तिरस्कार करने में समर्थ है ।

इस प्रकार इन प्रयोगात्मक आवेगों का प्रभाव स्नायु तन्त्र पर पड़ता है । जैसे—भय के आवेग से हृदंय की धड़कन बढ़ जाना। शोक के आवेग से रक्त कणों का ह्रास होना। प्रसन्नता के आवेगों से वजन (वेट) बढ़ना इत्यादि बाह्य परिवर्तन होते हैं । जैसे—

दो बच्चे हैं, एक के प्रति तिरस्कार बुद्धि है और दूसरे के प्रति प्यार। तिरस्कृत बच्चा अपने आप में हीनता, निराशता, क्षुद्रता इत्यादि का अनुभव करता है। प्यार पाने वाला, प्रसन्नता, आनन्द, उत्साह और साहस आदि का अनुभव करता है ।

वृत्तियों का प्रभाव आवेगों से

द्वेष के आवेग से—ईर्ष्या, यश की लालसा, सुख की तमन्ना, प्रतिशोध की भावना, वैर या बदला लेने की सजगता जागृत होती है ।

भय के आवेग से—एड्रिनल ग्रंथि के स्राव होने से—दु:स्वप्न आना स्वप्न में चिल्लाना, अंधकार से भागना, मृत्यु, अपराध, अपमान, इत्यादि होने पर भय का आवेग जागृत होता है ।

शोक के आवेग से—रोना, पिटना, क्रोध करना, हिंसा करना इत्यादि ।

एक वैज्ञानिक ने फोटोग्राफी के माध्यम से आवेगों का विशेष प्रयोग किया है। उसने विद्युतीय गतिविधि द्वारा ग्राफ अंकित किया है। माली पौधों को संवारता है तब फूल प्रसन्नता का या प्यार का आवेग अनुभव करता है जब फूल तोडने का भाव करता है तब भय का आवेग जागृत होता है, जब फूल तोड़ा जाता है तव शोक का आवेग उत्पन्न होता है और माली पुनः प्यार करता है फिर भी तिरस्कार का आवेग उभरता रहता है ।

जो फूल टूटा है उसमें भी आवेगों के अति तीव्रता के भाव प्रतीत होते हैं। फूल के टूटने के दस घंटे के बाद आवेगों का मंद भाव हो जाता है और उसके दस घंटे के बाद आवेग समाप्त हो जाते हैं।

क्रेस्कोग्राम का आविष्कार हुआ और पौधों में सुख, दुःख की संवेदना का सबूत विज्ञान युग में जगदीशचन्द्र वसु ने दिया, सभी ने स्वीकार कर लिया किन्तु परमात्मा महावीर ने तो आचारांग सूत्र के प्रथम अध्याय में ही पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव विज्ञान को प्रस्थापित किया है।

इस प्रकार आवेगों का प्रभाव हमारी अंतःस्रावी ग्रंथियों पर पड़ता है क्योंकि ग्रन्थियों का कार्य है हारमोन्स उत्पन्न करना, उत्पन्न रसों को रक्त में मिश्रित करना तथा अपने शरीर तन्त्र पर नियन्त्रण बनाए रखना। इन ग्रन्थियों से उत्पन्न हारमोन्स जब रक्त में मिश्रित हो जाते हैं तो हमारे विचार और आचार पर उसका प्रभाव गहरा होता है। आचार, विचार का सम्बन्ध श्वसन क्रिया से गहरा है। पहले वैज्ञानिक अपने प्रयोग में सूक्ष्म दर्शक यन्त्र का प्रयोग करते थे अब इन यन्त्रों के साथ मन का भी प्रयोग हो रहा है। आचार-विचार श्वसन आदि सिद्धान्त के आधार पर मस्तिष्क की विभिन्न अवस्था का निर्देश पाया जाता है जैसे कार्डियोग्राम द्वारा हृदय की गति का मापदंड निकाला जाता है वैसे ही चित्त की अवस्थाओं का निर्देश मिलता है कि व्यक्ति का मन शान्त है या विक्षिप्त है, वह भावी की कल्पना के लिए सोचता है या अतीत का रोना रोता है। वह ध्यान में है या निद्रा में, एकाग्रता में है या विकल्पों की उधेड़बुन में इत्यादि मूर्च्छित और जागृत चित्त की अवस्था से काम, क्रोध, मद, लोभ, आनन्द, शान्ति, प्रेम आदि आवेगों का स्थूल शरीर पर प्रभाव अंकित होता है। इन आवेगों का प्रथम प्रहार मस्तिष्क पर होता है, अनुकूल आवेग हो तो नाड़ीतन्त्र का शोधन होता है, प्रतिकूल आवेगों से नाड़ीतन्त्र में गड़बड़ी होती है। दूसरा प्रहार हृदय पर पड़ता है अनुकूल आवेग से रक्त संचार का शोधन होता है प्रतिकूल आवेगों से रक्त संचार अस्तव्यस्त हो जाता है। तीसरा प्रहार एड्रिनल ग्रंथि (स्वाधिष्ठान चक्र) पर पड़ता है जिससे वीर्य शक्ति का नाश होता है।

इन आवेगों का प्रभाव आहार, निद्रा, कामुकता, लोलुपता आदि पर त्वरित गति से होता है जिससे तीव्र और मंद रूप में स्थूल शरीर में वृत्तियों का परिवर्तन पाया जाता है। आहार, निद्रा, कामुकता, लोलुपता, में वृत्ति यदि तीव्र है तो ध्यान साधना के लिए बाधक तत्त्व है। ध्यानयोग में आहार की मात्रा-अल्प, सात्त्विक, पथ्यकारी और अनुकूल आवश्यक है। गरिष्ठ और वरिष्ठ भोजन हो तथा असात्त्विक और प्रतिकूल भोजन हो, उसे पचाने में हमारी ऊर्जा का विशेष ह्रास होता है। मन विक्षिप्त रहता है,

एकाग्रता का अभाव-सा हो जाता है, अतः वही ऊर्जा का उपयोग यदि मस्तिष्कीय विकास में किया जाय तो हमें बहुत बड़ी उपलब्धि मिल सकती है।

मस्तिष्क शरीर का दो प्रतिशत भाग है, उसे बीस प्रतिशत ऊर्जा की आवश्यकता होती है। आवेगों का प्रतिकूल व्यवहार होने से ऊर्जा का ह्रास हो जाता है, फलतः मस्तिष्क अपना विकास तो नहीं कर पाता किन्तु अपनी ऊर्जा भी उसी आवेगों में समाप्त कर देता है। जिससे अच्छा मेधावी, प्रचारक और प्रतिष्ठित मानव भी क्रोध के आवेग में आत्महत्या कर बैठता है। शेर का शिकार करने वाला योद्धा भी मच्छर से भयभीत हो जाता है। मच्छर काटने से होने वाला बुखार पूरे बदन को प्रायः नष्ट कर देता है। अत्यधिक हर्ष के आवेग में आकर हेमरेज या पागलपन का शिकारी बन जाता है। तीव्र शोक के आवेग से हार्टट्रबल हो जाता है इत्यादि।

आवेगों की ओर ध्यान केन्द्रित होगा तो हमारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर में परिवर्तन होगा, वृत्तियों में परिवर्तन होगा। इस प्रकार आवेगों से लाभ भी होता है और हानि भी होती है अतः आवेगों का रूपान्तरण समत्व योग की साधना है।

कोष्ठक नं. २५

वृत्तियों का आवेग

तिरस्कार		तीव्र, मध्यम, मंद
भय		
शोक	**वर्ण**	कृष्ण नील कापोत
द्वेष	**रस**	कडुआ कषेला तीष्ट
क्रोध	**गंध**	दुर्गन्ध
मद	**स्पर्श**	कठोर भारी उष्ण रूक्ष
लोभ		

प्रेम		**तीव्र मध्यम मंद**
आनन्द		
शान्ति	**वर्ण**	**पीत्त रक्त श्वेत**
राग	**रस**	**मीठा, खट्टा, स्वादिष्ट**
क्षमा	**गंध**	**सुगंध**
सरलता	**स्पर्श**	**कोमल, हलका, शीत, स्निग्ध**
संतोष		

ग्रंथियों से वृत्ति संक्षय

वृत्तियों के माध्यम से तथा अंतःस्रावी ग्रंथियों से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक और भावनात्मक परिवर्तन विशेष रूप में पाया जाता है। फिजियोलोजिस्ट, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, चिकित्सकों आदि ने ग्रंथियों को पाने के लिए शरीर के अनेक विभाग किए और उन-उन स्थानों पर रही हुई ग्रंथियों का क्या कार्य है, उससे क्या लाभ होता है, नाड़ीतन्त्र, श्वसनतन्त्र, विचार, भाव आदि पर उसके प्रभाव से क्या परिवर्तन आता है इत्यादि खोजों का संशोधन किया है।

हमारे शरीर में अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं इन वृत्तियों से अनेक प्रकार की इच्छाएँ उद्भवित होती हैं। इच्छाएँ भोगने पर भी अतृप्त रहती हैं, और आदत या

संस्कार के रूप में ग्रंथियों में जमा हातो जाती हैं। परिस्थिति और घटना के अनुरूप मानव घटित होता रहता है और उसी रूप में विचार, भाव, स्मृति, कल्पना आदि रूप प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रन्थियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों (हार्मोन्स) के माध्यम से होता है। जिससे मस्तिष्क विशेष रूप में सक्रिय रहता है। फलत: कभी वासनाएँ उत्तेजित होती हैं तो कभी कषाय जागृत होती है, कभी आनन्द की तरंगें उठती हैं, तो कभी आंखें आंसू बहाती हैं। बिना आलंबन उत्तेजना या वासना प्रकट नहीं हो सकती। कोशिकाएँ, नाड़ियाँ, धमनी, फेफड़े, किडनी, हृदय आदि में इन सारी ग्रंथियों में पड़े हुए संस्कारों का प्रभाव होता है। जैसे—आमाशय, पक्वाशय, आंतें नलिकाएँ इत्यादि पर जो स्राव बहता है समूचे शरीर में ऊर्जा का संचार करता है।

अंत:स्रावी ग्रंथियाँ (endocrine glands) अनेक हैं, और भिन्न-भिन्न रूप में शरीर, मन और भावों में स्रवित होती हैं जैसे—

पिनियल ग्लैण्ड

यह ग्रंथि मस्तिष्क के मध्य भाग में है। साइंस के पुरस्कर्ताओं ने उसकी ऊर्जा के व्यय को रोकने का उपक्रम सोचा है क्योंकि मस्तिष्क ऊर्जा का दो प्रकार से व्यय होता है, १. कषाय, २. योग। कषाय से भावात्मक और योग से मानसिक ऊर्जाओं का ह्रास हाता है। जैसे काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि आवेगों से मस्तिष्क की ऊर्जा का विशेष ह्रास होता है। पिनियल ग्रंथि के स्राव से शान्ति, आनंद आदि की विद्युत ऊर्जा से इन आवेगों को मंद किया जाता है।

पिच्यूटरी ग्लैण्ड

इस ग्रंथि के स्रावित होने से मानसिक तनाव का अभाव होता है। शारीरिक स्वस्थता बनी रहती है। इसका स्थान भौवों के बीच मस्तिष्क के मध्य भाग में है। इस पर हरे रंग का प्रभाव होता है।

थॉयराइड ग्रंथि

यह ग्रंथि स्वर यन्त्र के समीप श्वास नली के ऊपर होती है। इसके द्वारा जिन रसों का स्राव होता है उनसे तिरस्कार-प्यार में, अशान्ति और तनाव, आनन्द में, कमजोरी और उदासीनता-प्रसन्नता में, सक्रिय होती है। इस पर पीले रंग का प्रभाव होता है। बुद्धि, स्मृति, कल्पना आदि इस ग्रंथि से संवर्धित होते हैं।

थाइमस ग्रंथि

यह ग्रंथि शारीरिक थकान को दूर करती है। अनुभव, आशा और बौद्धिक स्तर का संवर्धन करती है। यह ग्रंथि हरा और पीला मिश्रित नीबू के रंग की होती है।

एड्रेनल ग्रन्थि

बुरी आदतें उत्पन्न होना जैसे—क्रूरता, आत्महत्या, धोका देना, विश्वासघात करना, मारना, पीटना, सम्पत्ति, संतान, सत्ता, सुन्दरी आदि में लोलुपता इत्यादि ।

गोनाड्स ग्रंथि

यह भी इसी प्रकार अनेक स्थलों पर अनुसंधान करती हैं । विशेष कामना प्रधान के रूप में पायी जाती है ।

आकृति नं. १४

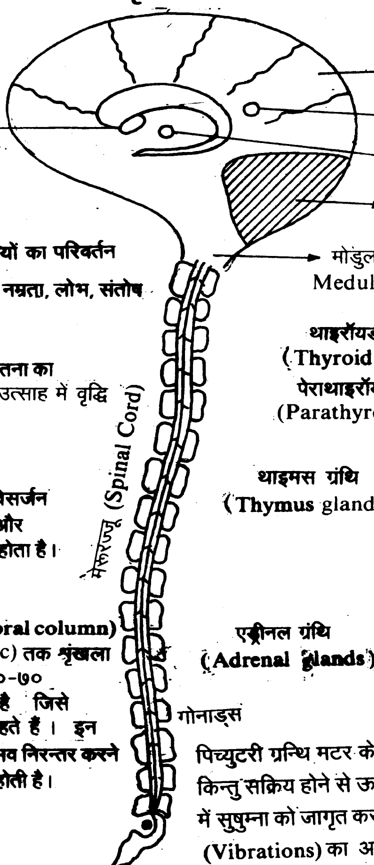

पिच्युटरी ग्रन्थि मटर के दाने जैसी छोटी ग्रन्थि है किन्तु सक्रिय होने से ऊपरी छोर से भीतर गहराई में सुषुम्ना को जागृत करने में तथा प्राण के प्रकंपनों (Vibrations) का अनुभव कराती है । सुषुम्ना जागृत होने से पैर के अंगूठे से लेकर सिर तक सम्पूर्ण शरीर में आन्तरिक परिवर्तन पाया जाता है। सम्पूर्ण स्थूल शरीर में बिजली की धार की लकीरे अनुभूत होती हैं । सूक्ष्म शरीर में और अति सूक्ष्म शरीर में दिव्य ज्योति शिखा के रूप में प्रज्जवलित होती है ।

ये ग्रंथियाँ योगियों की भाषा में चक्र के रूप में हजारों वर्ष पुरानी हैं। जिस प्रकार ग्रंथियों का सम्बन्ध एक– एक-दूसरे से है वैसे ही चक्रों का सम्बन्ध भी सभी से है। अंतर इतना ही है कि ग्रंथि वृत्ति है और चक्र प्रकृति है। सहस्त्र चक्र से मूलाधार और मूलाधार से सहस्रसार के बीच में रहे हुए चक्र सुषुम्ना नाड़ी से जुड़े हैं। ग्रन्थियों के माध्यम से वृत्तियाँ भोगी जाती हैं और चक्रों के माध्यम से वृत्तियों का क्षय किया जाता है। योगियों ने अपनी ध्यान-दृष्टि से यह देखा है कि प्रत्येक चक्र का मूल, जड़-बुनियाद तथा शक्ति का केन्द्र सुषुम्ना नाड़ी है।

१. **मूलाधार चक्र**—शरीर में मेरुदण्ड के अंतिम भाग पुच्छास्थि के समीप है। इस चक्र में रजोगुण के प्रभाव से पीला और सात्त्विक गुण के प्रभाव से श्वेत रंग होता है अन्यथा इसमें लाली हमेशा झलकती रहती है। यह चक्र पृथ्वी तत्त्व प्रधान और दीपशिखावत नीली, लाल, पीली ज्योत् के रूप में स्पष्ट होता है। सुषुम्ना यहाँ खुलती है और कुंडलिनी का प्रवेश द्वार है।

२. **स्वाधिष्ठान चक्र**—यह चक्र मूलाधार से चार अंगुल ऊपर गर्भाशय के मध्य में जो शुक्रकोश नामक ग्रंथि (Seminal Vesicle) होती है उसमें प्रतीत होती है। इसी स्थान पर Adrenal Gland भी होती है। इस ग्रंथि से अनेक प्रकार के स्रावों का उत्पादन होता है, तथा मस्तिष्क और प्रजनन अवयव स्वस्थ, विकसित तथा सशक्त होते हैं। एड्रिनल ग्लैण्ड जब वृत्तियों से जुड़ी है तब गोनाड्स (कामग्रन्थि) का द्वार खुला होता है, कामुकता, वासना, विषय-कषाय में अनुरक्तता विशेष होती है और जब यह ग्रंथि प्रकृति से जुड़ती है तब निर्मलता, पवित्रता, क्षमता आदि गुण प्राप्त हो जाते हैं। इस चक्र का रंग नारंगी जैसा है और तत्त्व जल है। यह चक्र सूर्य की किरणों तथा अल्ट्रा-वायलेट का किरणों से ऑक्सीजन अर्थात् विशुद्ध प्राण-वायु ग्रहण करता है। यह तत्त्व जब शरीर से बाहर आता है उसे ओरा (Auro) कहते हैं। इस चक्र पर संयम करने से ब्रह्मचर्य में सहायता मिलती है।

३. **मणिपुर चक्र**—यह चक्र नाभि प्रदेश में मेरुदण्ड के सामने स्थित होता है। यहाँ से अनेकानेक नाड़ियाँ अंग-प्रत्यंगों तक जाती हैं। इस केन्द्र के माध्यम से सम्पूर्ण शरीर विज्ञान का दर्शन किया जाता है। यह चक्र अग्नि तत्त्व प्रधान है और लाल रंग से सुशोभित है।

नाभि मंडल के ठीक ऊपर दाहिनी ओर यकृत में तैजस-सूक्ष्म विद्युत शरीर (Etheric body) सूर्य जैसा देदीप्यमान होता है। पाचन तन्त्र में यह सहयोगी है। इस चक्र की बायीं ओर प्लीहा (तिल्ली) में इसका स्राव प्रवाहित होता है। हमारे शरीर में पेंक्रियाज से इन्सुलिन रस निकलता है जो आमाशयिक रस तथा गाल-ब्लेडर से

निकलने वाले पित्तरस से मिलकर भोजन का परिपाक करता है तथा सर्करा को संतुलित रखता है। इस Etheric body से भी अतिसूक्ष्म Astrol body है जो सम्पूर्ण शरीर को रस प्रदान करता है। मणिपुर चक्र में एकाग्र ध्यानस्थ साधक संपूर्ण देह की धड़कन सुन सकता है,दिव्यनाद सुन सकता है और सूक्ष्म तैजस शरीर से स्रावित विद्युत तरंगों का आनंद लूट सकता है।

४. अनाहत चक्र—यह चक्र हृदय के भीतर होता है। यह चक्र वायु तत्त्व प्रधान है। इसका रंग गुलाबी है किन्तु साधना काल में इस चक्र के माध्यम से रंगबिरंगे अद्‌भुत आकार दृश्यमान होते हैं ; प्राण, प्रकृति, अहंकार, चित्त आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के दर्शन भी होते हैं।

आकृति नं. १५

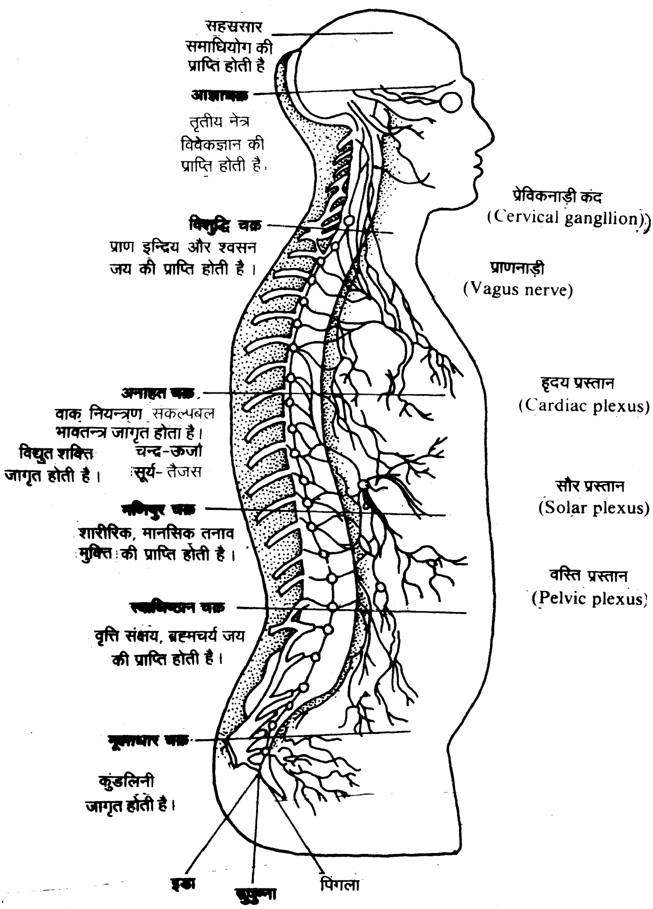

नाडितन्त्र भावतन्त्र को तथा विद्युत् ऊर्जा को जागृत करता है तथा कोशिकाओं को बढ़ाता है। विद्युत ऊर्जा से प्राप्त रक्त कोशिकाएँ अपने शरीर में ६०० खरब से भी अधिक होती हैं सूक्ष्म वीक्षणयन्त्र तथा सूक्ष्मतम वीक्षण यन्त्र द्वारा ये कोशिकाएं दृश्यमान होती हैं। छोटी कोशिकाऐं १/२०० मिलीमीटर लम्बी और चौड़ी होती हैं। बड़ी कोशिकाएं १/४ मिलीमीटर लम्बी-चौड़ी होती है। जीवित कोशिकाओं में अनेक प्रकार के रसायन विद्यमान होते हैं। उसे पोषक तत्त्व और प्राणवायु (ऑक्सीजन) की निरन्तर आवश्यकता होती है। इन कोशिकाओं से तैजस (कुंडलिनी) शक्ति जागृत होती है। भावतन्त्र विशुद्ध होता है और वृत्तियों का क्षय होता है।

५. **विशुद्धि चक्र**—यह चक्र कंठ क्षेत्र में थॉयराइड ग्रंथि के पास स्वरतंत्र (tarynx) में स्थित माना गया है। यह चक्र भी वायु प्रधान है तथा रंग जामुनी है। स्वर, ध्वनि, नाद यहाँ से प्रकट होते हैं। इस चक्र पर संयम होने से भूख प्यास की निवृत्ति, मन की स्थिरता और नाद की उपलब्धि होती है।

६. **आज्ञाचक्र**—यह चक्र दोनों भौहों के बीच बिन्दी के स्थान पर होता है। इस स्थान पर भूरे रंग की राई जितनी मांस की दो ग्रंथियाँ होती हैं। ध्यानअवस्था में ये ग्रंथियाँ सक्रिय हो जाती हैं, जो एक ऋणात्मक (Negative) और दूसरी धनात्मक (Positive) विद्युत युक्त होती है। इससे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है।

७. **सहस्त्र चक्र**—यह चक्र मस्तिष्क के मध्य भाग से सम्पूर्ण मस्तिष्क में व्याप्त है। इसमें सभी वर्ण पाये जाते हैं। यें साधना का सर्वोत्तम स्थान है, समाधि और मुक्ति का राज है।

ग्रंथि भेद

काम, क्रोध, मद, माया, लोभ, अहं, भय आदि वृत्तियाँ हैं। ये वृत्तियाँ आत्मोन्नति के लिए बाधक होती हैं। अतः आगम में इन वृत्तियों के क्षय को ग्रंथिभेद कहा जाता है। हमारे भीतर वृत्तियों के संचय से विषय, कषाय और भाव-लेश्या के शल्य यत्र-तत्र सर्वत्र पड़े हैं। इन शल्य अर्थात् ग्रंथियों का भाव द्वारा रूपान्तरण किया जाता है।

अनन्त काल से जीव अव्यवहार राशि में जन्म-मृत्यु का दुख भोगता है। कभी अकाम निर्जरा करता हुआ जीव अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आता है। पुण्य और पाप कर्म के बन्धन से अनन्त काल तक इस संसार में परिभ्रमण करता है। इस परिभ्रमण से पर होने की प्रक्रिया को ग्रंथि भेद कहा जाता है। कषाय आदि का आवेग तीव्रतम है तो संसार का परिभ्रमण अनन्त है। यदि मंद है तो संसार का परिभ्रमण अल्प है। जिस जीव का परिभ्रमण अल्प है उसे उपशम सम्यकत्व की प्राप्ति होती है।

आकृति नं. १६

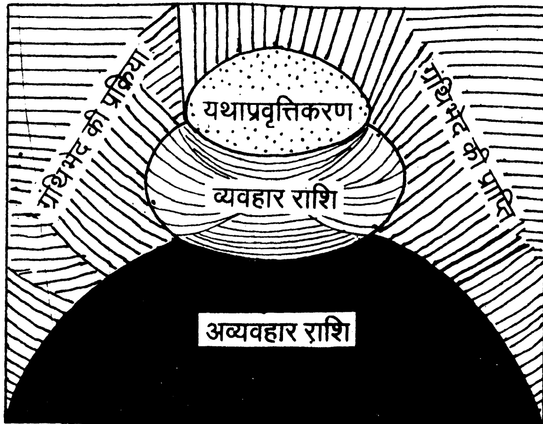

उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति	उपशम श्रेणी	अनिवृत्तिकरण कैवल्य मोक्ष	क्षपक श्रेणी ८, ९, १०, १२, गुणस्थान

७० क्रोडा क्रोडी सागरोपम की स्थिति वाले मोहनीय कर्म की प्रगाढ़ मिथ्यात्व की स्थिति अंधकार युक्त अनन्त अव्यवहार राशे से व्यवहार राशि	मंद मिथ्यात्व तीनों करण के पूर्व की विशुद्धि १ अंतर्मुहूर्त	मिथ्यात्व का अंतिम चरण अंतिम यथाप्रवृत्तिकरण	अपूर्व करण अपूर्व स्थितिघात रस घात गुण श्रेणी गुण संक्रमण स्थिति बन्ध	यथाप्रवृत्तिकरणं से ग्रंथिभेद होता है और सम्यकत्व की प्राप्ति होती है। सम्यकत्व प्राप्त होने के पश्चात् प्रथम अपूर्व करण से श्रेणी पर आरूढ़ होता है और द्वितीय अपूर्वकरण से क्षपक श्रेणी से आयोज्यकरण समुद्घात् .कैवल्य की प्राप्ति शैलेशीकरण और अंत में मोक्ष की प्राप्ति करता है।

अनिवृत्तिकरण का यह असंख्यातवाँ भाग है। यहाँ जीव अपूर्वकरण का आवेग होने से स्थिति और रस का घात करता है और गुण श्रेणी पर आरूढ़ होता है। यहाँ साधक का नया आयाम खुलता है और वीतराग अवस्था प्राप्त होती है।

इस प्रकार स्थूल शरीर के प्रभाव से स्थूल ग्रंथियों और सूक्ष्म शरीर के प्रभाव से सूक्ष्म ग्रंथियों का परिवर्तन शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर पाया जाता है।

आकृति नं. १७

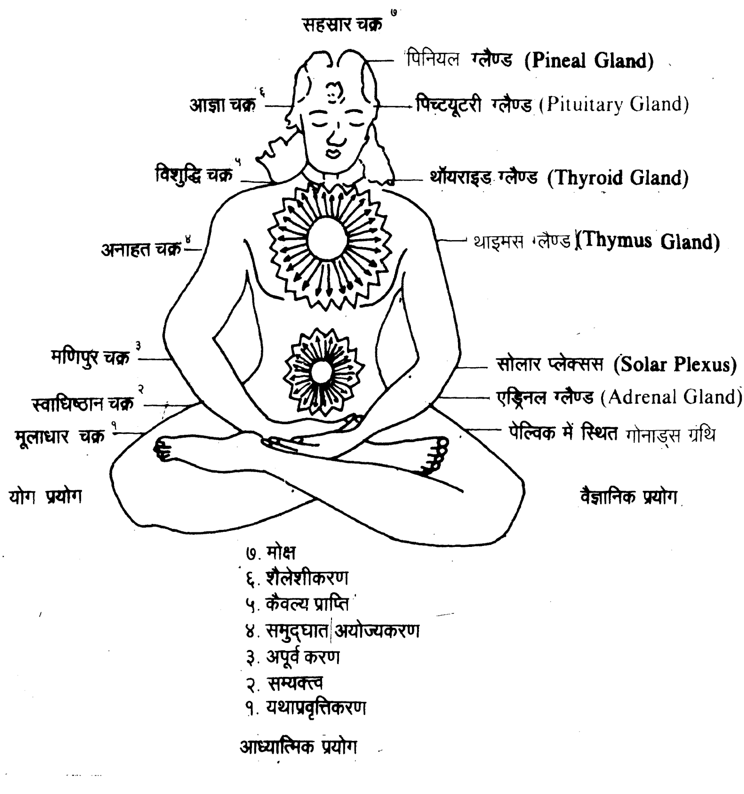

जपयोग और मंत्रयोग का शरीर, इन्द्रियवृत्ति और मन पर प्रभाव

जप और मन्त्र का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्त्रोच्चार की आवश्यकतानुसार यदि जप होवे तो विक्षिप्त मन सुलीन हो जाता है। शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण से ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं और आकाशीय प्रकपनों में तीव्रता लाती हैं अतः प्राथमिक भूमिका पर जप ही करना आवश्यक है। जप के तीन आयाम हैं–

१. भाष्य जप—अन्य जिसे सुन सके, न अतिशीघ्र न अति विलम्बित किन्तु माध्यस्थ श्वासोच्छ्वास का निरोध करके बाह्य या आभ्यंतर कुंभक में यह जाप होता है।

२. उपांशु जप—उपांशु जप अन्तर्जाप से होता है। इसे अन्य कोई सुन नहीं सकता। इस जप से आंतरिक क्रियाशीलता की स्थिति होती है। जैसे कपड़े का मैल घर्षण से दूर होता है, बर्तन राख से, कचरा झाड़ू से स्वच्छ होता है।

३. मानस जप—मानस जप केवल मनोवृत्ति से ही किया जाता है वह स्वयमेव होता है। इसे अजपाजाप भी कहते हैं, चित्त को एकाग्र करने का यह सहज उपाय है। इस जप से वृत्तियों का निरोध होता है।

जप शास्त्रों का निर्देश मातृका न्यास से निष्पन्न होता है। मातृका स्वयं ज्ञानशक्ति वाहिनी है। ज्ञानशक्ति का उन्मीलन कराने वाली वैरवरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा ये चार वाणी हैं।

१. वैरवरी—व्यक्त अकारादि वर्ण - समूह
२. मध्यमा—मंत्र रूप
३. पश्यन्ती—अव्यक्तवाणी
४. परा—परम अव्यक्तवाणी

यहाँ मध्यमा और पश्यन्ती में ही मंत्र, तंत्र और यंत्र का विधान होता है। स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण से मनोग्रंथियों का स्तर खुल जाता है ध्वनि तरंगें, आकृतियाँ उभरती हैं। फलतः मन का संतुलन, रोग निवारण तथा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक बल प्राप्त होता है। मन्त्र को वाणी में, वाणी को मन में, मन को प्राण में, प्राण को तैजस में, और तैजस को चैतन्य में लीन करना विनियोग या विलीनीकरण है। इस प्रकार यन्त्र सिद्ध होने पर फलित होता है।

मन्त्र से वृत्ति संक्षय

जब हम शब्द को मन्त्र की भूमिका पर लाते हैं तो सारे परमाणुओं में प्रकंपन का प्रारम्भ हो जाता है। मन्त्र परमाणुओं का अजस्र स्रोत सूक्ष्म शरीर में शक्ति के रूप में पैर से सिर तक घूमता है और अपनी विद्युत ऊर्जाओं को तरंगित करता है।

प्रत्येक मानव के चारों ओर आभामंडल होता है। मन्त्र ऊर्जा से ये आभामंडल शुद्ध हो जाता है, सुषुम्ना जागृत हो जाती है और शरीर में रसायन परिवर्तन हो जाता है। उत्तेजित वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और साधक निष्काम, निर्विकार और विराग प्रवृत्ति में निवृत्ति रूप को धारण करता है। फलतः कषायों का उपशमन प्रारम्भ होने

लगता है। आधि, व्याधि और उपाधि से समाधि प्राप्त होने लगती है। तनाव से मुक्त होने का, भौतिक इच्छाओं को परास्त करने का सहज उपाय है मंत्र की साधना। स्मृति, कल्पना और चिन्तन के द्वार पर यदि मन्त्र शक्ति का पहरा है तो बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता में प्रवेश सहज होता है। मन्त्र अचिन्त्य शक्ति है। शब्दात्मक शक्ति से अर्थात्मक, अर्थात्मक शक्ति से भावात्मक और भावात्मक शक्ति से अचिन्त्यात्मक शक्ति होती है।

मन्त्र का पिंडस्थ, पदस्थ रूपस्थ के रूप में ध्यान होता है, रूपातीत ध्यान में मन्त्र और साधक दोनों का अभेदीकरण हो जाता है। शब्द, ध्वनि और विद्युत ऊर्जा तीनों एक हो जाते हैं, तब मन्त्र की शक्ति जागृत होती है और मन्त्र जब रूपस्थ ध्यान से रूपातीत हो जाता है तब साधक शरीर के बाह्य आवरंण से पर होकर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा और शरीर का भेद ज्ञान होने का प्राथमिक माध्यम मन्त्र है, मन्त्र शक्ति सूक्ष्म ध्वनि है। यदि इन सूक्ष्म ध्वनि से बिना शस्त्र ऑपरेशन हो सकते हैं, हीरे जैसा कठोर रत्न काटा जाता है, पारे और पानी का मिश्रण हो सकता है, इत्यादि अनेक कार्य ध्वनि से होते हैं तो मन्त्र शक्ति की ध्वनि से भेदज्ञान की प्राप्ति होना सहज है। मन्त्रों में नमस्कार महामन्त्र आगम में चौदह पूर्व का सार माना जाता है। इसी मन्त्र के प्रयोग से साधक अयोग साधना को सफल करने में समर्थ होता है।

आकृति नं. १८

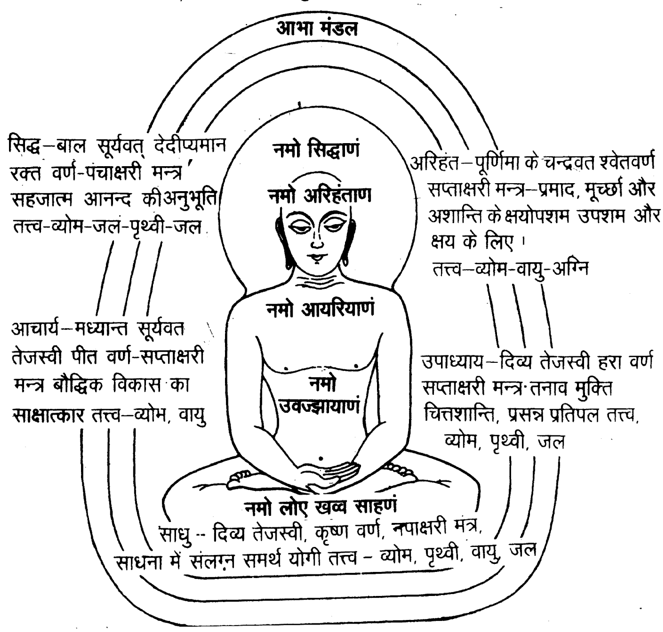

मंत्र जागृति

अर्हत—कर्ण से नमस्कार मन्त्र की ध्वनि सुनकर दिव्य श्रवण की जागृति।

सिद्ध—आँखों से नमस्कार मन्त्र का पान कर दिव्य दर्शन की जागृति।

आचार्य—नाम से पंचाचार की पवित्र सुगंध फैलाकर दिव्य सुगंध की जागृति।

उपाध्याय—जिह्वा से सत्य पीयूष रस पान कर दिव्य रस की जागृति।

साधु—स्पर्श से सम्पूर्ण जगत में शुभ परमाणु का दिव्य भाव-स्पर्श की जागृति।

कुण्डलिनी योग

जैनागमों में कुण्डली शब्द का प्रयोग तेजोलेश्या के नाम से प्रसिद्ध था। उत्तरवर्ती साहित्यों में इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न शब्दों में पाया जाता है। जैसे सिद्धमातृकाभिधर्म प्रकरण में इसे शक्ति, पराकुंडलिनी तथा भक्ति कहा है।

अध्यात्म मातृका में नागिणी, बहुरूपिणी, जोगिणी आदि शब्दों से भी प्रसिद्ध है। **गुणस्थान क्रमारोह में प्राणशक्ति**, कला आदि और योगप्रदीपिका ग्रंथ में कुटिलोगी, भुजंगी, ईश्वरी, अरुंधती तथा कलावती अर्थ में प्रयुक्त हुई है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में प्रवण, गुदनाला, नलिनी, सर्पिणी, बंकनाली, क्षया सौरी, कुंडला इत्यादि रूप में मिलती है किन्तु भलि शब्द का प्रयोग सभी साहित्य में मिलता है।

हमारे स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर सम्पूर्ण स्थान पर व्याप्त है। सूक्ष्म शरीर में विद्युत, प्रकाश और ताप तीनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। इसे तैजस शरीर कहते हैं। यह शरीर सूक्ष्म होने से अदृश्य होता है, ज्ञान, ध्यान, तप, संयम, वैराग्य आदि द्वारा इस शरीर का विकास होता है उसे तेजोलेश्या या तेजोलब्धि कहा जाता है। जो कार्य कुंडलिनी जागृत होने पर होता है वही कार्य तैजसशरीर, तेजोलेश्या या तेजोलब्धि का होता है। तपोजनित तैजस शरीर में अनुग्रह और निग्रह करने की शक्ति प्रकट होती है। इस शक्ति के प्रयोग को जैन दर्शन में तैजस समुद्घात कहते हैं।

जब मन्त्र का ध्यान किया जाता है, तब गात्र में कम्पन का अनुभव होना चाहिये। कंपन शक्ति के सक्रिय होने पर हुआ करता है, और उस कंपन में "दिव्यानन्द की लहरें" प्रवाहित होती हुई अनुभव में आती हैं जिससे सिर में "आत्मानन्द की मस्ती प्रदान करने वाला नशा-सा चढ़ जाता है। मन्त्र चैतन्य का अर्थ मन्त्र प्रयोग द्वारा शक्ति का जागरण कही समझना चाहिये। कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर शरीर की जड़ता, आलस्य, भारीपन इत्यादि दोष तत्क्षण दूर हो जाते हैं और वह परमात्मा के अनुग्रह का पात्र हो जाता है।

तेजोलेश्या (कुंडलिनी) को प्राप्त करने वाला साधक शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक तीनों प्रकार से सहज़ आनन्द की अनुभूति पाता है। अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि होने का प्रमाण जब साधक भावात्मक रूप से जिस (मैगनेटिक फील्ड) क्षेत्र का निर्माण करता है वही क्षेत्र जागृत हो जाता है। उस क्षेत्र को ही चक्रस्थान कहा जाता है। इस प्रकार कुण्डलिनी कहो, तैजस शरीर कहो या तैजस लब्धि कहो एक ही है, भिन्न नहीं उसी से वृत्तियाँ शान्त होती हैं और ज्ञान जागृत होता है।

कोष्ठक नं. २६

विभिन्न दर्शनों में कुण्डलिनी शक्ति विभिन्न नाम से प्रसिद्ध है–

क्रमांक	दर्शन का नाम	कुण्डलिनी के पारिभाषिक शब्द
१.	शाक्त दर्शन	शक्ति
२.	शैव दर्शन	चित्ति
३.	योग दर्शन	कुण्डलिनी
४.	सांख्य	प्रकृति परा प्रकृति
५.	पाराशर	ब्रह्म
६.	बौद्ध	बुद्धि, तारा
७.	जातिवादी	निरूपाधि महासत्ता
८.	द्रव्यवादी	उपाधिरहित केवल
९.	सूर्यपूजक	महाराज्ञी
१०.	चार्वाक	आज्ञा
११.	पाशुपत	शान्ता
१२.	ब्रह्म उपासक	श्रद्धा
१३.	वेदान्ती	गायत्री
१४.	वज्ञनन	मोहिनीं

कोष्ठक नं. २७

मले: कुंडलिनी: का प्रतीक जो जैन ग्रन्थों के प्रारम्भ में प्रतीत होता है वह निम्नानुसार है–

अनु-क्रम संख्या	ग्रंथ क्रमांक	ग्रंथ का नाम	केटलोग, प्रतीक प्रयोग पृष्ठ का आलेखन
१.	४४९	निशीथसूत्र चूर्णिविंशोदेशक व्याख्या	२३

२.	४३४	निशीथ सूत्र : निसीह सुतः	२
३.	५१९	कल्पसूत्र कल्पमञ्जरी सहित	१२७
४.	४३६	निशीथ सूत्र	४
५.	४४३	निशीथसूत्र विशेष चूर्णि : निसीह सुत्त विशेष चुण्णि	१६
६.	४७९	दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रः दसासुयव स्कन्धसुत्त	६१
७.	४८१	दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र	६३
८.	५०५	सन्देहविषौषधि : कल्पसूत्र पंजिका	९५
९.	४९८	कल्पसूत्र	८३
१०.	५१२	कल्पसूत्र कल्पकिरणावली सहित	१११
११.	४६२	व्यवहार सूत्र : ववहार सुत्तः	३८
१२.	५१६	कल्पसूत्र कल्पदीपिका सहित	११८

सहायक ग्रन्थों की सूची

अंतकृतदशांग सूत्र	आगम प्रकाशक समिति, ब्यावर ।
अध्यात्मोपनिषद	उपा. यशोविजय गणि प्रणीत प्रका. केशरबाई ज्ञान भण्डार वि. सं. १९४४
अध्यात्म मत परीक्षा	उपा. यशोविजयजी कृत श्री जैन आत्मानंद सभा. भावनगर ।
अध्यात्म सार	मुनि चंद्रशेखर विजयजी कृत कमल प्रकाशन अहमदाबाद-७
अनगार धर्मामृत	पं. सूबचन्द्र सोलापुर वि. सं. १९२७
अनुयोगद्वार सूत्र	ब्यावर प्रकाशन
अनुयोगद्वार सूत्र [हेमचन्द्रसूरि वृत्ति]	मणीलाल करमचंद ज्ञान मंदिर वि. सं. १९९५
अनुत्तरोपपातिक सूत्र	स्व. पू. घासीलालजी महाराज श्री व. स्था. जैन शास्त्रोद्धारक समिति राजकोट वि. सं. १९४८
अभिधान चिंतामणि कोष	हेमचन्द्राचार्य विरचित प्रका. जशवंतलाल गिरधरलाल शाह अहमदाबाद-१ वि. सं. २०१३
अभिधान राजेन्द्र कोष	विजयराजेन्द्रसूरि विरचित अभिधान राजेन्द्र प्रचारक सभा रतलाम । १९३४

अल्प परिचित सैद्धान्तिक शब्द-कोष	आचार्य श्री आनन्दसागरसूरि देवचन्द लालमानी पुस्तकोद्धारक वि. सं. २०१०
Dr. Albert Einsteinibid	
अष्ट पाहुड	आचार्य कुंदकुंदाचार्य विरचित दिगम्बर जैन ग्रंथमाला बम्बई-३ वि. सं. २४९७
आचारांग सूत्र	
आचारांग सूत्र	पं. भद्रबाहु कृत निर्युक्ति शीलाकाचार्य वृत्ति सहित साहित्य प्रचारक समिति बम्बई वि. सं. १९९१
आदि पुराण	सं. पंडित पन्नालाल जैन साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक काशी वि. सं. १९६३
आनन्दधन चौबीसी	
आवश्यक सूत्र निर्युक्ति-चूर्णि	हरिभद्रसूरि कृत वृत्ति भद्रबाहुस्वामी निर्युक्ति देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार सूरत सन् १९६५
आवश्यक सूत्र	मलयगिरी कृत वृत्ति भद्रबाहु स्वामी निर्युक्ति आगमोदय समिति सन् १९२८
उत्तराध्ययन निर्युक्ति चूर्णि	श्री भद्रबाहुस्वामी संकलित देवचंद लालभाई श्री जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई ।
उत्तराध्ययन सूत्र	अनु. आत्माराम जी महाराज लुधियाना प्रकाशन

उववाई सूत्र
अभयदेव कृत वृत्ति सहित
आगम संग्रह
कलकत्ता
सन् १९८०

औपपातिक सूत्र
अभयदेवसूरि विहित द्रोणाचार्य वृत्ति
निर्णयसागर प्रेस
बम्बई
वि. सं. १९७२

कर्मग्रंथ
देवेन्द्रसूरि विरचित
संपा. श्रीचन्द सुराना 'सरस'
मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
ब्यावर ई. सं. १९७४

कर्म प्रकृति
शिवशर्मसूरि कृत
अध्यात्म ज्ञान प्रसारक सभा
ई. सन्. १९२०

कल्प सुबोधिका सटिक
उपा.. विनयविजयजी महाराज
प्रकाशक मेधजी हीरजी जैन बुकसेलर

कार्तिकेयानुप्रेक्षा
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम
आगास वि. स. २०१६

काललोक प्रकाश
उपा. विनयविजयजी विरचित
जैन प्रचारक सभा
भावनगर
ई. सं. १९३४

गच्छाचार पयन्ना टीका

गोम्मटसार जीवकाण्ड
अनु. खूबचन्द्र शास्त्री
परमश्रुत प्रभावक मंडल
बम्बई-१९२७

चन्द्र प्रज्ञप्ति सूत्र
आगम प्रकाशन समिति
ब्यावर

चतुर्विंशति स्तुति
देवचंदजी कृत
प्रकाशक जिनदत्त सूरि सेवा संघ
बम्बई।

चारित्राचार	महावीरजी प्रसारक संस्था वि. २४८८
चेइअ-वंदण-महाभासं	
जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा	देवेन्द्रमुनि शास्त्री श्री तारक गुरु जैन ग्रंथालय उदयपुर (राजस्थान)
जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका	डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला वाराणसी
तत्वानुशासन	संपा. जुगलकिशोर मुख्तार. वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट ई. सं. १९६३
तत्त्वार्थराजवार्तिकम	भद्रअकलंकदेव विरचित भारतीय ज्ञानपीठ बनारस सन् १९४४
तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति प्रणीत विवेचक पंडित सुखलालजी सानुवाद प्रकाशक गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद सं. १९८६
तप अने योग	नगीनदास गिरधरलाल सेठ जैन सिद्धान्त सभा बम्बई-७ सन्. १९६४
दशवैकालिक सूत्र	सं. मुनि पुण्यविजयजी दलसुख मालवणिया भारतीय संस्कृत विद्या मंदिर अहमदाबाद-९
दशाश्रुत स्कंध	पू. आत्माराम जी महाराज लुधियाना प्रकाशन

द्रव्य संग्रह	देहली प्रचारक संस्था ई. १९५३
द्रव्य संग्रह सटिक	जैन हितैषी पुस्तकालय बम्बई ई. सन् १९१५
द्वात्रिंशत-द्वात्रिंशिका	संपादक—धुरंधरविजयजी, जंबुविजयजी एवं तत्त्वानंद विजयजी म. सा. जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई-५६ वि. सं. २०१९
धर्म संग्रह टीका	उपा. श्री विजय प्रणीत पंन्यास श्री आनन्दसागर वि. सं. १९७१
धवला पुस्तक	पुष्पदंत भूतबलि डॉ. हीरालाल जैन संपादित—अमरावती वि. सं. १९९६
ध्यान विचार	जैन साहित्य विकास मंडल विले पारले, बम्बई वि. सं. २०१७
ध्यान शतक	संपा. हरिभद्रसूरिकृत प्रकाशक—दिव्यदर्शन कार्यालय अहमदाबाद वि. सं. २०२८
नमस्कार स्वाध्याय	जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई वि. सं. २०१७
नंदी सूत्र	श्री देववाचक श्रमाश्रमण [मलयगिरि वृत्ति] आगमोदय समिति सूरत वि. सं. १९८०

नियमसार — आचार्य कुन्दकुन्द
सोनगढ़ (गुजरात)
वि. सं. २५०३

निशीथ चूर्णि — संपा. उपा. अमरमुनि, मुनि कन्हैयालाल
"कमलमुनि"
सन् १९५७-६०

पंचास्तिकाय — परमश्रुत प्रभावक मंडल
बम्बई
वि. १९७२

पंचास्तिकाय वृत्ति — परमश्रुत प्रभावक मंडल
बम्बई

पंच संग्रह (प्राकृत) — भारतीय ज्ञानपीठ काशी
बनारस ई. सन् १९६०

पंच संग्रह (संस्कृत) — श्रीचन्द्रमहत्तराचार्य विरचित
मलयगिरी वृत टीका सहित
जैन श्रेयस्कर मंडल
महेसाणा
सन् १९७१

पंच स्त्रोत संग्रह — संपा. पं. पन्नालाल शास्त्री
प्रकाशक—वीरेन्द्रकुमार देवचन्द्र जैन
सन्मति सागर कुटीर
बम्बई
वि. १९७२

पद्मनंदि पंचविंशतिका — जीवराज ग्रंथमाला
ई. १९३२

परमात्म प्रकाश — योगीन्दु देव विरचित
परमश्रुत प्रभावक मंडल
बम्बई

पंजीका टीका — दिव्यदर्शन साहित्य समिति
अहमदाबाद

पातंजल योगदर्शन — जेठालाल जीवनलाल गाँधी
अहमदाबाद- १

पातंजल योगदर्शन	उपा. यशोविजयजी कृत
पाईअ-सद्-महण्णवो	पं. हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ प्राकृत ग्रन्थ परिषद वाराणसी-५ ई. सन् १९६३
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय	अजितप्रसाद कृत अजिताश्रम, लखनऊ ई. सन् १९२३
प्रशमरति प्रकरण	उमास्वाति विरचित संपा.–पं. राजकुमार साहित्याचार्य परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई-ई. सं. १९५०
प्रवचन सार	कुंदकुंदाचार्य देव प्रणीत अनु. हिमतलाल जेठालाल शाह प्रकाशक-जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ ई. सं. १९४८
प्रतिक्रमण सूत्र	जैन् सिद्धान्त ग्रन्थमाला ई. सन् १९५२
प्राकृत व्याकरण संस्कृत	आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत संपा. रतनलाल संघवी वि. सं. २०२०
बृहद कल्पभाष्य	संधदासमणि वाचक जैन आत्मा सभा भावनगर सन् १९३४
बृहद नयचक्र	माणिकचन्द्र ग्रंथमाला ई. सं. १९७७
भक्तामर स्तोत्र	संपा. पं. पन्नालाल शास्त्री सागर प्रका. वीरेन्द्र कुमार देवेन्द्र कुमार जैन १३८, सन्मति कुटीर कांदावाडी–बम्बई-४

भगवती आराधना	सखाराम दोशी सोलापुर ई. १९३५
भगवती सूत्र	पू. आत्मारामजी महाराज लुधियाना प्रकाशन
भगवती सूत्र वृत्ति सहित	श्री अभयदेवसूरि विरचित केशरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम वि. सं. १९६
भण्डारकर लेख संग्रह	डॉ. आर. जी. भण्डारकर
भारतीय इतिहास एक दृष्टि	डॉ. ज्योति प्रसाद जैन भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन काशी वि. सं. १९६६
भोज वृत्ति	अजमेर-१९३१
महानिशीथ सूत्र	हस्तलिखित प्रति प्राच्य विद्या मन्दिर बड़ोदरा
महापुराण	आचार्य जिनसेन कृत भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९५१
योगदिपक	बुद्धिसागर कृत अध्यात्मज्ञान प्रसारक मंडल बम्बई वि. सं. १९६८
योगदृष्टि समुच्चय	हरिभद्रसूरि विरचित मनसुखभाई ताराचंद मेहता बम्बई-१ वि. सं. २००६
योगबिन्दु	हरिभद्रसूरीश्वर कृत बुद्धिसागर सूरि ज्ञान मंदिर बिजापुर

योगबिन्दु सटीक	हरिभद्रसूरि विरचित जैन प्रसारक सभा भावनगर वि. सं. १९६७
योगविंशिका	बुद्धिसागरसूरि ज्ञान मंदिर बिजापुर
योगशतक	संपा. इंदुकला हीराचन्द झवेरी गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद
योगशास्त्र	आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई ई. सं. १९५९
योगशास्त्र वृत्ति	हेमचन्द्राचार्य प्रकाशक जैन प्रसारक सभा वि. सं. १९८२
योगसार	ए. के. दोशी संपा. जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई
योगसार संग्रह	विज्ञान भिक्षु थिओसोफिकल पब्लिक हाउस ई. सं. १९३३
रत्नकरंड श्रावकाचार	समंतभद्र प्रका. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला बम्बई
राजवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ बनारस वि. सं. २००८
ललित विस्तरा	हरिभद्राचार्य प्रणीत जैन एसोसिएशन ऑफ इंडिया अहमदाबाद सं. १९९०

लोगस्स सूत्र स्वाध्याय	जैन साहित्य विकास मंडल बम्बई वि. सं. १९६५
वीतराग स्तव	हेमचन्द्राचार्य विरचित श्री राजचन्द्र विद्याभ्यास मंडल ई. सं. १९६५
विशेषावश्यक भाषांतर	हेमचन्द्राचार्य कृत आगमोदय समिति बम्बई सन् १९२७
श्लोक वार्त्तिक संस्कृत टीका	कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर १९४९-१९५६
स्थानांग सूत्र	पू. आत्मारामजी महाराज लुधियाना प्रकाशक वि. सं. २०३२
स्थानांग सूत्र टीका	अभयदेवसूरि विरचित
स्थानांग सूत्र वृत्ति	सुधर्म स्वामी आगमोदय समिति वि. सं. १९७६
समयसार	अहिंसा मंदिर प्रकाश देहली-१९५८
समयसार कलश	आचार्य अमृतचन्द्र सूरि विरचित प्रका.–दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
समवायांग सूत्र टीका	अभयदेवसूरि विरचित आगमोदय समिति वि. सं. १९७४
समाधि तन्त्र	पूज्यपाद स्वामी विरचित दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ वि. सं. २०२२

सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ बनारस ई. १९५५
सामायिक सूत्र	जैन सिद्धान्त सभा बम्बई-७
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति	गोरक्षनाथ पूना ओरिएन्टल बुक 'हाउस वि. सं. १९५४
सिद्ध हेमचन्द शब्दानुशासन	आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा अहमदाबाद वि. सं. २००७
सूत्रकृतांग सूत्र	शामजी वेलजी विराणी दीवानपरा, राजकोट
सूत्रकृतांग सूत्र टीका	शीलांकाचार्य विरचित
षट्खण्डागम	संपा. एच. एल. अमरावती
षोडशक प्रकरण टीका	हरिभद्रसूरिश्वर विरचित जैन उपाश्रय अहमदाबाद ई. सं. १९५२
हेमचन्द धातुमाला	गुणविजय जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा अहमदाबाद १९३०
ज्ञानार्णव	श्री शुभचन्द्राचार्य परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई